Kṛtibodha
Series 4

श्रीजोनराजकृता

किरातार्जुनीयटीका

Śrījonarājkṛtā

Kirātārjunīyaṭīkā

Edited by
Dharmendrakumar Bhatt

Consultant Editor
Vasanatakumar M. Bhatt

National Mission for Manuscripts

Kṛtibodha
Series 4

General Editor
Dipti S. Tripathi

Śrījonarājakṛtā

Kirātārjunīyaṭīkā

Śrījonarājakṛtā

Kirātārjunīyaṭīkā

Transcribed & Critically edited (3 Cantos) by
Dharmendrakumar Bhatt

Supervisor Editor
Vasantakumar M. Bhatt

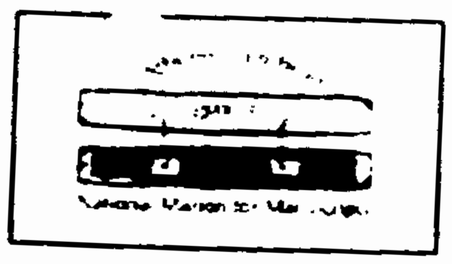

NATIONAL MISSION FOR MANUSCRIPTS
New Delhi
&
NAG PUBLISHERS
Delhi

Published by
National Mission for Manuscripts
No. 11, Mansingh Road,
New Delhi - 110001
Phone: (011) 2338, 3894; Fax: 2307 3340
E. mail : director.namami@mic.in

Co-Published by :
Nag Publishers,
11-A (U. A), Jawahar Nagar,
Delhi - 110007 (India)
Phone - (011) 2385 7975, 2385 5883
E. Mail - nagpublishers@rediffmail.com

ISBN - 93-80829-00-0 (series)

ISBN - 978-93-80829-19-7

First published in India 2013

© National Mission for Manuscripts, New Delhi

Price ₹ 250.00

All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted in any form or by any means, eletronic or mechanical, including photocopying, recording or any information storage or retrieval system, without prior written permission of both the copyright owner, indicatd above, and the phublisher.
Printed by : G. Offset Press, 308/2 Sahazadabagh, Dayabasti, New Delhi - 1100035

श्रीजोनराजकृता किरातार्जुनीयटीका

लिप्यन्तरण एवं विवेचनात्मक सम्पादन

धर्मेन्द्रकुमार भट्ट

मार्गदर्शन गुरु

वसन्तकुमार म. भट्ट

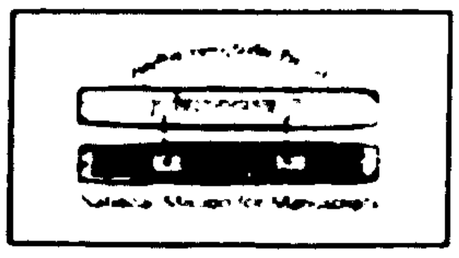

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन
नई दिल्ली
तथा
नाग पब्लिशर्स
दिल्ली

प्रकाशक
राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन,
11. मानसिंह रोड़,
नई दिल्ली –110001
(भारत)

सहायक प्रकाशक
नाग पब्लिशर्स
11–ए, यू. ए., जवाहर नगर,
दिल्ली – 110007
(भारत)

प्रथम संस्करण 2013

ISBN 93-80829-00-0 (सीरीज)
ISBN 978-93-80829-19-7

© राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, 11. मानसिंह रोड़, नई दिल्ली –110001 (भारत) द्वारा प्रकाशित तथा नाग पब्लिशर्स, 11–ए, यू. ए., जवाहर नगर, दिल्ली – 110007 के सहयोग से जी. प्रिन्ट प्रासेस, 308/2 शहजादाबाग, दयाबस्ती द्वारा मुद्रित।

आमुख

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन विभिन्न कार्यक्रमों और परियोजनाओं के माध्यम से भारत की पाण्डुलिपि सम्पदा को प्रकाश में लाने के लिये सतत् सक्रिय है। इस क्षेत्र में कार्य अनेक कारणों से बाधित होता है, जिसमें एक प्रमुख कारण विभिन्न लिपियों के ज्ञान का अभाव भी है। संस्थागत स्तर पर विश्वविद्यालयों एवं अन्य उच्च शिक्षा संस्थानों में पाण्डुलिपि शास्त्र में पाठ्यक्रम अथवा प्रशिक्षण का अभाव होने के कारण युवा पीढ़ी इस क्षेत्र से सर्वथा अनभिज्ञ रही है। प्राचीन पाण्डुलिपि तत्तत्काल की लिपियों में लिखी होती है। स्वाभाविक है, उन लिपियों का यदि ज्ञान न हो तो उन पाण्डुलिपियों को पढ़ा नहीं जा सकता। इतना ही नहीं अनेक पाण्डुलिपियों का अध्ययन कर किसी ग्रन्थ का सर्वथा निर्दुष्ठ पाठ प्रस्तुत करना प्रौढ़ि एवं प्रशिक्षण की अपेक्षा रखता है। भारतीय सन्दर्भ में, इस आवश्यकता के प्रति सजग होने के कारण, एवं अन्यत्र इस प्रकार के प्रशिक्षण के अवसरों का अभाव देखते हुए पाण्डुलिपि मिशन ने युवा अध्येताओं को प्रशिक्षित करने की योजना बनायी। इसमें कई प्रकार के कार्यक्रम शामिल किये गये। सर्वप्रथम प्रशिक्षण कार्यशालाओं के माध्यम से पाण्डुलिपि शास्त्र एवं पुरालिपि शास्त्र का प्रशिक्षण दिया जाता है। मूलाधार कार्यशाला के अर्न्तगत पाण्डुलिपि शास्त्र के सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के साथ विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित लिपियों का परिज्ञान, उस क्षेत्र के प्रशिक्षणार्थियों को, कराया जाता है। प्रगत कार्यशालाओं में प्रशिक्षणार्थियों को सम्पादन के सिद्धान्तों से परिचित कराने के साथ उन्हें आलोचनात्मक/विवेचनात्मक सम्पादन का व्यावहारिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है। इन कार्यशालाओं में जिन ग्रन्थों का सम्पादन हुआ है उनमें से कुछ ग्रन्थों को मिशन प्रकाशित भी कर चुका है।

उपर्युक्त कार्यक्रमों के अतिरिक्त मिशन ने गुरुकुल परियोजना के अन्तर्गत एक सुयोग्य आचार्य की निगरानी में कुछ युवा विद्वानों को कार्य करने का अवसर प्रदान किया और कतिपय ग्रन्थों को लिप्यन्तरण एवं विवेचनात्मक सम्पादन कराया। इसी योजना के अन्तर्गत गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद के भाषा संस्थान के निदेशक प्रो. वसन्त कुमार भट्ट के मार्गदर्शन में श्री धर्मेन्द्र कुमार भट्ट ने श्री जोनराज कृत किरातार्जुनीय टीका का लिप्यन्तरण एवं पाठ सम्पादन तैयार किया।

भट्ट के मार्गदर्शन में श्री धर्मेन्द्र कुमार भट्ट ने श्री जोनराज कृत किरातार्जुनीय टीका का लिप्यन्तरण एवं पाठ सम्पादन तैयार किया।

इस टीका की उपलब्ध सभी प्रतियाँ शारदा लिपि में हैं। अतः वृहत्तर पाठकवर्ग के लिए उसे सुगम बनाने की दृष्टि से उसका लिप्यन्तरण आवश्यक था। पाण्डुलिपि की अनेक प्रतियाँ होने के कारण पाठ निर्धारण के सिद्धान्तों के आधार पर मानक पाठ भी निश्चित किये जाने की आवश्यकता का अनुभव किया गया। श्री धर्मेन्द्र कुमार भट्ट इस श्रमसाध्य कार्य के लिए साधुवाद के भाजन हैं।

कृतिबोध IV के रूप में इस कार्य को प्रकाशित करते हुए हमें अत्यधिक हर्ष की अनुभूति हो रही है। किसी योजना को फलीभूत होते हुए देखकर जो सन्तोष होता है उसका आनन्द अनुभव की वस्तु है वर्णन की नहीं। मिशन की योजनाओं के अन्तर्गत युवा पीढ़ी के विद्वान इस प्रकार का सार्थक एवं उपयोगी कार्य कर रहे हैं, यह मिशन की परियोजनाओं की सफलता का प्रमाण है। अनुभवी आचार्यों के साथ व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त कर वह भविष्य में पाण्डुलिपियों के क्षेत्र में आगे भी काम करते रहेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

इस योजना में अपना समय देने के लिए मैं प्रो. वसन्त कुमार भट्ट की आभारी हूँ। नाग पब्लिशर्स ने इस ग्रन्थ का सुरुचिपूर्ण प्रकाशन किया है, उन्हें मैं मिशन की ओर से धन्यवाद देती हूँ। आशा है, भविष्य में भी कृतिबोध के माध्यम से युवा विद्वानों का पाण्डुलिपि के क्षेत्र में किया गया कार्य मिशन प्रकाशित करता रहेगा।

दिनांक : अक्षय तृतीया
13 मई 2013

दीप्ति एस. त्रिपाठी
निदेशक

मार्गदर्शक - 'गुरु' का प्रतिवेदन

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, नयी दिल्ली की "गुरुकुल" योजना के अन्तर्गत 2006 के वर्ष में श्रीधर्मेन्द्रकुमार भट्ट का प्राचीन पाण्डुलिपिओं के लिप्यन्तरण एवं पाठसम्पादन कार्य के लिए चयन हुआ। उसी समय श्रीलालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में स्थापित, मिशन के पाण्डुलिपि संसाधन केन्द्र में दो गुरुओं में से एक गुरु के रूप में मेरा डॉ. श्रीवसन्तकुमार भट्ट, गुजरात यूनिवर्सिटी का भी चयन हुआ था। मेरे मार्गनिर्देशन में श्रीधर्मेन्द्रकुमार भट्ट ने शारदालिपि में लिखित "श्रीजोनराजकृत किरातार्जुनीयटीका" की पाण्डुलिपियाँ एकत्र कीं और कुल मिला कर ऐसी आठ शारदालिपिबद्ध प्रतियाँ प्राप्त की।

तत्पश्चात् 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के 18 सर्गों पर श्रीजोनराज की जो टीका शारदालिपि में थी, उसका लिप्यन्तरण करके देवनागरीलिपि में रूपान्तरण किया गया। इनमें से प्रथम तीन सर्गों की टीका का पाठ शुद्ध करके एवं पाठान्तरों को पादटीप्पणी में उल्लिखित करते हुए-एक "समीक्षित पाठ" भी तैयार किया गया है।

मुझे यह प्रतिवेदन करते हुए हर्ष एवं सन्तोष है कि राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, नयी दिल्ली ने जो "गुरुकुल" योजना स्थापित करने का आशय सोचा था कि नयी पीढी के छात्र प्राचीन लिपियाँ पढें एवं लिप्यन्तरण करना सीखे - यह आशय यहाँ चरितार्थ हुआ है। श्रीधर्मेन्द्रकुमार भट्ट बहुत सफलता-पूर्वक प्राचीनकाल की शारदालिपि को लिख पढ सकता है, और देवनागरीकरण का कार्य भी अनायास कर सकता है।

इस लिप्यन्तरण के कार्य के साथ साथ, वह समीक्षित पाठसम्पादन का कार्य भी सीख रहा है; जिसके बारे में प्रथम तीन सर्गों का कार्य प्रमाण रूप में देखा जा सकता है।

मैं इस कार्य के लिए श्रीधर्मेन्द्रकुमार भट्ट को साधुवाद देता हूँ । यह कार्य उसका मौलिक है।

- वसन्तकुमार भट्ट

अनुक्रमणिका

		पृष्ठांक
	आमुख	ix-x
1.	टीकाकार जोनराज : जीवन, समय एवं कृतित्व	xv
2.	जोनराजकृत किरातार्जुनीयटीका के पाठसम्पादन की पूर्वपीठिका	xvi
3.	उपयुक्त पाण्डुलिपियों का परिचय एवं सङ्केताक्षर	xvii-xix
4.	पाण्डुलिपियों के प्रथम पत्रों के छायाचित्र	xx-xxx
5.	पाण्डुलिपियों का वंशवृक्ष - विचार	xxxi-xxxv
6.	प्रस्तुत पाठसम्पादन कार्य के सन्दर्भ में	xxxvi-xxxvii
	सर्ग-1 से 3 (समीक्षित पाठसम्पादन)	1-61
	सर्ग 4 से 18 (लिप्यन्तरण)	62-281
	परिशिष्ट-2 जोनराज द्वारा स्वीकृत किरातार्जुनीयश्लोकानुक्रमकोशः	282-301

1. टीकाकार जोनराज : जीवन, समय एवं कृतित्व

कविकुलभूषण श्रीमान् भारवि ने महाभारत के अन्तर्गत कैरातपर्वीय वस्तु का समालम्बन करके 'किरातार्जुनीयम्' नामक महाकाव्य की रचना की है। इस महाकाव्य को अधिकृत करके अनेक आचार्यों ने टीकाओं की रचना की है। इन आचार्यों में एक प्रसिद्ध नाम आचार्य जोनराज का भी है। आचार्य अपना परिचय तथा अपने समय के विषय में स्वयं ही स्पष्ट उल्लेख करते हैं। काश्मीर के इन पण्डितभद्र के पिता का नाम श्री नोनराज है। श्रीजोनराज का समय पन्द्रहसौ ईसवीसन है ऐसा माना गया है। प्रस्तुत टीका के आरम्भ में जो मङ्गलाचरण श्लोक दिये है वहाँ लिखा है कि - "श्रीजैनोल्लाभदेनस्य साम्राज्ये जोनको द्विज:। खर्षिविश्वमिते शाके यथामति यतिष्यते॥" इससे मालूम होता है कि श्रीजोनराज 1370 शक संवत में अर्थात् 1440 ई.स. के आसपास हुए थे। तथा इस श्लोक में जोनराज ने जिस "जैनोल्लाभदेन" नामक राजा का उल्लेख किया है वह, प्रो. श्रीत्रिलोकनाथ गञ्जु के मतानुसार "ज़ेन-उल-आब्दीन" नामक कश्मीर का तत्कालीन राजा था। श्रीजोनराज ने महाकवि मङ्ख के 'श्रीकण्ठचरितम्' महाकाव्य के ऊपर भी टीका लिखी है। और 'राजतरङ्गिणी' की रचना भी उनके नाम है।

श्रीजोनराज ने इस टीका में अलङ्कारादि चर्चा का परिहार किया है। कुत्रचित् पाणिनीय सूत्रों का निर्देश जरूर किया है परन्तु बृहच्चर्चा में नहीं उतरे हैं। उनका प्रधान उद्देश्य महाकाव्य के श्लोकों में अन्तर्हित भावों को प्रकट करना है। श्लोकस्थ शब्दों का पर्याय देना ही उनका अभीष्ट है। पण्डितराज ने महाकाव्य के प्राय: सभी श्लोकों के ऊपर टीका लिखी है कुछ स्थानों पर दो अथवा दो से अधिक श्लोकों का समूह बनाकर भी टीका लिखी है। ऐसे स्थानों पर उन्होंने 'कुलकम्, तिलकम्, चक्कलकम्' आदि शब्दप्रयोग किये हैं।

जोनराज की यह किरातार्जुनीयटीका कश्मीर में लिखी गयी है, अत: स्वाभाविक है कि उसकी पाण्डुलिपियाँ शारदालिपि में ही हो। (हमारे सर्वेक्षण में यह देखा गया कि आज किसी भी ग्रन्थभण्डार में इस टीका की देवनागरी में लिखित एक भी पाण्डुलिपि नहीं मिलती) और आज हमने जो आठ पाण्डुलिपियाँ प्राप्त की हैं वे सभी केवल शारदालिपि में ही लिखित हैं। परिणामत: महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य को कश्मीरी विद्वत्-परम्परा में कैसे देखा गया था वह अद्यावधि अज्ञात रहने पाया है। प्रस्तुत पाठसम्पादन में हमनें एक से अठारह सर्ग की साद्यन्त टीका का देवनागरी रूपान्तरण पहली बार प्रस्तुत किया है। जिसके आधार पर जोनराज की आँखों से किरातार्जुनीय महाकाव्य कैसा है वह देखने का अवसर प्राप्त होगा।

2 - जोनराजकृत किरातार्जुनीयटीका के पाठसम्पादन की पूर्वपीठिका

किरातार्जुनीयम् महाकाव्य संस्कृत महाकाव्यों की विशिष्ट परम्परा में अनूठा स्थान रखता है। बृहत्त्रयी के रूप में जिन तीन महाकाव्यों की गणना होती है उसमें भारविकृत किरातार्जुनीयम् का सबसे पहला स्थान है। महाकवि कालिदास के बाद जो अन्य महाकाव्य लिखे गये वे अपेक्षाकृत क्लिष्ट होने के कारण अनेक टीकाकारों ने इन महाकाव्यों को विशद करने के लिए विभिन्न व्याख्याएँ लिखी हैं। किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के ऊपर अनेक टीकाकारों ने टीका लिखी है। जैसे (1) प्रकाशवर्ष, (2) एकनाथ, (3) विनयसुन्दर, (4) धर्मविजय, (5) नरहर, (6) मल्लिनाथ इत्यादि। इन टीकाकारों की परम्परा में कश्मीर के टीकाकार भी पीछे नहीं रहे हैं। श्रीजोनराज ने किरातार्जुनीयम् पर पर्यायप्रधान एक टीका लिखी है और भाग्यवशात् यह टीका विभिन्न पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रही है। परन्तु साथ में यह भी कहना पड़ेगा कि जोनराज की यह टीका केवल शारदालिपि में लिखी गयी पाण्डुलिपियों में ही सञ्चरित होती रही है। सम्भवत: यही प्रथम कारण है कि यह टीका अद्यावधि देवनागरीलिपि में रूपान्तरित होकर पाण्डुलिपियों की परम्परा में प्रवहमान नहीं हुई है। (यदि किसी विद्वान ने शारदालिपि में उपनिबद्ध इस टीका को देवनागरी में रूपान्तरित किया भी हो तो आज देश के किसी भी ग्रन्थभण्डार में वह प्राप्त नहीं हो रही है।) इसी कारण से शारदालिपि में लिखी गयी जोनराज की इस टीका का "इदम्प्रथमतया" देवनागरीलिपि में लिप्यन्तरण करना परमावश्यक था।

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, नयी दिल्ली की 'गुरुकुलम्' योजना के अन्तर्गत एल.डी.इन्स्टीच्युट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद में स्थापित गुरुकुलम् केन्द्र में मुझे यह कार्य सौंपा गया। डॉ. वसन्तकुमार भट्ट के मार्गदर्शन में मैंने जोनराजकृत किरातार्जुनीयटीका का शारदालिपि से देवनागरीलिपि में लिप्यन्तरण एवं प्रथम तीन सर्गों का समीक्षित पाठसम्पादन तैयार करके यहाँ प्रस्तुत किया है।

3. प्रयुक्त पाण्डुलिपियों का परिचय एवं सङ्केताक्षर

जोनराजकृत किरातार्जुनीयटीका शक संवत 1370 (अर्थात् 1440 ई.स.) में लिखी गयी है। ऐसा टीका के मङ्गलश्लोकों से विदित होता है। "श्रीजैनोल्लाभदेनस्य साम्राज्ये जोनको द्विजः। खर्षिविश्वमिते शाके यथामति यतिष्यते॥" उपर्युक्त श्लोक में निर्दिष्ट 'जैनोल्लभदेन' नामक राजा के साम्राज्य में जोनराज ने यह टीका लिखी थी। और पूज्य प्रो. श्रीत्रिलोकनाथ गञ्जूजी (पूर्व प्राध्यापक, यूनिवर्सिटी ऑफ काश्मीर, 82, साथू पायीन, श्रीनगर, काश्मीर) के मतानुसार कश्मीर के इस राजा का स्थानिक भाषा में नाम "ज़ेन-उल-आब्दीन" था। जोनराज की यह टीका मूलतः तत्कालीन शारदालिपि में ही लिखी गयी होगी; और आज सारे भारतवर्ष के ग्रन्थभण्डारों से प्राप्त की गयी पाण्डुलिपियाँ भी केवल शारदालिपि में ही लिखी प्राप्त हो रही हैं। मेरे द्वारा किये गये सर्वेक्षण में जोनराजकृत इस टीका की एक भी पाण्डुलिपि देवनागरीलिपि या अन्य किसी लिपि में उपलब्ध नहीं होती है।

मैंने वडोदरा (गुजरात) के ओरिएण्टल इन्स्टीच्युट से, उज्जैन (मध्य प्रदेश) के सिन्धिया प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान से, पूना (महाराष्ट्र) के भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्युट (BORI) से एवं वाराणसी (उत्तर प्रदेश) के केन्द्रीय ग्रन्थभण्डार, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी से कुल मिलाकर आठ पाण्डुलिपियाँ प्राप्त की हैं। जिसका विवरण निम्नोक्त है : -

[1] VS = ओरिएण्टल इन्स्टीच्युट; एम.एस.युनिवर्सिटी वडोदरा।
MS (Ac. No.) 1835
पत्र सं. - 174, पङ्क्ति सं. - 22 to 24, अक्षर सं. - 18 to 24
लिपि - शारदा, फलक - कागज, समय - शक सं - 1779
इस शारदापाण्डुलिपि के पत्रक्रम 18 (A/B) तथा 158 (A/B) उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ सुवाच्य है।

[2] U = सिन्धिया प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान, उज्जैन।
MS (Ac. No.) 409,

पत्र सं. - 300, पङ्क्ति सं. - 19 to 24, अक्षर सं. - 20 to 24

लिपि - शारदा, फलक - कागज

यह शारदापाण्डुलिपि सम्पूर्ण है, परन्तु इस पाण्डुलिपि का लिपिकार प्रमादवश गलतियाँ करता दिखायी पड़ रहा है। ग्रन्थ सुवाच्य है।

[3] P_1 = भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्युट, पूना (BORI)

MS (Ac. No.) 119/1875-76

पत्र सं. - 143, पङ्क्ति सं. - 25 to 31, अक्षर सं. - 19 to 26

लिपि - शारदा, फलक - कागज, लिपिकार - दामोधर, समय - सं. - 50

इस ग्रन्थ के पत्र क्रमाङ्क 42, 60, 72, 90 प्राप्त नहीं है। ग्रन्थ का लेखन सुन्दर है।

[4] P_2 = भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्युट, पूना (BORI)

MS (Ac. No.) 120/1875-76

पत्र सं. - 173, पङ्क्ति सं. - 20 to 22, अक्षर सं. - 23 to 27

लिपि - शारदा, फलक - कागज,

यह शारदापाण्डुलिपि 16 सर्ग तक ही प्राप्त होती है। इस पाण्डुलिपि का लिपिकार अनेक स्थानों पर काकपाद का उपयोग करके पाठपूर्ति कर रहा है। ग्रन्थ सुवाच्य है।

[5] P_3 = भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्युट, पूना (BORI)

MS (Ac. No.) 121/1875-76

पत्र सं. - 250, पङ्क्ति सं. - 16 to 23 अक्षर सं. - 18 to 23

लिपि - शारदा, फलक - कागज, समय - संवत् 35

इस ग्रन्थ के पत्र क्रमाङ्क 164, 165, 230, 234, 235, 240 to 246, 248, 249 प्राप्त नहीं है।

[6] P_4 = भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्युट, पूना (BORI)

MS (Ac. No.) 122/1875-76

पत्र सं. - 170, पङ्क्ति सं. - 14 to 19, अक्षर सं. - 15 to 27

लिपि - शारदा, फलक - कागज,

इस पाण्डुलिपि में सर्ग 15, 16, 17 ही जोनराज की टीका वाले हैं, और वे भी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं है। इस ग्रन्थ में किरातार्जुनीय के श्लोक भी पूरे नहीं मिलते हैं।

[7] P_5 = भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्युट, पूना (BORI)

MS (Ac. No.) 71/1883-84

पत्र सं. - 193, पङ्क्ति सं. - 14 to 19, अक्षर सं. - 15 to 17

लिपि - शारदा, फलक - कागज

इस शारदा पाण्डुलिपि में लिपिकार महाकाव्य के श्लोक का केवल एक शब्द ही लिख रहा है, और उसके तुरन्त बाद टीका लिख रहा है। लेखन शैली में भी प्रमाद दिख रहा है।

[8] B = केन्द्रीय ग्रन्थभण्डार ; बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी

MS (Ac. No.) 875

पत्र सं. - 43, पङ्क्ति सं. - 25 to 28 अक्षर सं - 32 to 36

लिपि - शारदा, फलक - कागज

यह शारदापाण्डुलिपि 6 सर्ग तक ही लिखी गयी हो ऐसा प्रतीत होता है। अथवा अन्य भाग इस ग्रन्थभण्डार में नहीं है। इस ग्रन्थ का एक कोना क्षतिग्रस्त है, तथापि पढने में सुवाच्य है।

☛ ★ = अधिक पाठ को सूचित करता है।

☛ O = "पाठ्यांश नहीं है" यह सूचित करता है।

☛ पा. = पाणिनीय सूत्र

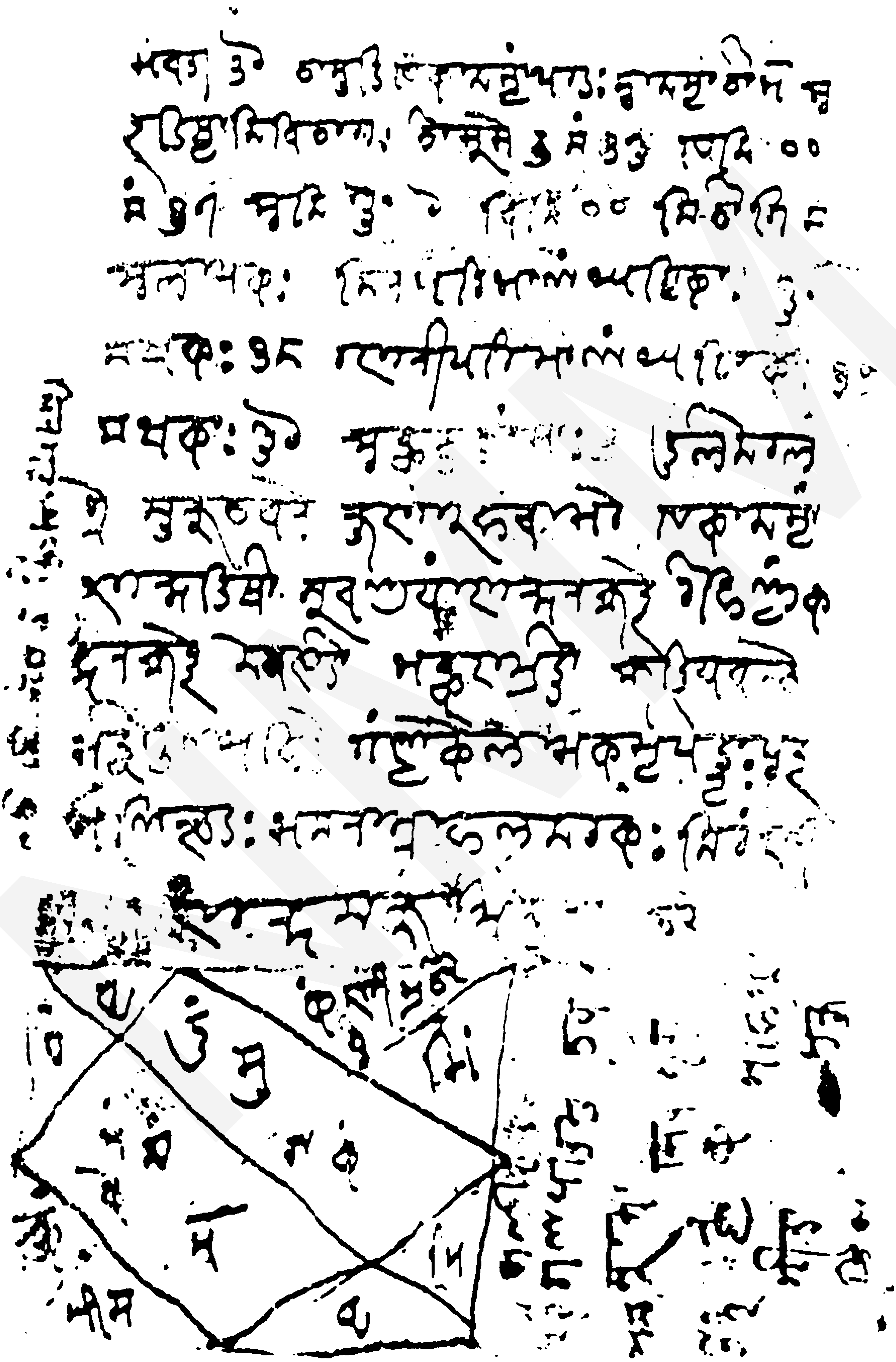

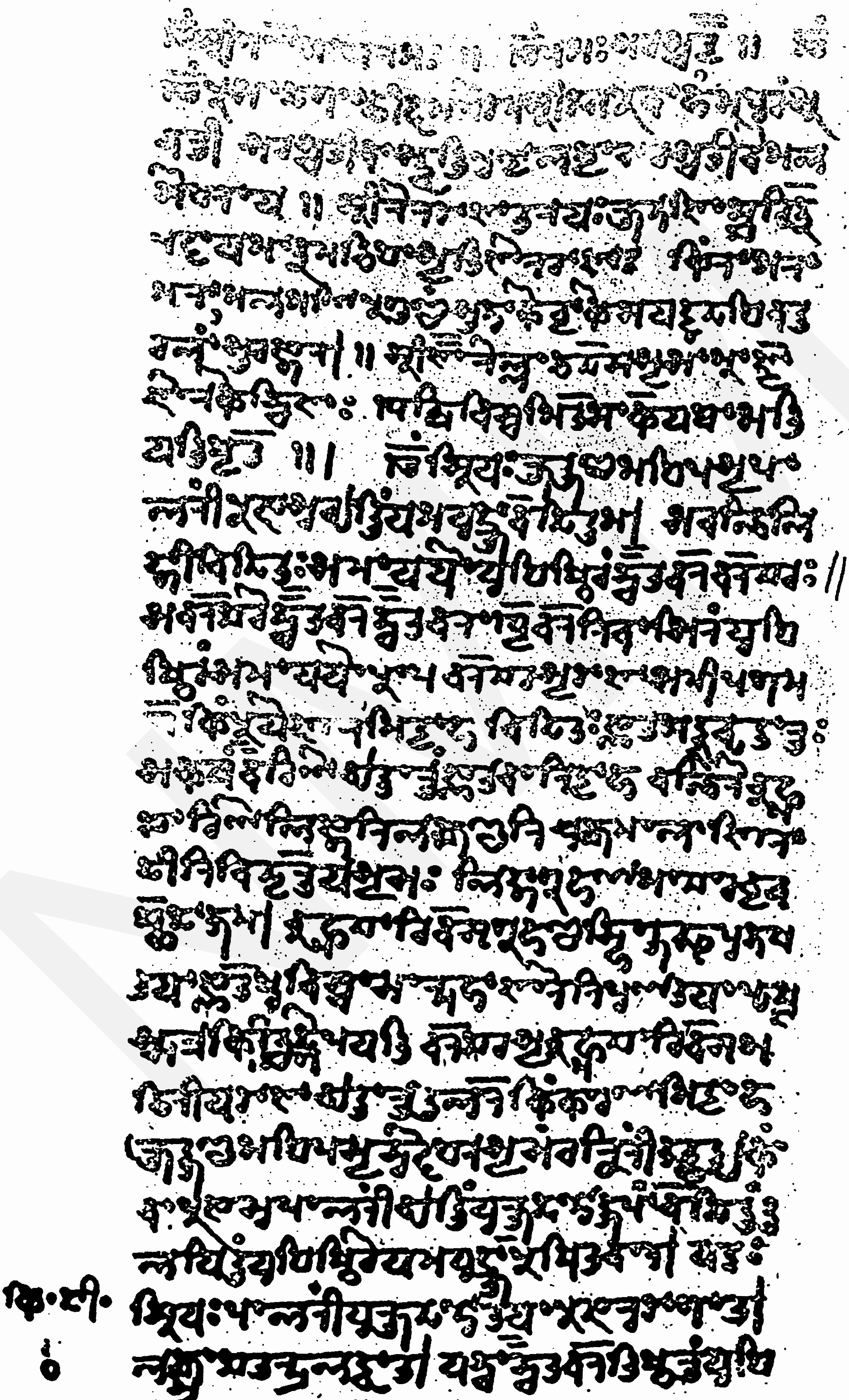

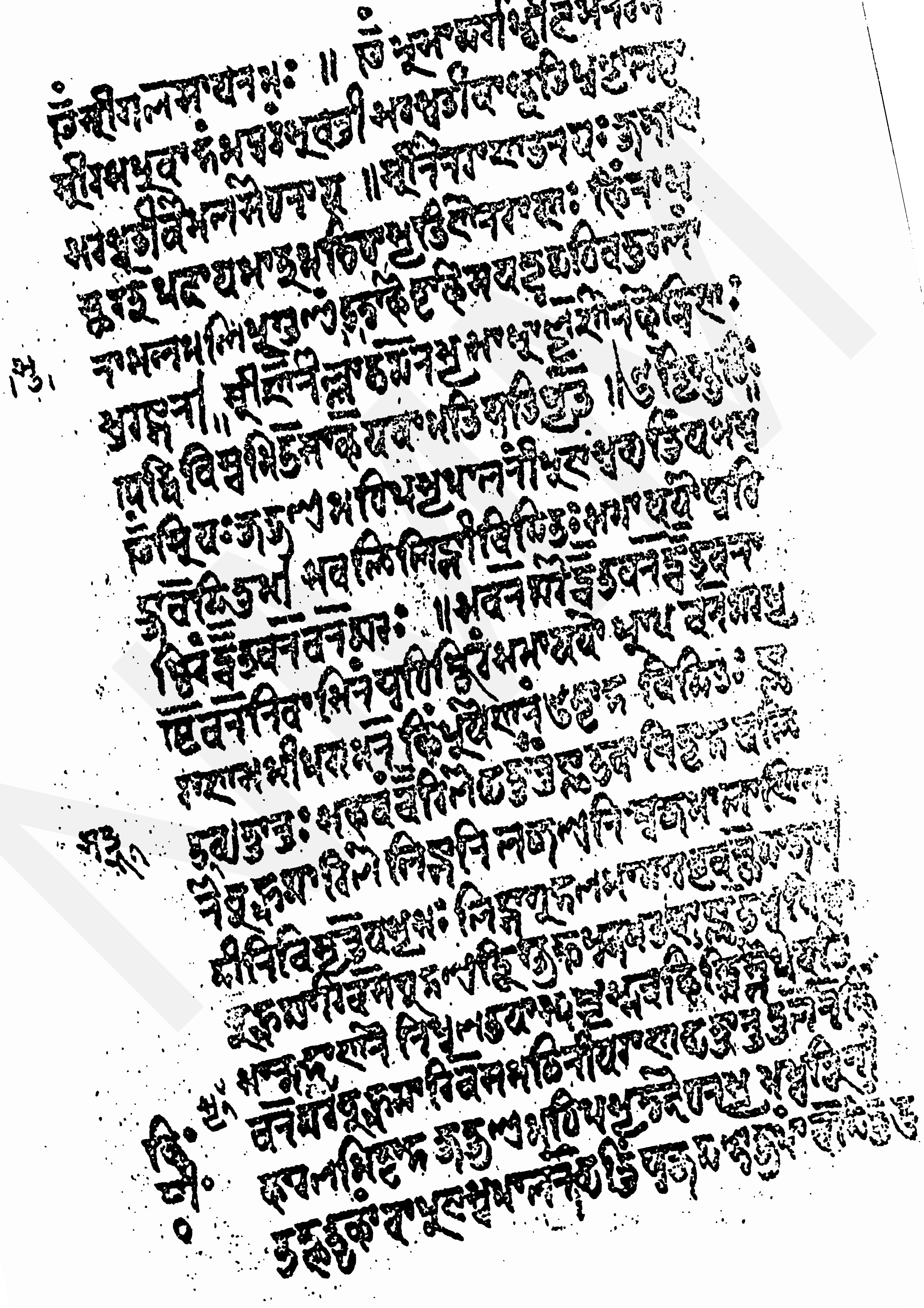

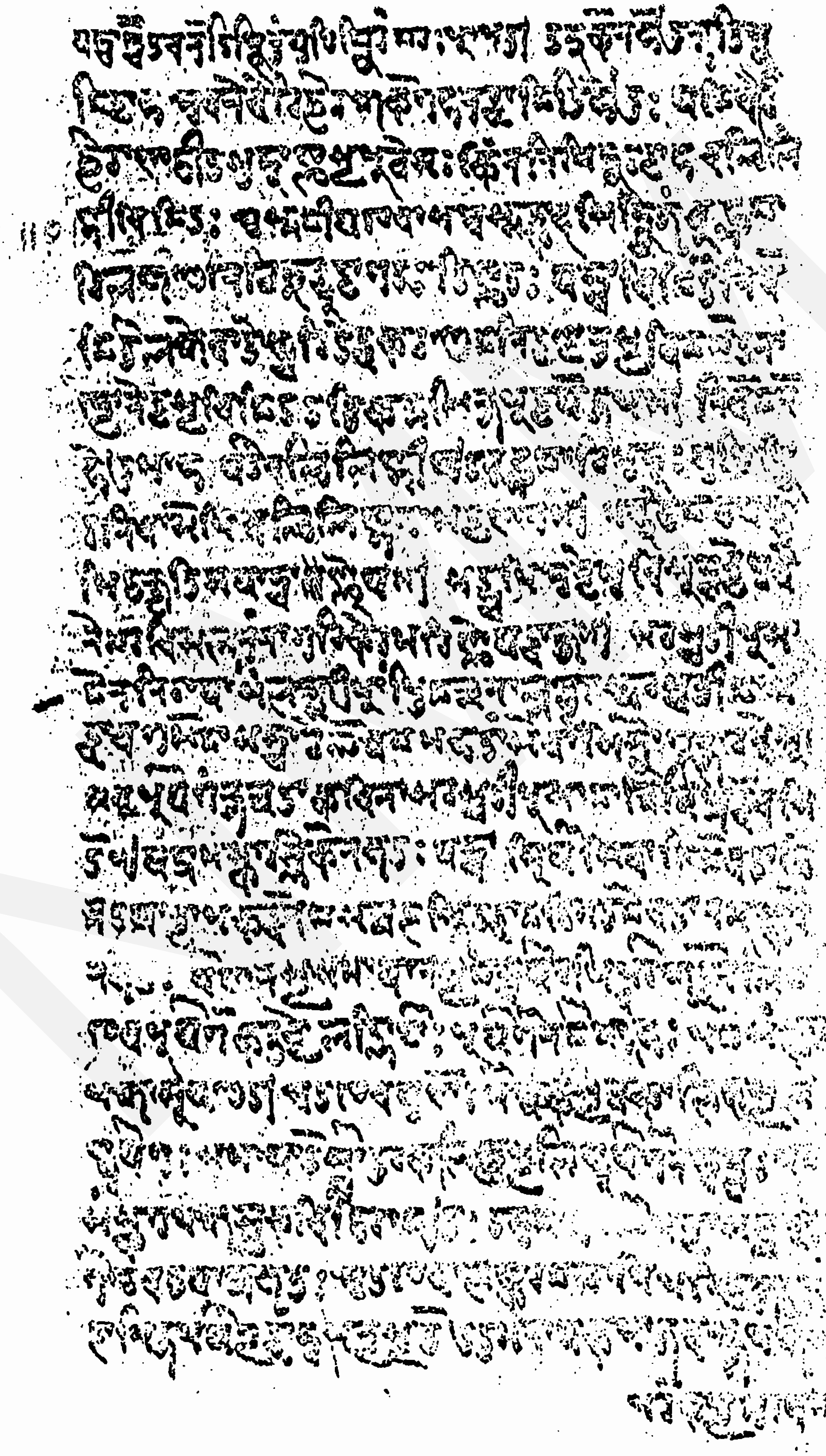

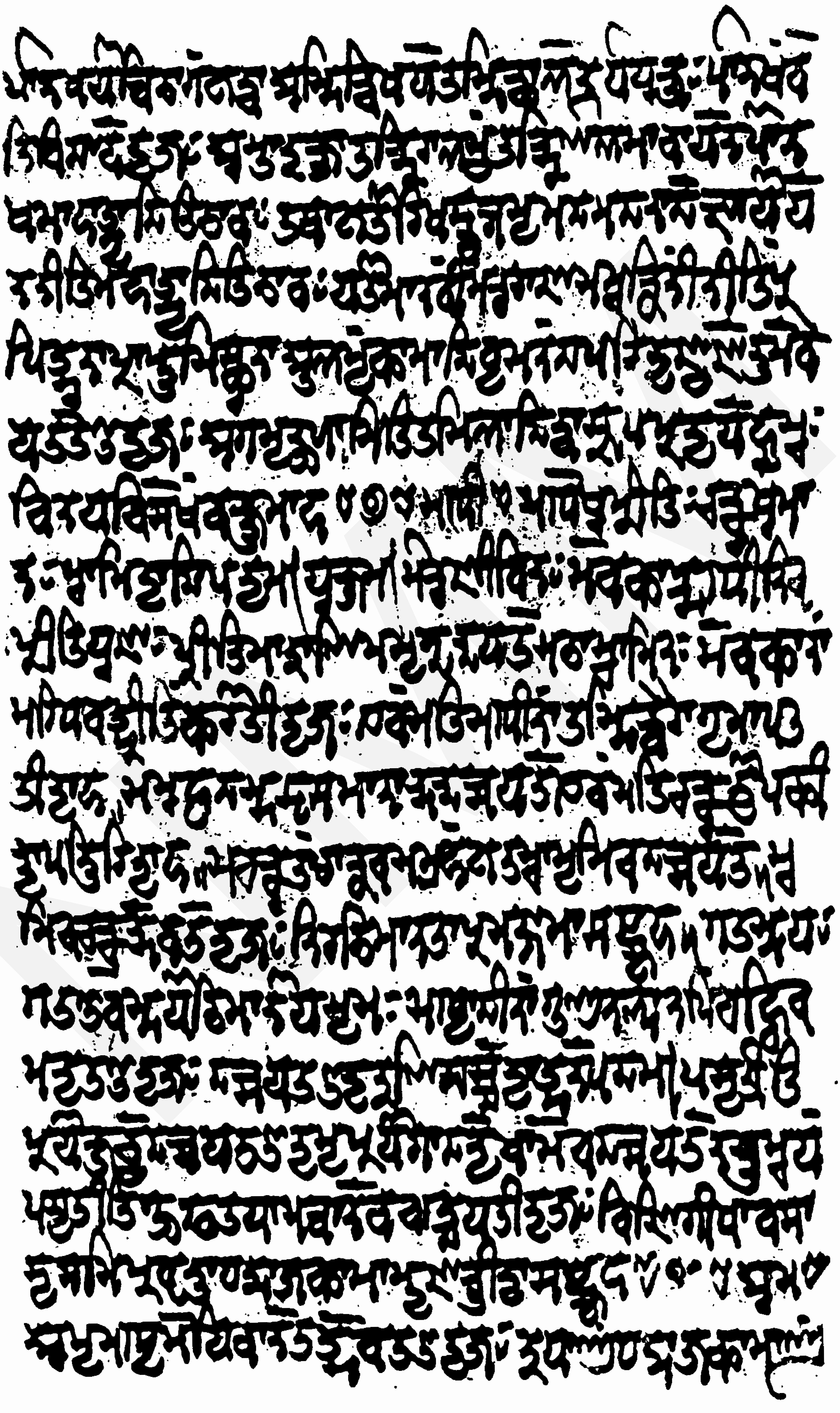

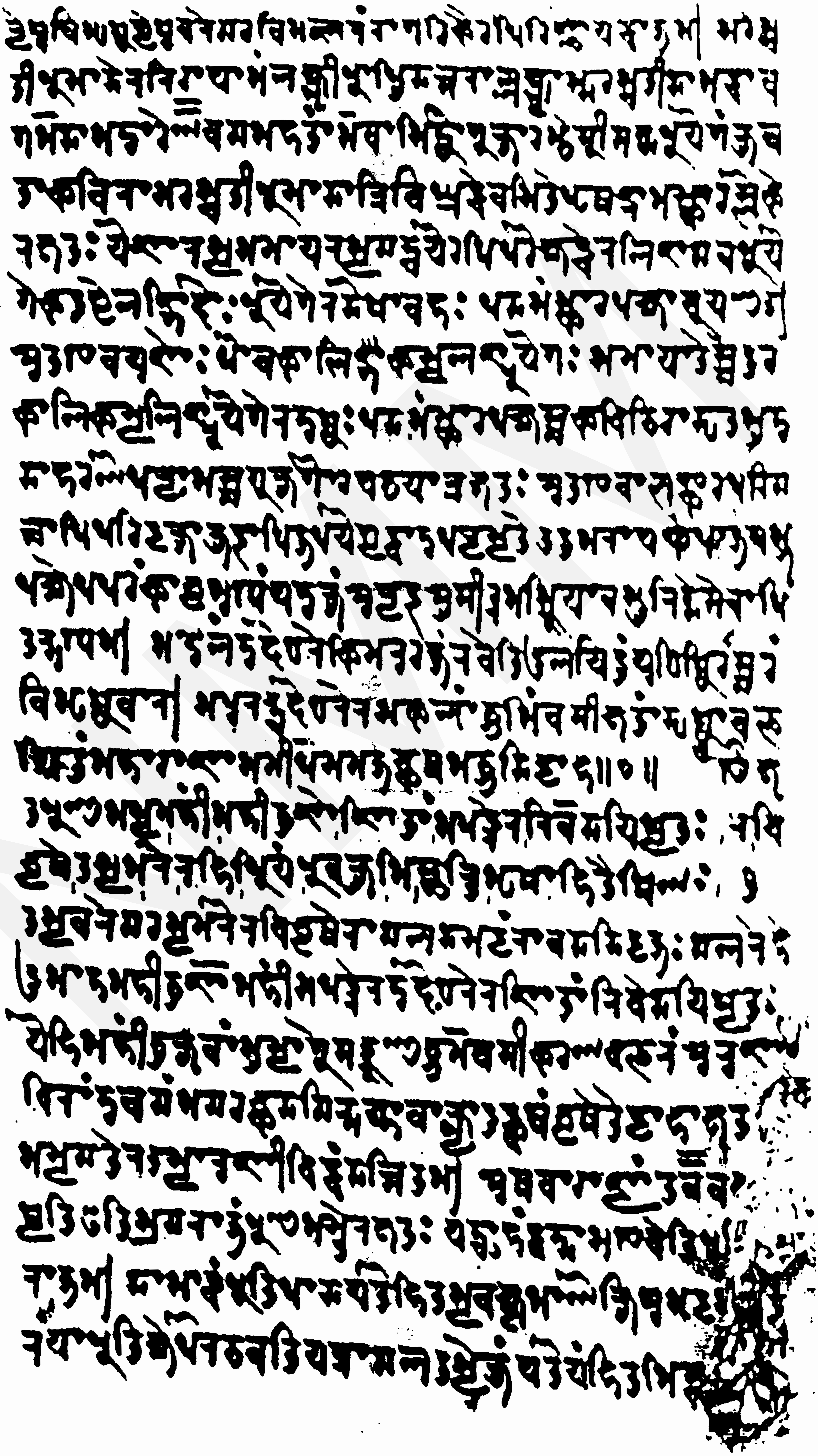

5. पाण्डुलिपियों का वंशवृक्ष - विचार

उपर्युक्त आठ पाण्डुलिपियाँ, जो कि केवल शारदालिपि में लिखी गयी हैं, वे सभी प्रतिलिपि की प्रतिलिपि की प्रतिलिपि की.....प्रतिलिपि स्वरूप दिखायी पड़ती हैं। इन पाण्डुलिपियों का लिप्यन्तरण सबसे पहले किया गया। तत्पश्चात् सन्तुलन-पत्रिकाएँ तैयार की गयीं। और इन सभी सन्तुलनपत्रिकाओं का बार बार अध्ययन करने से हमारे सामने उपलब्ध पाण्डुलिपियों का जो पारस्परिक आनुवंशिकसम्बन्ध ध्यान में आया, वह निम्नोक्त है : -

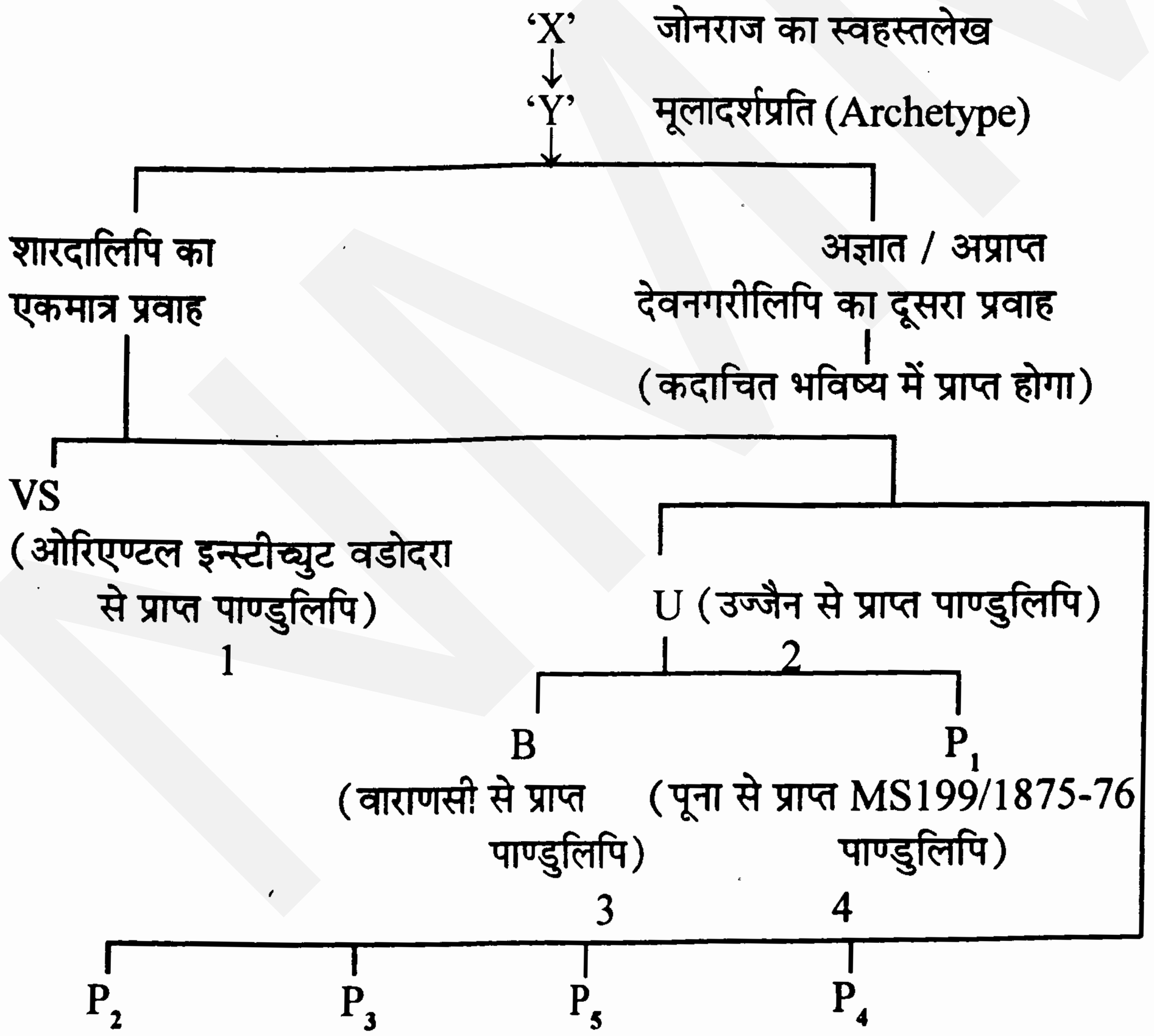

1-8 उपलब्ध शारदा में उपनिबद्ध पाण्डुलिपियाँ

उपरि निर्दिष्ट वंशवृक्ष में VS इस सङ्केत से निर्दिष्ट जो पाण्डुलिपि है वह ओरिएण्टल इन्स्टीच्युट वडोदरा से सर्वप्रथम प्राप्त की गयी है। यह शारदापाण्डुलिपि गुजरात तक कैसे आयी होगी यह एक आश्चर्य का विषय है, परन्तु जोनराज की टीका का यह प्राय: सम्पूर्ण पाठ सुरक्षित रखने वाली पाण्डुलिपि है। उसमें बहुत कम अशुद्धियाँ है। अत: उसको "उत्तम पाण्डुलिपि" के रूप में हमने स्वीकारा है। और इस पाण्डुलिपि के उपलब्ध पाठ के विरोध में अन्य पाण्डुलिपियों का विषम पाठ पादटीप में दिया है।

• • •

उपलब्ध आठ पाण्डुलिपियों के पाठ का तौलनिक अभ्यास करने से इन पाण्डुलिपियों का पारस्परिक जो आनुवंशिक सम्बन्ध उभर कर सामने आता है वह इस तरह का है : -

[1] VS सङ्केत वाली पाण्डुलिपि, जिसको हमने मुख्य आधार बनाया है, वह अन्य सात पाण्डुलिपियों से त्रुटितांश, अशुद्धपाठ्यांश, विषम या नवीनपाठ्याशं के सन्दर्भों में कुछ अलग पाठपरम्परा को सुरक्षित रखने वाली दिखायी पड़ती है। इस बात का समर्थन करने के लिए कतिपय निम्नोक्त उदाहरणों की ओर हम पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे : -

(क) सर्ग - 1

(1) पादटीप 23 के अनुसार - "प्रयोगो समायातेश्चोत्तरकालिकस्य लिट्" - यह अंश VS पाण्डुलिपि में लुप्तांश के रूप में मिलता है।

(2) पादटीप 27 के अनुसार - "विरक्तमनुरक्तम्" - यह अंश केवल VS पाण्डुलिपि में मिलता है और अन्य सभी पाण्डुलिपियों में "किमनुरक्तं न" - ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(3) पादटीप 43 के अनुसार - "कर्मप्रयुक्तम्" - यह अंश केवल VS पाण्डुलिपि में मिलता है और अन्य सभी पाण्डुलिपियों में "कर्मयुक्तम्" - ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(4) पादटीप 57 के अनुसार - "लक्षितमिति भाव:" यह अंश केवल VS पाण्डुलिपि में मिलता है और अन्य सभी पाण्डुलिपियों में "लक्षितमित्यर्थ:" - ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(5) पादटीप 42 के अनुसार "गर्विते" - यह पाठ केवल VS पाण्डुलिपि

में मिलता है। और अन्य सभी पाण्डुलिपियों में "गर्हिते" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(ख) सर्ग - 2

(1) पादटीप 3 के अनुसार "कर्तुम्" यह अंश केवल VS पाण्डुलिपि में ही लुप्तांश के रूप में मिलता है।

(2) पादटीप 12 के अनुसार "बहुगुणो" - यह अंश केवल VS पाण्डुलिपि में ही मिलता है और अन्य सभी पाण्डुलिपियों में "बहुर्गुणो" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(3) पादटीप 26 के अनुसार "पतान्ता" - यह अंश केवल VS पाण्डुलिपि में मिलता है। और अन्य पाण्डुलिपियों में "पतनान्ता:" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(4) पादटीप 104 के अनुसार "वचन" - यह अंश VS पाण्डुलिपि में लुप्तांश के रूप में है।

(5) पादटीप 122 के अनुसार "मम बलिन: क:" - यह अंश VS पाण्डुलिपि में लुप्तांश के रूप में है।

(ग) सर्ग - 3

(1) पादटीप 8 के अनुसार "विविक्तुम्" - यह अंश केवल VS पाण्डुलिपि में ही है। अन्य सभी पाण्डुलिपियों में "विविक्तां" - ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(2) पादटीप 39 के अनुसार "बिभीति" यह अंश केवल VS पाण्डुलिपि में ही है। अन्य सभी पाण्डुलिपियों में "बिभेति" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(3) पादटीप 65 के अनुसार "राशिभूतम्" - यह अंश केवल VS पाण्डुलिपि में ही मिलता है। अन्य सभी पाण्डुलिपियों में "राशिरूपं" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(4) पादटीप 86 के अनुसार "मत्" - यह अंश केवल VS पाण्डुलिपि में ही मिलता है। अन्य सभी पाण्डुलिपियों में "अस्मत्" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

[2] U सङ्केत वाली उज्जैन से प्राप्त की गयी शारदापाण्डुलिपि का जो पाठ है वह कदाचित् B सङ्केत वाली बनारस से प्राप्त की गयी पाण्डुलिपि के पाठ के साथ

साम्य रखता है, तो कदाचित् P_1 सङ्केत वाली पूना (BORI) से प्राप्त की गयी शारदापाण्डुलिपि के पाठ के साथ साम्य रखता है। अत: यह तीन पाण्डुलिपियों (U, B, P_1) का एक अलग सा यूथ हो ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रतीति का समर्थन करने के लिए निम्नोक्त उदाहरण द्रष्टव्य हैं :-

(क) सर्ग - 1

(1) पादटीप 5। के अनुसार "वा" - यह अंश केवल P_1 तथा B सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में अधिक है।

(2) पादटीप 93 के अनुसार "ढौकनिकानि" यह अंश केवल U तथा P_1 सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में ही है, अन्य सभी में "ढौकनानि" ऐसा पाठ्यांश मिलत: है।

(3) पादटीप 114 के अनुसार "प्रसङ्गे" यह अंश U तथा P_1 सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में लुप्तांश के रूप में है।

(ख) सर्ग - 2

(1) पादटीप 6 के अनुसार "आश्चर्यति" यह अंश केवल U, B तथा P_1 सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में मिलता है और अन्य सभी में "आश्चर्ययति" ऐसा पाठ मिलता है।

(2) पादटीप 90 के अनुसार "आगच्छत:" - यह अंश केवल U, B तथा P_1 सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में मिलता है और अन्य सभी पाण्डुलिपियों में "आगत:" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(3) पादटीप 150 के अनुसार "आज्ञाम्" यह अंश U, B तथा P_1 सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में है। अन्य पाण्डुलिपियों में "मतं" ऐसा अंश प्राप्त होता है।

(4) पादटीप 161 के अनुसार "विशाखा" यह अंश केवल U तथा B सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में ही मिलता है और अन्य सभी में "विशारव: ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(ग) सर्ग - 3

(1) पादटीप 5 के अनुसार "अपि" यह अंश केवल P_1 तथा B सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में अधिकांश के रूप में मिलता है।

(2) पादटीप 27 के अनुसार "कारण" - यह अंश B, U तथा P_1 सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में ही मिलता है। अन्य सभी में "कारणें" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(3) पादटीप 36 के अनुसार "ग्रासकृत्वाद्" - यह अंश U, B तथा P_1 सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में ही मिलता है अन्य सभी पाण्डुलिपियों में "ग्रासकत्वाद्" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(4) पादटीप 92 के अनुसार "वीरे" - यह अंश केवल U, B तथा P_1 सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में ही मिलता है अन्य पाण्डुलिपियों में "वीर्ये" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(5) पादटीप 103 के अनुसार "कश्चिद्यद्यपि" यह अंश केवल U, B तथा P_1 सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में ही मिलता है। अन्य पाण्डुलिपियों में "यद्यपि कश्चिद्" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

[3] P_2, P_3, P_5 सङ्केत वाली पूना से प्राप्त की गयी, अन्य तीनों शारदापाण्डुलिपियों के पाठ का तौलनिक अभ्यास करने से मालूम होता है कि इन तीनों पाण्डुलिपियों में पाठभेद का प्राय: साम्य है। अत: इन तीन पाण्डुलिपियों का एक अलग सा यूंथ बनता है। निम्नलिखित कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :-

(क) सर्ग - 1

(1) पादटीप 48 के अनुसार - "अहितं मधुरं न श्राव्या:। यतश्चार एव, न तु स्वनेत्रं चक्षुर्येषां ते। यद्वा क्रियासु विशिष्टेषु व्यापारेषु चारदृष्टय: स्वामिनो युक्तै: समाहितैश्चारै: प्रभवो न वञ्चनीया:" - यह अंश B, P_2, P_3, P_5 सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में लुप्तांश के रूप में देखने को मिलता है।

(2) पादटीप 107 के अनुसार "औन्नत्यम्" - यह अंश P_2, P_3, B सङ्केतवाली पाण्डुलिपियों में ही मिलता है। अन्य सभी में "औद्धत्यम्" ऐसा पाठ मिलता है।

(3) पादटीप 128 के अनुसार "कथिता" - यह अंश केवल P_2 तथा P_3 सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में ही है। अन्य सभी में "कथितम्" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

(4) पादटीप 136 के अनुसार "त्वमेव हारयेदित्यर्थ:" - यह अंश केवल P_2, P_3, तथा B सङ्केत वाली पाण्डुलिपियों में ही मिलता है। अन्य सभी में "त्वमेवापहारयेरित्यर्थ:" ऐसा पाठ्यांश मिलता है।

6. प्रस्तुत पाठसम्पादन कार्य के सन्दर्भ में

इस टीका के सम्पादन कार्य में केवल पाण्डुलिपियों का ही आधार लिया गया है। इसके लिए वडोदरा, पूना, उज्जयिनी और बनारस से उक्त विषय की पाण्डुलिपियों की फोटोकॉपी या डिजिटल कॉपी प्राप्त की थी। इस कार्य के लिए उपर्युक्त स्थानों से कुल मिलाकर आठ पाण्डुलिपियाँ एकत्रित की थीं। सभी पाण्डुलिपियाँ शारदालिपि में निबद्ध हैं। और अप्रकाशित भी हैं।

'किरातार्जुनीयम्' अठारह सर्गो में एकहजार से भी अधिक श्लोकों की रचना है। इस समग्र महाकाव्य के उपर लिखी जोनराज की टीका का आलोचनात्मक पाठसम्पादन करने का निर्णय किया गया था। इसमें दो आशय थे। एक तो अगस्त 2005 में राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन द्वारा आयोजित पाण्डुलिपि विज्ञान एवं पाठसम्पादन विज्ञान के विषय पर आधारित कार्यशाला में गुरुवर्य पूज्य डॉ. टी. एन. गञ्जु महोदय से प्राप्त शारदालिपि के ज्ञान को चरितार्थ करना था और दूसरा समीक्षात्मक पाठसम्पादन के क्षेत्र में प्रवृत्त होना था। इसी समय मिशन ने 'गुरुकुलम्' योजना के अन्तर्गत मेरा भी चयन किया और आलोचनात्मक पाठसम्पादन का कार्य मुझे सौंपा। मिशन ने विषय का चयन छात्रों और मिशन के द्वारा सूचित किये गये गुरुजनों को सौंपा और साथ में समयावधि भी निश्चित की जो कि पंद्रह मास की थी। वस्तुतः मेरे गुरुवर्य प्रो. वसन्तकुमार भट्ट ने मुझे इस योजना के यह विषय सूचित किया। अतः हमने इस शोध कार्य को मिशन की गुरुकुलम् योजना के अन्तर्गत शुरु किया। परन्तु यहाँ समस्या यह थी कि मिशन द्वारा दी गयी समयावधि में विभिन्न स्थानों से पाण्डुलिपियाँ एकत्रित करना, उनका शारदा से देवनागरी में लिप्यन्तरण तथा पाठ संतुलन इत्यादि कार्य सम्पन्न करना कठिन सा था। अतः नवम्बर 2006 में मिशन के नयी दिल्ली स्थित भवन में आयोजित मीटिंग में मिशन को यह सूचित किया गया था कि किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के प्रथम तीन सर्ग तक प्राप्त टीका का समीक्षात्मक पाठसम्पादन किया जा सकेगा। उस समय मिशन के उपनिदेशक महोदय डॉ. दिलीपकुमार राणाजी ने 18 सर्ग पर्यन्त पूरी टीका का पाठ शारदा से देवनागरी में लिप्यन्तरण करने का सुझाव दिया। अतः मेरे प्रस्तुत शोध कार्य में (1) प्रथम तीन सर्ग तक प्राप्त श्री जोनराज की टीका का

प्राप्त पाण्डुलिपियों के आधार पर आलोचनात्मक पाठसम्पादन तथा (2) समग्र कृति का देवनागरी में लिप्यन्तरण कार्य तैयार किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में किरातार्जुनीय के श्लोकों का जो पाठ लिया गया है वह श्री जोनराज के द्वारा लिया गया पाठ ही है। किरातार्जुनीय के श्लोकों का सम्पादन करते समय 'निर्णयसागर - मुद्रणालय, मुंबई' के द्वारा ख्रिस्तवर्ष 1954 (चतुर्दश संस्करण) में प्रकाशित श्री नारायण राम आचार्य 'काव्यतीर्थ' द्वारा सम्पादित किरातार्जुनीयम् को आधार के रूप में लिया गया है। परन्तु जहाँ श्लोक में पाठान्तर या श्लोकानुक्रम में उक्त प्रकाशन से जोनराज का भिन्नपाठ या भिन्नक्रम है वहाँ जोनराज के पाठ को ही प्रधान माना गया है और अन्य पाठों को पादटीप में बताया गया है। वस्तुत: जोनराज भी ऐसे पाठभेदों से अवगत थे। यह कहने का आधार उनकी टीका में ही मिलता है। उन्होंने अनेक स्थानों पर अपनी टीका में भिन्न पाठों का निर्देश किया है। उदाहरण के रूप में 'निहितमिति वा पाठ:' ..... (दे. 2.17 की टीका) प्रार्थयते इत्यनुगुण: पाठ:' (2.21); 'समादधे इति पाठ: समीचीन:' (16.21) इत्यादि।

टीका के सम्पादन में उपयोग में ली गयी। पाण्डुलिपियाँ विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं। परन्तु उनके अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि उनमें अधिक भिन्नता दिखायी नहीं देती। केवल वडोदरा से प्राप्त पाण्डुलिपि अन्य सभी से कुछ अधिक भिन्न है। सभी पाण्डुलिपियों में स्वरादि सन्धि में अथवा अनुनासिक - अनुस्वार के विषय में अत्यन्त भिन्नता देखी जाती है। उज्जयिनी से प्राप्त पाण्डुलिपि का लिपिकार अत्यन्त प्रमादी प्रतीत होता है तो वडोदरा से प्राप्त पाण्डुलिपि का लिपिकार अत्यन्त सावधान और सन्ध्यादि विषय में कम से कम गलतियाँ करता है। प्राय: सभी पाण्डुलिपियों का परस्पर सम्बन्ध भी अत्यन्त समीपवर्ती है। अत: पाठनिर्धारण के लिए प्राय: बहुसंख्यक पाठ का ग्रहण किया गया है और अन्य पाठों का पादटीप में निर्देश दिया गया है। समग्र महाकाव्य की टीका का सम्पादन वडोदरा से प्राप्त पाण्डुलिपि के लिप्यन्तरण के द्वारा किया गया है। जहाँ आवश्यकता थी वहाँ पूना से प्राप्त P_1 पाण्डुलिपि की सहायता ली गयी है। समग्र महाकाव्य के श्लोकों में जोनराज के द्वारा स्वीकृत पाठ से भिन्न पाठ, जो कि उपर्युक्त प्रकाशन में मिलता है और मल्लिनाथ द्वारा स्वीकृत है, उसे यथास्थान पादटीप में बताया गया है।

प्रस्तुत पाठसम्पादन केवल प्रथम तीन सर्गों का ही है और अवशिष्ट पन्द्रह सर्गों का काम करने की मैं उम्मीद रखता हूँ। सम्भव है कि पूरी टीका का अध्ययन करने के बाद ही जोनराज के अभीष्ट पाठ को सुरक्षित रखने वाली कौनसी पाण्डुलिपि है यह भविष्य में निश्चित किया जा सके।

धर्मेन्द्र कुमार भट्ट

॥श्रीः॥

॥ किरातार्जुनीयम्॥

श्री जोनराजकृतया टीकया समलङ्कृतम्॥

॥प्रथमः सर्गः॥

ॐ नमः श्रीकृष्णाय[1] ।

ॐ प्रसादगाम्भीर्यमनोरमश्रीरसप्रवाहं मधुरं स्रवन्ती ।
सरस्वतीवास्त्वतिपुण्यलभ्या सरस्वती [2]वो मलशोधनाय॥

श्रीनोनराजतनयः कुरुजिच्चरित्रे
पर्यायमात्रमभिधास्यति जोनराजः ।
किं नाम नामलमणिप्रगुणाँस्तडाको
व्याकोशयत्युदधिवत्तरलाँस्तरङ्गान्॥
श्रीजैनोल्लाभदेनस्य[3] साम्राज्ये जोनको द्विजः ।
खर्षिविश्वमिते शाके यथामति यतिष्यते॥

ॐ श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः॥1.01॥

स वनेचरो द्वैतवने द्वैतवनाख्ये वने निवासिनं[4] युधिष्ठिरं समाययौ प्राप। वनेचरस्य राजसमीपगमने किं प्रयोजनमित्याह-विदितो[5] ज्ञातशत्रुवृत्तान्तः। सः कथं वैरिणो[6] वृत्तान्तं

---

1. U ॐ श्रीगणेशाय नमः; P_1 ॐ नमः कुमारोमाभ्याम् P_3 ॐ स्वस्तिश्रीगणेशाय नमः, ॐ नमः सरस्वत्यै; P_5 ॐ स्वस्ति। ॐ गुरुपादुकाभ्यो नमः। ॐ नमस्सरस्वत्यै; B ॐ नमोगुरवे ॐ श्रीसरस्वतीरूपाय श्रीगणेशाय नमः॥ शुभम् श्रीरामाय।
2. P_3 नो
3. U दीनस्य; P_1 देशस्य; P_5 ॐ जैनोल्लदेनस्य;
4. U निवासिं
5. U, P_1, P_3 विदेतः
6. P_3 वैरिणम्

ज्ञातवानित्याह–वर्णिनो ब्रह्मचारिणो लिङ्गानि लक्षणनि[7] अक्षमाला[8]जिनादीनि विद्यन्ते स:[9]। लिङ्गग्रहणमाचारव्यवच्छेदार्थम्। ब्रह्मचारिवेशग्रहणाद्धि गूढपुरुषतयाऽज्ञातेषु विश्वासान् महाजनो निपुणतया पृष्ट: सन्न किञ्चिद्गोपयति। वनेचरस्य[10] ब्रह्मचारिवेशमभिनीय राजवृत्तान्ततुलने[11] किं कारणमित्याह कुरूणामधिपस्य दुर्योधनस्य सम्बन्धिनीं तत्कर्तृकां वा प्रजासु पालनीं वृत्तिं युक्तदण्डरूपां वेदितुं तुलयितुं युधिष्ठिरो यमऽयुङ्क्त प्रेषितवान्। यत: श्रिय: पालनीं युक्तदण्डतया प्रजानुरागात् लक्ष्म्याश्च तन्मूलत्वात्। यद्वा द्वैतवने तिष्ठन्तं युधिष्ठिरं चर: प्रापत्। तत्र केन हेतुनाऽतिष्ठदित्याह "अवने वैरिभ्यो[12]," रक्षके गहनत्वात्त" इति हेतु:। यदि वैरिभ्यो राजा भीतस्तद्राज्ञाऽस्य प्रवेश:[13] किं न निषिद्ध इत्याह वर्णिलिङ्गी। विदित: अस्मदीय एवासावस्मात्[14] कार्यसिद्ध्यर्थं ब्रह्मचारिलक्षणानि बिभ्रत् प्रत्यागत इति। ज्ञात: यद्वा विदितो निवेदित: लक्षेर्धातो: स्वरितेत्त्वकरणादनित्यण्यन्तस्य "विद" चेतनाख्याने इतस्य विदित इति कर्मणि क्त प्रत्यये रूपम्। निवेदने हेतुमाह। यतो वर्णिलिङ्गी धृतब्रह्मचारिमुद्र:। युधिष्ठिरनिवासेऽपि वर्णिलिङ्गानामत्यजनं, मन्त्रभेदभयात्स्वामिभक्त्यतिशयाद्वा ज्ञेयम्। सत्स्वप्यन्येषु विसृष्टव्येषुं[15] वनेचरविसर्जनं [16]नागरिकैरपरिज्ञेयत्वार्थम्। सरस्वतीप्रसादेन निरायासं लक्ष्मीप्राप्तिदर्शनाल्लक्ष्म्या: सरस्वतीदासत्वावगमे दासद्वारेणैव च[17] महतां सेवासिद्धौ ग्रन्थारम्भे श्रीशब्दप्रयोगं कुर्वता कविना सरस्वतीप्रसादान्निर्विघ्नत्वेऽवसिते पृथङ्नमस्कारश्लोको न कृत:। यद्वा[18] [19]श्रियो न शिवादिदेवताभिन्नतया व्यापकत्वेन च सर्वत्र स्थितत्वादभिमतदेवतानमस्कारो न कृत:। योजनस्य[20] [21]समायनस्य च द्वयोरपि

---

7. P_5 अक्षमालादि*
8. U अजिन°
9. P_5, B यस्य*
10. B वनेचरो
11. VS°; U, P_1 गुणवृत्तान्ततुलने
12. P_1 अन्येभ्यो
13. P_2 वेश:
14. VS अस्मदीयत्वात्; U अस्मदीयाथवाऽस्मत्; P_1 अस्मदीय एवास्मत्
15. VS, P_2, B विसृष्टव्येषु; P_3 विस्रष्टव्येषु
16. P_1, P_5 नागरिकैरपि ज्ञेयत्वार्थम्
17. U च°
18. B यद्वा.....न कृत:०
19. U श्रियं नो शिवादि; VS श्रीयोऽनघशिवादि; P_3 श्रियो शिवादि; P_5 श्रियोऽनघव्यशिवादि
20. U प्रयोजनस्य
21. VS च*; P_3 समायानस्य

परोक्षत्वेन लिट एव प्रयोगे कर्तव्ये, लट्लिटोः[21] प्रयोगो न दोषावहः। पदसंस्कारपक्षाश्रयणाद[22]त एव युजेः पौर्वकालिकस्य लट् [23]प्रयोगः समायातेश्चोत्तरकालिकस्य लिट् प्रयोगो न दुष्टः, पदसंस्कारपक्षश्च कविभिरादृतः। तदुदाहरणोप[24]न्यासश्च ग्रन्थगौरवभयान्न कृतः। अत [25]एवालङ्कारचर्चापि परित्यक्ता। कुत्रापि [26]रूपयोग्यत्वादुपन्यस्यते। उत्तमनायकपार्थवस्तूपक्षेपपरं काव्यमुखं, यदुक्तमन्यत्र "आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्" इति ॥01॥

सन्मण्डलं दुर्योधने [27]किमनुरक्तं न वेति तुलयितुं युधिष्ठिरश्चरं विसृष्टवान्। स पुनर्दुर्योधनेन सकलां भूमिं वशीकृतां दृष्ट्वा वर्णयितुं महाराजसमीपे समर्थः कथमभूदित्याह॥.

कृतप्रणामस्य महीं महीभूजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः॥1.2॥

तस्य वनेचरस्य मनो[28] न विव्यथे[29] नाचलदसत्यं नावददित्यर्थः। चलने हेतुमाह महीभुजे महीसपत्नेन दुर्योधनेन जितां निवेदयिष्यतः। यो हि महीं भुक्तवाँस्तस्याग्रे शत्रुणा भूमेर्वशीकरणवर्णनमनुजीविनां दुर्वचः[30] स चरः कदाचिन्महान्वा स्यात्तत्कथं व्यथेतेत्याह-कृतप्रणामस्य। एतेन तस्यानुजीवित्वं दर्शितम्। अथवा राज्यं तवैव भविष्यतीति सूचनार्थं [31]प्रणामस्तेन कृतः। [32]यद्वाहं त्वद्दास एवेति प्रतिपादनार्थं दासत्वं प्रतिपादयतो हितस्य वक्षमाणोक्तिषु सत्यसम्भावनया प्रतिक्षेपो न भवति। यन्नाचलत्तद्युक्तम्[33]। [34]यतो ये हितमिच्छन्ति ते मृषा कपटमसत्यं प्रियं वर्णयितुं नेच्छन्ति। यद्वा न निवेदयिष्यतो

---

21. VS लड्लिटोः
22. P_1, P_2, P_3..... णात् अत
23. VS प्रयोगः ..... लिट् ०
24. U न्यासो
25. U एव चालाङ्कार .... ; P_2 B एवालङ्कारपरिचर्चा; VS अपि०
26. तूपयोगित्वाद्
27. VS विरक्तमनुरक्तम्
28. VS मनः
29. U व्यविथ्ये
30. P_1, P_5 दुर्वचंनम्
31. P_5 प्रणामः कृतः तेन
32. P_1 यद्ध ..... नार्थम्०
33. U तदुक्तम्
34. U, P_1, P_3 यतः

गोपयतो मनो न विव्यथे, अपि तु विव्यथे। [35]यद्यप्यप्रियनिवेदने सति स्वामिभ्यो भीतिः सम्भाव्यते तदा यदेव प्रियं तदेव तेषां चरः किं न वर्णयन्तीत्याशङ्क्याह अहितैषिणो ये[36] न हितमिच्छन्ति ते [37]प्रियमसत्यं वक्तुमिच्छन्ति। सः पुनर्हितपरः प्रियमसत्यं कथं वदेत्। व्यथभयचलनयोरित्यस्य लिटि रूपम् ॥02 ॥

वंनवासित्वेन मूढत्वात्तस्य चितं निर्व्यथं नत्वन्यस्याद्धेतोरित्याह।

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः।
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमादधे ॥ 1.03 ॥

स चर इतीदृशीं वाचमा[38]दधे ऽभिधास्यमानतया मनसा[39] जग्राह आदधे[40]। आधानं ह्युत्पादनमिति पाठे अपूर्वोक्तियुक्तां वाचमभ्यधात्। सौष्ठवं शब्दचारुता, औदार्यमदीनता, [41]तयोस्ताभ्यां वा विशेषेण शालते शोभते ताम्। यद्वा सौष्ठवमौदार्यं विशेषा अश्लिष्टत्वादयस्तैः शालते ताम् तथाऽसन्दिग्धाभिधेयां। भूभृतः सकाशाद्रहस्यनुज्ञां[42] प्राप्य मन्त्रभेदभयादिति शेषः। यतो विधातुं विधानमिच्छतः। किमर्थं, द्विषां विद्याताय, शत्रूणां नाशार्थं। विधातुमिति समानकर्तृकेष्विति तुम्। इच्छतेः कर्मकाङ्क्षायां सकर्मकत्वे विधातुमित्यस्मात्कर्मणोऽन्यस्य कर्मणः प्रयोगाभावाद्विधातुमित्येतदेव [43]कर्मयुक्तम्। धातोर्वा कर्मण इत्यत्र सूत्रे चेच्छतेस्तुमन्तो धातुः कर्मत्वेन निर्दिष्टः क्त्वा णं तुमां स्वार्थिकत्वाद्विद्याताये‍ति तादर्थ्ये चतुर्थी न[44] वाच्या "यूपाय दारु" इति वत्। प्रकृतिविकारभाव एव चतुर्थी भवति। चतुर्थी तदर्थार्थबलीत्यत्र (पा. 2।1।36) सूत्रे बलिरक्षितशब्दाभ्यां चतुर्थ्यन्तस्य समासविधानात्। न हि कुबेरबलिः कुबेररक्षिता इत्यत्र प्रकृतिविकारभावः। ननु कुबेरवलिरित्यादौ सम्प्रदानचतुर्थ्यैव समस्यताम्[45]। तथा हि कुबेराय कल्प्यमानो बलिरित्यादौ बलिप्रभृतेः कर्मत्वप्रतीतौ। तेनैव कर्मणा

---

35. P_2 यद्य .... प्रियं०
36. P_1 ये० हितं नेच्छति;
37. P_3 पुनः*
38. VS आदेऽभिधास्य
39. P_1 मनसा०
40. VS आदधे०
41. VS तयोस्०
42. U, P_2, P_3, B आज्ञाम्
43. VS कर्मप्रयुक्तम्
44. P_1 न वाच्या .... एव चतुर्थी०
46. U, P_5 B समासतः; P_1 समासान्तः

कुबेरादेरभिप्रीयमाणत्वम्। मैवं सम्प्रदानसंज्ञाया अन्वर्थत्वात् कुबेरिक्षित इत्यादौ [46]त्यागाङ्गताया अभावात्। द्विषामिति कर्मणि षष्ठी। तदयमत्रार्थः शत्रून् हन्तुं यद्विधानं तदिच्छतो भूपतेराज्ञां लब्ध्वाभ्यधात् ॥03॥

राज्ञां विज्ञप्तिसमये भृत्यानागभयप्रार्थना युक्तेत्यभयप्रार्थनामाह॥

क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥1.04॥

नृपेत्यामन्त्रणं, साध्वसाधु वचः क्षमौचित्यसूचकं स्वामिभिः क्रियास्वरिवार्तान्वेषणेषु [47]प्रयुक्तैरनुजीविभिश्चारैः स्वामिनो न वञ्चनीयाः। [48]अहितं मधुरं न श्राव्याः। यतश्चार एव, न तु स्वनेत्रं चक्षुर्येषां ते। यद्वा क्रियासु विशिष्टेषु व्यापारेषु चारदृष्टयः स्वामिनो युक्तैः समाहितैश्चारैः प्रभवो न वञ्चनीयाः। एतेनाहं युक्तोऽस्मीति सूचितम्। अतो वञ्चनानर्हत्वान्मया वक्षमाणमसाधु साधु वा सोढुमर्हसि। यद्वाऽर्थयुक्तत्वात्त्वामर्हसीति योज्यम्। साध्वेव किं नोच्यते इत्याक्षेपमाशङ्क्याह हितं प्रियं च वचो दुर्लभम्। अतः साध्वसाधु वा वचः सोढुमर्हसीति योज्यम्। मयाऽप्रियमेव श्रुतमित्यर्थविश्रान्तिः ॥04॥

यद्यप्रियं त्वया श्रुतं तदा तावतच्छ्रावयित्वा मम च तच्छ्रुत्वा[49] किं फलमित्याह॥

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥1.05॥

यः स्वामिनं साधु न शास्ति, युक्तं न ब्रूते स किंसखा कुत्सितं मित्रम्। किमाक्षेपे इति समासान्ताभावः। स सखा किं [50]भवतीति [51]योज्यम्। हिताद्भृत्याद्यो न संशृणुते सः प्रभुः किं भवति, न किञ्चिदित्यर्थः। यः साधु शास्ति स एव भृत्यः[52]। यश्च हिताच्छृणोति स एव प्रभुरित्यर्थादापतितम्। न केवलं स्वामिभृत्ययोरन्योन्य[53] शुद्धयोर्यशो मात्रमेव भवति यावच्छ्रीश्च सन्निधत्ते इति दर्शयितुमाह - नित्यमनुकूलेषु राजसु सचिवेषु च सर्वसमृद्धयो रतिं सक्तिं[54] कुर्वते। सचिवैरपथान्निवर्त्तितेन राज्ञा लब्धविभवातिशयेन

---

46. VS त्यागां गतायाभावात्
47. P_1 साध्वसाधु वचः*
48. P_2, P_3, P_5, B अहितं .... न वञ्चनीयाः०
49. P_2 तच्छ्रुतौ
50. U भवतीति....न किञ्चिदित्यर्थः०
51. P_1, B वा*
52. P_1 भृतः
53. B विशुद्ध
54. P_5 शक्तिम्

सता सचिवेष्ववश्यं प्रसादौन्मुख्यश्रवणात्। उत्तरार्धपूर्वार्धयोर्हेतुमद्भावः। भक्तेनानुजीविना यथास्थितमेव स्वामी श्रावयितव्य इति तात्पर्यम्॥5॥

पूर्वश्लोकोक्त्या स्वस्मिन्बुद्धिदर्पं शङ्कमान आह॥

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः।
तवानुभावो[55] ऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम्॥1.06॥

भूपतीनां चरितं नीतिः क्व भवति, जन्तवः क्व भवन्ति। राजनीतेर्जन्तूनां महदन्तरम्। जनैर्नृपाणां नीतिर्न ज्ञायते इत्यर्थः। विशेषणाभ्यामन्तरमुपपादयति। निसर्गेण गोपनेन विना दुर्बोधम्। अबोधेन [56]बोधविपर्ययेण विक्लवाः स्वविषयेऽपि राजनीतिज्ञा नाभावे प्रसक्ते सत्याह मया यद्द्विषामपि नीतिमार्गभावो लक्षितोऽयं तवाऽनुभावो माहात्म्यं निगूढं गोपितं तत्त्वं रहस्यं यस्य तत्। त्वन्माहात्म्यान्न पुनर्बुद्धिबलाच्चरितं लक्षितमित्यर्थः[57]। तवानुभावोऽयमवेदि यन्मयेत्यत्र निर्देशप्रतिनिर्देशयोरेकत्वमापादयन्ति। सन्ति सर्वनामानि तल्लिङ्गभाञ्जि भवन्ति इत्यदोषः॥6॥

[58]दुर्योधनेन भूमिर्वशीकृतेत्यनेन सूचितं तत्राहं वनस्थः किं कर्तुं शक्त इत्यतो वार्ताश्रवणमात्रेऽपि राज्ञोऽ[59]नादरमाशङ्क्योत्साहमुत्पादयितुमाह॥

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥01.07॥

सुयोधनो नयेन सामादिना जगतीं भूमिं जेतुं चेष्टते। दुरोदरेऽपि च्छद्मना[60] छलेन जिताम्। छलजितस्य स्थैर्याभावाच्छलरहितया युक्त्या वशीकर्तुमारभते इत्यर्थः। यतो[61] भवतः सकाशात्पराभवं राज्यहरणादिकं शङ्कमानः स सिंहासनस्थो भवतो वनस्थादपि त्वदुद्योगप्रतीक्षैव राज्यप्राप्तिरिति तात्पर्यम्॥7॥

तमेव नयमाख्यातुमाह।

तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसंपदा यशः।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसंगमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः॥1.08॥

---

55. VS, अबोधि B अयशोवधि
56. P_1 अबोधविषयेण
57. VS लक्षितमिति भावः
58. P_5 सुयोधनेन
59. U नारद
60. P_1 च्छद्मना०
61. VS यतः

यद्यपि भवच्छङ्कया स नयचेष्टां प्रकाशयति तथापि जिह्मः कुटिलः, स्वभावस्य त्यक्तुमशक्यत्वात् स दुर्योधनोऽनुगुणानां सौजन्यौदार्यादीनां सम्पदाकरणभूतया [62]भवज्जिगीषया हेतुभूतया यशस्तनोति। युधिष्ठिरादधिको जनानुरागो यथा मयि भवति तथा कीर्तिमर्जयतीत्यर्थः। यद्वा तथापि पराभवशङ्कया ज्ञातस्वसामर्थ्याभावोऽपि जिह्मः। यद्वा तथा तेन प्रकारेण द्यूतच्छलादिना जिह्मोऽपि यशस्तनोति। जिह्मानां हि[63] यदऽन्तस्तन्न जिह्मायाम्। यतो भूतिं लक्ष्मीं समुन्नयन् छलहरणा[64]न्निन्दयाधः कृतामपि श्रियमुद्धर्तुकामः। यदि स्वभावजिह्मो नित्याश्रितान्दुर्जनान्कथं जिगीषामात्रात्परिहरतीत्याह महात्मभिः सह [65]विरोधो वरमुत्कृष्टः। कस्मादनार्याणां नीचानां सङ्गमात्। महद्भिः सह विरोधेने हि[66] यथा यशः स्फुरति, न तथा [67]नीचसङ्गमेनेत्यर्थः। यद्वा समुन्नयन्नित्युत्तरार्धे हेतुतया लक्षणतया वा योज्यम्॥8॥

केवलनयप्रयोगाख्यानेन दुर्योधनस्य कातर्यप्रतिपादनमाशङ्क्याह॥

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तं[68]दिनमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्॥1.09॥

नयः शास्त्रानुसारेण प्रवर्तनं नयेन सह तेन पौरुषं तन्यते[69]। किं कृत्वा, विभज्य नयपौरुषयोर्विभागं कृत्वा। अस्मिन्विषयेऽस्मिन्काले नयो युक्तः, पौरुषं वेति विचार्येत्यर्थः। [70]अस्ता त्यक्ता तन्द्रिरालस्यं तन्द्रिणोऽलसा वा येन पौरुषमाहात्म्यादिति भावः। तथा कृतोऽरिषड्वर्गस्य [71]सामदानादेर्जयो येन नीतिमाहात्म्यादिति भावः। [72]यतो मानवीं मनुराजसम्बन्धिनीं पदवीं नीतिं प्रपित्सुना प्राप्तुमिच्छुना आलस्यं कामादिव्यसनं च परित्यज्य जेतुमेव यतते इत्यर्थः। अगम्यरूपामिति तसिलादित्वाद्रूपप्रत्यये ह्रस्वः॥9॥

विनयविशेषं वक्तुमाह॥

---

62. P_1 भवज्जि .... भूतया०
64. VS निन्दया०
65. P_2 वरं विरोध उत्कृष्ट इत्यर्थः
66. VS हि०
67. P_1 नीचानम्
68. दिव
69. U वितन्यते
70. P_1P_2, B अतस्त्यक्ता
71. P_2, B मदमदनादेर्जयो; U मदमानादेर्जयो; P_1 मदमदादेर्जयो
72. P_2, B हर्षमानमदक्रोधलोभकामात् मदोद्यताः रिपवस्तानजित्वैव को महीं जेतुमीहते॥ आन्तरं योऽरिषड्वर्गं जित्वा शत्रूञ्जिगीषति मलोपघातिनस्तस्य म्लायन्ते शत्रुपक्षवाः*॥

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्॥1.10॥

सखिषु प्रीतिः, बन्धुषु मानः, स्वामिन्याधिपत्यं युक्तम्। सोऽनुजीविनः सेवकान् सखीनिव प्रीति युजः। प्रीतिपात्राणि सम्यग्दर्शयते। सभासु[73] सेवकानां सखिवत्प्रीतिं करोतीत्यर्थः। एवं सति सखीनां वैराग्यं तस्मिन्नापततीत्याह-स सुहृदो बन्धुभिः सदृशमानान्दर्शयते। एवं सति बन्धुभ्योऽपकीर्त्यापत्तिरित्याह स बन्धुतां बान्धवसमूहं कृतस्वाम्यमिव दर्शयते। स्वामिवद्बन्धून् सेवते इत्यर्थः। निरभिमानताप्रसङ्गमाशङ्क्याह गतस्मयः, गत इव स्मयोऽभिमानो यस्य सः। सख्यादीनां गुणानल्पानपि बहूनिव[74] मन्यते इत्यर्थः। दर्शयते इत्यत्र णिचश्चेत्यात्मनेपदम्। पश्यतीति प्रयोक्तव्ये दर्शयते इत्यस्य प्रयोगादन्येषामेव दर्शयते, न तु स्वयं पश्यतीति गूढतया सर्वानेव वञ्चयतीत्यर्थः॥10॥

त्वज्जिगीषावशाद्यशसि प्रवृत्तो[75] धर्मार्थकामौ[76]स्त्यजतीत्याशङ्क्याह॥

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्न बाधतेऽस्य त्रिगुणः परस्परम्॥1.11॥

अस्य सख्यमीयिवानेतं सेवत इत्यर्थः। त्रयाणां धर्मार्थकामानां गणो वर्गः परस्परमन्योन्यं न बाधते। [77]धर्मादीनां सख्यादेकोऽन्यं न बाधते इत्यर्थः। अबाधने हेतुमाह-यथायथं [78]यो यस्य स्वदेशः कालो वर्गो वा तं विभज्य त्रिगुणमसक्तं निःसङ्गमाराधयतः। कया हेतुभूतया समपक्षपातया भक्त्या समः पक्षपातो यया धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या इति विधिवाक्यदर्शनाद्धर्मादयः [79]सममनुष्ठेया भवन्ति। अत्र हेत्वन्तरमुत्प्रेक्ष्यते गुणानुरागादिव धर्मादिसम्बन्धिषु गुणेष्वनुरागादिव धर्मादीन्सेवते इत्यर्थः। यद्वा इव शब्दः सख्यमीयिवानित्यनेन योज्यः। समपक्षपातया भक्त्याराधनं धर्मादित्रिगुणस्य परस्परमबाधने हेतुः। गुणेनोपकारेणानुरागादिव सख्यमीयिवानिति योज्यम्। यदि वयमेवंविधगुणविशिष्टेऽप्याश्रये वैरमेवान्योऽन्यं कुर्मस्तदा लोकोऽस्मान्निन्दतीति विचार्यैव कृतसख्यः सँस्त्रिगणोऽन्योऽन्यं न बाधते इत्यर्थः॥11॥

---

73. U सभास्वपि; P_2 सभास्वामिनः:; P_3, B सभास्वामि
74. P_2, B बह्विव
75. VS प्रवृत्तो
76. VS त्यजति
77. U धर्मार्थकामानां
78. U यथास्वं०
79. P1 सममेवानुष्ठेया

सामदानसत्क्रियाणां प्रयोगस्य शास्त्रनिर्दिष्टस्थानान्तरसंभवेऽपि गुणवत्स्वेव सामादिप्रयोगात्तस्य गुणेषु पक्षपातं सूचयितुमाह॥

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरिदानं विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्तते तस्य विशेषवर्तिनी[80] गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया॥1.12॥

तस्य सामसन्धिर्दानवर्जितं न प्रवर्तते। दानसहितमेवेत्यर्थः। निरत्ययं स्थिरम्। तथा तस्य दानं कर्तृसत्क्रियां सत्कारं [81]त्यक्त्वा न प्रवर्तते। संमानसहितमेवेत्यर्थः। लुब्धः करोति सम्मानमधिकं दानवर्जितमित्याशङ्क्याह - भूरि बहुलं। तथा सत्क्रिया सम्मानं गुणानुरोधेनं विना न प्रवर्तते। विशेषवर्तिनी विशिष्टा सत्क्रियामात्रं गुणैरपि विना न करोतीत्यर्थः॥12॥

गुणानुरागमेव स्वमण्डलद्वारेणोपोद्बलयति॥॥

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्॥1 13॥

स दुर्योधनो धर्मविप्लवमपथगमनं निहन्ति निवारयति। केन, गुरुः स्मृतिज्ञः पुरोहितस्तदुपदिष्टेन दण्डेन। कस्मिन्, [82]शत्रौ सुते मित्रेऽपि वा। कीदृशो निवृत्तं कारणं गुरुवचनाग्रहणे हेतुरज्ञानाख्यो यस्यैवंविधोऽपि गुरुवाक्येनैव दण्डं दण्ड्ये क्षिपति। स्वयं विदग्धोऽपि गुरुवचनमेवानुतिष्ठतीत्यर्थः। यतो वसूनि धनानि वाञ्छन्। यतो वशी जितेन्द्रियः लुब्धो हि गुरुवंचनमुल्लंघयतीति तथा न मन्युना। अन्ये राजानो ह्यज्ञोल्लङ्घनादिना रोषाच्छास्त्रमुल्लङ्घ्य दण्डं पातयन्ति। अयं तु न तथेत्यर्थः। अयं यद्यमन्युरलुब्धश्च तर्हि तस्य दण्डेनेत्याह धर्मरक्षणार्थं, दण्डपातनं क्षत्रियाणां स्वधर्म इत्यतो हेतो:[83]। यद्वा निवृत्तं शास्त्रोक्तदण्डत्यागे हेतुर्लोभरोषाख्यो यस्य सः। यतो धनानि न वाञ्छन्। न च रोषेण। यद्वा लोभाभावे रोषाभावे च कारणं वैरागाख्यं निवृत्तमस्येति योज्यम् ॥13॥

मन्त्रगुप्तिरेव राज्यरक्षाकारिणी प्रसिद्धा। सा चं तस्यास्तीत्याह॥॥

।धाय रक्षान्परितः परेतरानशङ्कितोकारमुपैति शङ्कितः।
क्रियापवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः॥01.14॥

---

80. विशेषशालिनी
81. P_1 त्यक्त्वा .... तथा सत्क्रिया०
82. U शत्रौ मित्रे वा
83. U हेतुः

शत्रूणामुदये शङ्कितः स दुर्योधनः अशङ्कितस्याकारं हसन्मुखत्वमुपैति नाटयति। चित्ते तु तस्य शङ्कैवेत्यर्थः। परानितरयन्ति भेदप्रयोगेण स्वतामापादयन्ति ये[84] तान्परेतरान्रक्षकान्विधाय परेभ्य इतरे इति वा [85]विग्रहः। यद्वा परे चेतरे चेति विग्रहः। परे प्रथमं ये शत्रुसेवकास्ततो[86] बुद्धिबलेन स्वीकृतास्ते हि पूर्वस्वामिनो भावज्ञाः। इतरे स्वसेवकास्तान्रक्षान्विधायेति व्याख्येयम्। रक्षार्थं सह प्रयुक्ताः हि[87] प्रथमं[88] शत्रुसेवकाः स्वसेवकाश्च साध्यं सम्यक् साधयन्ति। यद्वा शत्रुदुर्गादे रक्षान्रक्षकान्परेतरान्भेदोपायेन स्वकान्कृत्वा। नन्वेवं सत्ययं य लुब्धः स्यात् दातुमशक्तो हि सेवककृतेषु कर्मस्वनादरं करोत्यत आहा यदर्थं परेऽपि स्वीकृतास्तासां क्रियाणामपवर्गेषु निष्पत्तिषु सत्स्वनुजीविसात्कृता भृत्याधीनाः कृताः सम्पदोऽस्य कृतज्ञतां वदन्ति। कार्येषु सम्पादितेषु सत्सु प्रमादं करोतीत्यर्थः॥14॥

अनारतं तेन पदेषु [89]लम्बिता विभज्य सम्यग्विनियोगस[90]त्क्रियाम्।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य सङ्घर्षमिवार्थसम्पदः॥1.15॥

उपायाः सामादयोऽर्थसम्पदः फलन्ति। सामादिप्रयोगेणास्य धनागमो भवतीत्यर्थः। परिबृंहिता वर्धिताऽऽयतिरुत्तरः कालो याभिस्ताः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते सङ्घर्षं स्पर्धामिव प्राप्य, स्पर्धावद्भिर्हि परस्पराऽधिकं कर्म क्रियते तेन परेषु स्थानेषु सम्यग्युक्ततयाविभज्य विनियोगः। प्रयोग एव सत्क्रिया सत्कारस्तां प्रापिताः [91]सत्कृताश्च स्वामिनः कार्यं सम्यक् साधयन्ति [92]यतीर्गत्वरीरपि परिबृंहिताः॥15॥

अर्थसम्पदां प्राप्तिं सामान्येनोक्त्वा विशेषेणाह॥

अनेक राजन्यरथाश्वसंकुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम्।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः॥1.16॥

नृपाणामुपायनानि [93]ढौकनानि च ते दन्तिनस्तेषां मदस्तदीयमास्थानगृहाङ्गनमार्द्रतां

---

84. U, P_1, P_3 ते
85. P_3 विग्रहः .... रक्षान् विधायेति०
86. P_1 स्ततो .... स्वसेवकास्०
87. VS हि०
88. P_1, P_3 प्रथमे
89. लम्भिता
90. सत्क्रियाः
91. P_1 सत्कृताश्च .... साधयन्ति०
92. U, P_1 यद्वा
93. U, P_1 ढौकनिकानि

नयत्यार्द्रीकरोति। न केवलं हस्तिन एवोपायनीकृता यावदनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन सङ्कीर्णम् हस्त्यश्वा[94]दिढौकनीकृत्य राजानो द्रष्टुकामास्तदङ्गने प्रतीक्षन्ते इत्यर्थः। सप्तच्छदवद्गन्धो यस्येति उपमानाश्चेतीत्॥16॥

न केवलं राजैव धनपतिः, प्रजा अपि धनवत्य इत्याह॥

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव यस्य सम्पदः।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति॥1.17॥

यस्मिन्क्षेममर्जितार्थरक्षां वितन्वति सति कुरवो जनपदविशेषाश्चकासति दीप्यन्ते। कथं तैर्धनमर्जितमित्याह कृषीवलैः करणभूतैः सस्यसम्पदो दधतः। अत एव सुखेनाऽऽयासं विना यद्वा कृषीवलैः सुखेन लभ्या। यतो देवमातृकाः न देव इन्द्रो माता यासां, ता नदीमातृका इत्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते अकृष्टपच्या इव यथा शृङ्गाटकादयः। ते हि स्वयमेव फलन्ति। कृष्टपच्येति साधुः॥17॥

तस्मिन् सेव्यगुणान्मत्वा भृत्या यथा तं सेवन्ते तथाह॥

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्॥1.18॥

सेवकाः प्राणैरपि तस्य प्रियं कर्तुमिच्छन्ति, तस्य हितार्थे देहमपि न गणयतीत्यर्थः। किं ते प्राकृतप्राया इत्याह [95]महौजसः। तेजस्व्यपि मानीयदिनस्यात्तदा किं साधयतीत्याह [96]मानधनाः। तेऽपि यदि [97]निर्धनास्तदा किं चित्रमित्याह-धनार्चिताः धनेन हेतुनार्चिता। एवमपि यदि न धानुष्कास्तदा[98] किं साधयन्तीत्याह-धनुर्भृतः। एवमपि यदि न प्रसिद्धास्ततः किमित्याह लब्धकीर्तयः। एते सर्वेऽपि न संहताः। न बद्धजालाः। न च भेदवृत्तयः संघातभेदाभ्यां राजानमवसादयन्ति[99]। यद्वा तेजस्विनश्च मानिनश्च धनिनश्च [100]धन्विनश्च एते सर्वे तस्य प्रियाणि कर्तुं समीहन्ते इति योज्यम्। [101]ओजस्विपुरुषवन्मानिप्रभृतयोऽपि तद्धितार्थपरा इत्यर्थः॥18॥

---

94. U, P_1, P_3 रथ*
95. P_1 महोजसः
96. B मामधना ..... चित्रमित्याह०
97. U, P_3 निराशाः
98. U, ० P_3, B ततः
99. P_3 अवसाधयन्ति
100. P_3 B एते* धन्विनश्च०
101. P_1 ओजस्वि

न चान्यराजवध्दठद्दण्डयतीत्याह ॥

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्तुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥ 1.19 ॥

स्वयमप्रेरिता मेदिनी दुर्योधनस्य वसूनि धनानि प्रदुग्धे यतोऽस्य गुणैर्युक्तदण्डत्वादिभि[102]रुपस्तुतावर्जिता। दण्ड्यानां कुतो धनमित्याह प्रशान्तबाधं कृत्वाभिरक्षतया क्षेमेनोदयं [103]दिशतः। यतो दयावत अत एवोदारकीर्तेः ॥19 ॥

राज्ये प्रधानसाधनं चारेक्षणत्वमाह ॥

महीभुजां[104] सच्चरितैश्चरैः क्रियाः स वेद निःशेषमशेषितक्रियः[105] ।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥ 1.20 ॥

सच्छुद्धं चरितं येषां तैः सत्यवादिभिः चरैः करणभूतैः स दुर्योधनो राज्ञां क्रियाः कार्याणि निःशेषं साकल्येन वेद जानाति। कदाचिदन्येऽपि तस्य कार्याणि जानीयुरित्याह–अशेषिता निरवशेषाः कृता क्रियाः येन सः। एवमप्यारम्भक्षणे राजानस्तत्क्रिया जानीयुरित्याह महोदयैः फलैः करणभूतैराजभिरस्य [106]कर्म प्रतीयते संभाव्यते। क्रियाफलं दृष्ट्वा तस्य क्रियारम्भं राजानो जानन्तीत्यर्थः। यथा विधातुः कार्यं फलैरेवानुमीयते। यद्वा महीभुजां सम्बन्धिभिश्चरैः करणभूतैर्महीभुजां क्रियाः स जानाति शत्रुचराः कथं तेन स्वीकृता इत्याह सम्पादितकृत्यः[106.1] ते हि तस्य कार्यनिष्पत्त्या। स्वस्वामिनामग्रे किञ्चिदपि वर्णनीयं न पश्यन्तः सन्तः स्वयमेव तमाश्रिताः। अतस्तदीहाफलैरेवानुमिता शत्रुभिः ॥20 ॥

भयान्नतानां कालवशा[107]दौद्धत्यमपि शङ्कते इत्याह ॥

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं[108] धनुः न वा कृतं कोपविजिह्ममाननम् ।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥ 1.21 ॥

---

102. B उपप्लुता
103. U क्रमणोदयम्
104. महीभृताम्
105. P_1 क्रियाः
106. P_1 ईहितम्*
106.1 P_1 क्रियाः
107. P2, P3, B औन्नत्यम्
108. P1 उद्धतम्

धनुष्मानयं दृढ इत्युक्ते दृढप्रहारीत्यर्थ लक्ष्यते। एवमन्यत्रापि ज्याशब्देनात्र[109] ज्याकर्म लक्ष्यते। तेन सज्यं ज्याकर्म सहितं धनुः क्वचिन्नोद्यतम्। तथा तेनाननं रोषाद्दुर्दर्शं न वा कृतम्। कातर्यप्रसङ्गेनाज्ञाभङ्गे प्रसङ्गे[110] सत्याह माल्यां मालेवास्याज्ञा राजभिः कर्तृभिः शिरोभिः करणभूतैरुह्यते। गुणानुरागेणेति हेतुतृतीया। गुणानुरक्ता राजानो युद्धं विनैव तदाज्ञां मानयन्तीत्यर्थः ॥21॥

एवमुपायविनियोगेनार्जिताया लक्ष्म्या यशोऽर्थप्रतिपादनमाह।

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम्॥1.22॥

स यज्ञेषु हिरण्यरेतसमग्निं[111] धिनोति तर्पयति। केन हव्येनाज्यादिना स्वखिन्नोऽनुद्विग्न मखानां बहुत्वा[111.1]दुद्वेगो भवति। क्षत्रियस्य यजने कथमधिकार इत्याह पुरोधसानुमतः कृतप्रत्यवेक्षः। यदि सदा यज्ञान्करोति तर्हि कथं प्रजाप्रत्यवेक्षा सिद्ध्यतीत्याह नवयौवनोद्धतं दुःशासनमनुजभ्रातरं यौवराज्ये कृत्वा[112]। यद्युद्धतः दुःशासनस्तदायमेव राज्यं किं न हरतीत्याह इद्धशासनो[113] दीप्ताज्ञः। सदा यज्ञान्कुर्वतोऽस्य[114] दुःशासनो दासवदाज्ञां करोतीत्यर्थः। सर्वत्रास्याकुण्ठावधानत्वमिति तात्पर्यम्। तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते इति मनुवाक्याद्यशोऽर्थं यज्ञान्करोतीत्यर्थः॥22॥[115]

भयवर्णनद्वारेण राज्ञानमुत्साहयितुमाह॥

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदीष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता॥1.23॥

प्रलीनाः प्रलयमिव गता भूपाला यत्र [116]तद्भुवो मण्डलं समुद्रपर्यन्तं स्थिरायति। भाविकालहितत्वेनापि रक्षन् स त्वदीष्यतीर्भवत्सकाशादुत्पत्स्यमाना भियो भीतिरेव चिन्तयति। यद्वा भुवो महीः रक्षन् द्वीपबहुत्वाद्बहुवचनम्। समुद्रमण्डलं यावत् स भियो रहश्चिन्तयतीति योज्यम्। [117]यद्वा त्वदेवेति योज्यम्। यदि स तथाविधो [118]महान्कथमस्य

---

109. U, P_2, P_3, B अत्र०
110. U, P_1 प्रसङ्गे०
111. P_1 यज्ञेष्वग्निम्
111.1. U हि*
112. P_1 धृत्वा
113. P_1 दीप्तशासनो
114. U, P_1 अपि*
115. P_2, B भयाद्
116. VS यद्
117. U यद्वा .... योज्यम०
118. U महान् .... विरोधः०

भयमित्याह-अहो कष्टं बलवद्भिः सह विरोधः दुरन्तः दुःस्वरूपः। बलिनां विरोधेन न [119]कदाचित्सुखमित्यर्थः ॥23॥

परबुद्धिस्थितं भयचिन्तनादिकं कथं त्वया ज्ञातमित्याह॥॥

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद्व्यथते नताननः सुदुः सहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥1.24॥

सुदुःसहात् श्रोतुं दुःशकात् तवाभिधानान्नाम्नः स व्यथते, त्वन्नाम श्रुत्वा व्यथते। यतो नताननः अधोमुखः नाम। कस्माच्छ्रुतमित्याह - जनैः। कथाप्रसङ्गेनोक्तात् अनु पश्चात् स्मृत आखण्डलसूनोरर्जुनस्य विक्रमः पौरुषं येन सः। यथा सर्पः कथाप्रसङ्गेन गारुडिकेन कथितान् गरुडमन्त्राञ्श्रुत्वा व्यथते। सचानुस्मृत आखण्डल[120] सूनुवेरिन्द्रानुजपक्षिणो गरुडस्य क्रमः पदाक्रमणं येन कथाप्रसङ्गो वाग्जाले[121] विषवैद्ये चेति [122]श्रीमङ्कुकः [123]सूनुः पुत्रेऽनुजेपि च॥॥

एवं राजानमुत्साह्योपसंहरन्नाह॥॥

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयता[124]मत्र विधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां धियः[125]॥1.25॥

त्वन्नाम्नोपि यत्रस्यति तत् तस्मात्त्वयि विषये जिह्म शुभं कर्तुमुद्यते प्रवृत्ते तस्मिन् कर्तव्यमुत्तरं त्वया क्रियताम्। ततस्त्वयैवावगतेन उच्यतामित्याशङ्क्याह मादृशां धियः प्रवृत्तिर्वार्ता नयनं सारं यासां तथाविधा भवन्ति। यतः परैः प्रणीतान्युक्तानि वचांसि चिन्वतां संगृह्णताम्। वार्तामाहर्तुमेवास्माकं योग्यता न पुनरत्रेदं कर्तव्यमिति निश्चेतुमित्यर्थः॥25॥

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसन्निवासिनाम्।
प्रविश्य कृष्णासदनं महिभुजा तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ वचः॥1.26॥

आत्ता गृहीता सत्क्रिया सत्कारो येन तस्मिन्। एतेन राज्ञः कृतज्ञत्वं दर्शयति।

---

119. U कथंचित्
120. P_3, B सुनोरिन्द्र
121. P_3, B वातूलो
122. P_3 B मङ्कुः U कः
123. P_3, B सुनुः ... च०
124. तत्र
125. गिरः

इति एवं गिरं वाचमीरयित्वा उक्त्वा वनचरपत्यौ गते सति गृहं प्रविश्य मन्त्रभेदभयादिति भावः[126]। भीमादिसन्निधौ राज्ञा[127] द्रौपदीं तद्वचनमाचचक्षे कथितम्[128]। भीमादिसन्निधानेपि द्रौपदीं प्रति कथनं स्त्रीणां बुद्धिश्चतुर्गुणेत्यतो युक्तम्। यद्वा द्रौपद्याः स्त्रीत्वाद्युद्धश्रद्धामसम्भाव्य सत्यपरेण राज्ञा द्रौपदीं प्रति[129] कथितम् ॥26॥

एतद् व्याख्यानं न तथोत्तरग्रन्थानुगुणं वक्ष्यति हि नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरिति॥

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनयन्तमक्षमा।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः॥1.27॥

द्विषां सिद्धिं भूमिवशीकरणरूपां निशम्य श्रुत्वा द्रौपदी वाचोऽवदत्[130]। भीमादीनामप्यग्रे स्त्रिया वक्तुं कथं युक्तमित्याह-ततस्तेभ्यो द्विषद्भ्यो भवा उत्पन्ना अपाकृतीरवमानान्क्षमितुमसमर्था। अत एव पर्यायवक्रतया द्रुपदात्मजेत्यभिधान-मिहोपन्यस्तम्। क्षत्रियवंशा हि पराभवं न सहन्ते। यद्वा स्त्रीत्वादल्पधैर्यत्वमत्र हेतुः। मन्युव्यवसायौ रोषोद्यमौ वर्धयन्ति ताः॥27॥

देवराणाम[131]ग्रेप्युक्त्वा प्रागल्भ्यप्रसङ्गमाशङ्क्याह॥

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुं व्यवसायन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः॥1.28॥

भवादृशेषु महाराजेषु प्रमदाजनेनोदितमनुशासनमुपदेशोऽधिक्षेपोऽवमान इव। [132]यद्यपि भवति तथापि निरस्त उल्लङ्घितो नारीयो [133]धार्ष्ट्याभावरूपो यैस्ते। दुराधयो विषमाश्चित्तपीडा वक्तुं मां व्यवसाययन्त्युद्योजयन्ति। प्रमदाशब्दः साकूतः। प्रमदाशब्दस्य स्वविषयता पर्यवसानात्केवलचित्तपीडैव प्रागल्भ्यनिमित्तं न तु बुद्धिदर्प इति सूचयति॥ ॥28॥

प्राक्कर्मायितुं सुखं दुःखं वेति कथं चित्तपीडा त्वां बाधते इत्याह॥

---

126. U भयादि भावः; VS इत्यर्थः
127. P_1 राज्ञा०
128. P_2, P_3 कथिता
129. B प्रति०
130. P_3, B अवोचत्
131. VS अप्यग्रे
132. VS यद्यपि उल्लङ्घिता भवति तथापि निरस्तनारिसमयोदार्द्र्या.....
133. P_3 दार्द्र्या भावं

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभूः स्ववंशजैः।
त्वया स्वहस्तेन मद[134.1]श्च्युता मतङ्गजेन स्त्रगिवापवर्जिता॥1.29॥

इन्द्रसदृशतेजोभिः स्वकुलजातै राजभिर्बहुकालं रक्षिता भूमिस्त्वया स्वहस्तेन न तु दैवबलेनापहारिता। यतो मदश्च्युता बलावलिप्तेन यथा मतङ्गजेन हस्तिना स्त्रगात्महस्तेनापवर्ज्यते, तत्पक्षे मदो दानं॥

क्षत्रियस्य मम द्युते भूमिं हारयतः को दोष इति कथं मदश्च्युतेति त्वयोक्तमित्याशङ्क्याह॥4॥

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु येन मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥1.30॥

मायाविषु मायिनो ये न भवन्ति ते मूढधियो मूढमतयः पराभवं प्राप्नुवन्ति। हि यस्मादर्थे शठः खलाः प्रविश्य मोहमालक्ष्य तथाविधान्मायारहितान् घ्नन्ति। [134]यथा तीक्ष्णाः [135]शरानग्नाङ्गान्वर्मरहिनान्घ्नन्ति॥

श्रीः स्वभावचपलत्वादेकत्र न तिष्ठतीति को दोष इत्यत आह॥

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्॥1.31॥

इव शब्दोऽत्रासम्भावनायाम्। क इव त्वदन्यः परैः शत्रूभिः श्रियमपहारयेत्। [136]त्वमेवापहारयेदित्यर्थः। न च स्वत एवेयं गतेत्याह गुणेष्व[137]नुरक्तः सरागां कुलजां कुलागतां न च त्वयि। विरक्ताः प्रजा इत्याह अनुरक्तां[138] साधनं प्रकृतिमण्डलं यस्य सः। न च भवा[139]न्विरक्त इत्याह कुलाभिमानी एवंविधां लक्ष्मीमात्महस्तेन त्वमपहारयेः। अत एवात्मवधूमिव यद्वा आत्मवधूमिवेत्युपमानद्वारेण श्रियश्चपलारोपं[140] खण्डयति त्वमिवेत्युपमा। त्वमेव प्रमादाद्वधूश्रीयौ हारितवानित्यर्थः। परैरिति "हकोरन्यतरस्याम्" इति विभाषा तृतीया॥31॥

134.1, मदच्युता

134. B यथा ... ध्वन्ति०

135. U शरानग्नाङ्गा घ्नन्ति; P_1, P_3 शरानग्नान् घ्नन्ति

136. P_2, P_3, B त्वमेव हारयेदित्यर्थः, U.....हारय इत्यर्थः, VS.....हारयेरित्यर्थः

137 VS अनुरक्तः; U रक्तं .... B.....रक्तसरागम्

138. B अनुरक्तं....विरक्त इत्याह०

139. P_1 विरक्ताः; प्रजा*

140. P_1 रोपणम्

अलमस्मत्प्रेरणया स्वयमेव तव कोपो युक्त इत्याह।

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्य[141]वारितश्शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः॥1.32॥

मनस्विभिर्गर्हिते[142] निन्दिते राजभावे तिष्ठन्तं त्वमनिवारितो रोषः कथं न ज्वलयति। अस्मत्प्रेरणा दूरेस्तु मनस्विनिन्दां कथं सहसे इत्यर्थः। यथोच्चैः शिखा ज्वाला[143] यस्य सोऽग्निरवारितोऽवारिणो रसस्याभावाच्छुष्कं शमीवृक्षं ज्वलयति। अन्तर्लीनाग्नित्वाच्छमी-तरुरन्तःस्थितशेषाग्नेः राज्ञ उपमानम्॥32॥

महान्तो हि जितरोषा युक्ता इति विघटयितुमाह॥

अवन्ध्यकोपस्य [144]निहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः॥1.33॥

यदि वयमेतेन सह द्वेषं कुर्मस्तदेषः सफलक्रोधोऽस्मान् हन्ति। अथैनमाश्रयामस्तदेषस्थानान्तरागता अपि विपदो वारयतीति विमर्शेन स्वयमेव प्रेरणां विनैव देहिनः पुरुषा वश्या भवन्ति। कस्यावन्ध्व कोपस्य सफलक्रोधस्य। तथापदां निहन्तुर्निवारयितुः पुरुषस्य द्वेषेणापचयमानेनोपचयं स्वबुद्ध्या निश्चित्यायत्ता भवन्तीत्यर्थः। अतो महतां कोप एव माहात्म्यपरिपालक इति सिद्धम्। अमुमेवार्थं व्यतिरेकेण[145] पुनरप्याह जातं हार्दं प्रेम यस्मिँस्तेन मित्रेणेत्यर्थः। जात हार्देन मित्रेण करणभूतेन जनस्यादरो[146] जन कर्तृकः सम्मानो न भवति। यतः अमर्षशून्येन "अमर्षो मित्रकृतोऽपकारविषयमसहनं प्रत्युपकार" इति यावत्। अमर्षेण प्रत्युपकारोद्यमेन यः शून्यः सखा तेन करणभूतेन जनकर्तृक आदरो न भवति, यो न प्रत्युपकरोति तं जनो न गणयतीत्यर्थः। अत्रैव वाक्ये तन्त्रेण दरशब्दोऽपि व्याख्येयः। जनस्य दरो भयं न भवति। केन करणभूतेन अमर्षशून्येनाक्रोधेन विद्विषा यो द्वेषं क्षमते प्रत्यपकारं न करोति तेन शत्रुणा दरो भयं न भवति। यः शत्रोः प्रत्यपकारं[147] न करोति तं जनो न गणयतीत्यर्थः। अथवाऽवन्ध्यकोपस्याऽत एवाश्रितानां विपन्निवारकस्य सर्वे आयत्ता भवन्ति। अमर्षशून्येन तु विद्विषा दरो भयं न भवति। कीदृशेन न जातहार्देन, नञः काकुस्वरप्रयोगाज्जात-हार्देनैवेत्यर्थः। प्रणामादिना शत्रावपि प्रसन्नेनेत्यर्थः॥33॥

---

141. उदीरितः
142. VS गर्विते
143. P_2, P_3, B ज्वाला०
144. विहन्तुः
145. P_1 व्यतिकरेण
146. P_1 जनकर्तुक .... कारणभूतेन०
147. U प्रत्युपकरं

महतां विपदि धैर्यमुचितमिति। यदि महत्त्वात्स्वपीडा न गणयसि तर्हि भ्रातुर्दुःखं त्वां कथं न पीडयतीत्याह॥

परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति ते कश्चिदयं वृकोदरः॥1.34॥

प्राङ्महारथोऽद्य पदातिर्भूत्वान्तर्गिरि-पर्वतमध्ये भ्रमन्नजाज्यमानः तथा लोहितचन्दनस्य [148]रक्तचन्दनस्योचितः अद्य रेणुना रूषितो वृकोरो भीमसेनस्तव[149] चित्तं कश्चिद्दुनोति तापयति। सत्यधनस्येत्युपहासपर्यवसितम् सत्यं पोषयसि, भ्रातृञ्शोषयस्तीति भावः॥34॥

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः॥1.35॥

यो वासवोपम उत्तरान्कुरुञ्जनपदविशेषान् जित्वा तुभ्यमकुप्यं हेमरुप्यादि वसु धनमदात्सोऽर्जुनोऽद्य वल्कवासांसि परिदधत्क्रोधं कथं नोत्पादयति। एनमेवंविधं विपद्विवशं दृष्ट्वा [150]क्रोधस्तव न दोषावह इत्यर्थः॥35॥

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विश्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्॥1.36॥

वनान्तशय्यया कठिनी कृताऽऽकृतिर्ययोस्तौ विश्वक्सर्वतः कचैः केशैराचितौ विकरालौ। अत एवागे पर्वते जातौ स्थितौ गजाविव नागरिकानां हस्तिनां हस्तिपकैः कचप्रधानादिसम्पादनेन वनग्रहणम् एतौ यमौ नकुलसहदेवौ पश्यँस्त्वं धृतिसंयमौ धैर्यशमौ बाधितुं त्यक्तुं कथं नोत्सहसे। तत्त्यागे त्वमुत्सहस्वेत्यर्थः॥36॥

अस्याः केवलं परोपदेशकुशलं न त्वात्मना सचित्तवत्त्वमित्याह॥

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः॥1.37॥

इमां विपत्प्रतीकारोपेक्षारूपां तव धियं बुद्धिमहं न वेद न जाने। अत्र हेतुं न जानामीत्यर्थ 'विदो लटो[151] वा' (पा. 3।4।83) इत्यट्। धियमिति कार्ये[152] कारणोपचारः

---

148. P_1 रक्तचन्दनस्य०
149. U ते
150. P_1 कोप
151. U, p_1, P_2 B लिटो
152. B काले

युक्तमेतत् चित्तस्थितयां हि विचित्ररूपा भिन्नरूपा भिन्नगुणा इत्यर्थः। स्वसदृश एव[153] ज्ञातुं शक्यते न विसदृशः। राजचित्तात्स्वचित्तस्य[154] भिन्नगुणतां प्रतिपादयितुमाह सर्ववाक्यानां व्यवच्छेदफलत्वादेवकारोऽत्राध्याहार्यः। त्वदापदं विचिन्तयन्त्या एव न त्वनुभवन्त्या मम चित्तमाधयः पीडा व्यथयन्ति। त्वं त्वापदनुभवेपि निर्विकारः[155]। यद्वाहं निश्चिन्तरूपां त्वन्मतिं न जाने। मम त्वद्विपश्चिन्तनमात्रेण चित्तदुःखोद्भवः। तव तु विपदनुभवतोऽपि न पीडेत्यऽर्थादापतितम्। एतदेव सामान्येन समर्थयति चित्तवृत्तयो नानारूपा इति ॥37॥

तामेव विपदं दर्शयितुमाह॥

पुरोपनीतं नृप रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति काश्यं यशसा समं वपुः॥1.38॥★

नृपेत्यैश्वर्य[156]दीपकमामन्त्रणं द्विजातीनां ब्राह्मणानां शेषेण [157]भुक्त्वावशिष्टेनान्धसान्नेन यशसा सह यद्वपू रामणीयकं कन्ति पुरा तवानीतं तद्वपु[158]स्तवाद्य यशसा सह कृशतां प्राप्नोति। यतः परं केवलतया वन्यफलान्यश्नासि। यशसा समं सदृशं च[159]। यशोऽपि ब्राह्मणः भुक्तावशिष्टेनान्नेन[160] भुक्तेन वृद्धिं नीतम् ॥38॥

पुराधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतमङ्गलैः।
[161]अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः॥1.39॥

महार्हशय्यामधिरूढो यस्त्वं जनेन स्तुत्यादिभिः पुरा[162] पूर्वं प्रबोध्यसे निद्रां त्याज्यसे। स त्वं घनदर्भां स्थलीमाश्रित्याशुभैः शिवावाशितैर्निद्रां त्यजसि। पुरि 'लट् स्मे'[163] (पा. 3।2।118) चेति लट् ॥39॥

---

153. U एवम्
154. आत्मचित्तस्य
155. U निन्दाकारः
156. U द्योतक
157. B भुक्तावशिष्टेन
158. U तव०
159. U हि
160. U अवशिष्टन्नेन
161. VS अदभ्रचर्माम्
162. U, P_2 पूर्वम्०
163. VS स्मे लट्

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्त्रजां रजः।
निषीदतास्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम्॥ 1.40॥

रत्नपीठप्रतिष्ठतौ यौ पादौ राजमौलिमालानां किञ्जल्कोऽरञ्जयत् तौ ते [164]पादावद्य बर्हिषां दर्भाणां वनेषु लुठतः मृगैर्द्विजैर्दन्तैर्न तु जिह्वया[165] पारुष्यदोषाल्लूना शिखा येषाम्॥40॥

विपदि महतां धैर्यं युक्तमिति दैवकृतापद्विषयमित्याह॥

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्॥ 1.41॥

इयं प्रत्यक्षा तव दशा द्विषन्त एव न तु दैवं निमित्तं हेतुर्यस्या सा यद्भवति। ततो हेतोरियं दशा मे मनः समूलमुन्मूलयत्युत्पाटयतीव। युक्तमेतत् परैः शत्रुभिरपर्यासिता अर्जिता वीर्यसम्पद्येषाम् मानीनां पराभवोप्युत्सवसमः। पूर्वोक्तकर्मजनितानां विपदामपरिहरणीयत्वादिति भावः॥42॥

अत्र यदुक्तं तत्प्रतिपादयितुमाह॥

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः॥ 1.42॥

शान्तिमुदासीनतां त्यक्त्वा त्वं[166] त्वत्सहजं धाम तेजः पुनः सन्धेहि योजय। शत्रूणां वधार्थं प्रसीदेत्यस्मत्कृपया न स्वसुखाभिलाषेणेत्यर्थः। यतः शत्रूनवधूयोपेक्ष्य शमेन[167] मुनयः सिद्धिं लभन्ते। यतो निःस्पृहा न तु पृथ्वीपालाः सिद्धिं लभन्ते। अत एव नृपेत्यामन्त्रणमुक्तम्॥42॥

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते [168]परान्निराश्रया हन्त हता मनस्विता॥ 1.43॥

तेजस्विनामग्रण्यो यशोधना भवादृशा [169]ईदृशं छलराज्यहरणरूपं निकारमवमानं प्राप्य परान् शत्रून् चेदधिकुर्वते यदि प्रसहन्ते तदा भवादृशामेवाधारत्वेन प्रसिद्धत्वान्निराधारा मनस्विता नष्टा। तस्य हि तेजस्विनो यशस्विनश्चाश्रयः॥43॥

---

164. P_1, P_2, B पादौ अद्य
165. B जिह्वायाम्
166. B त्वं०
167. VS शमेन०
168. रतिम्
169. P_1 ईदृक् छलहरणराज्यरूपम्

अथ क्षमामेव निरस्त[170]साधनश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम्॥1.44॥

निरस्तं त्यक्तुं साधनं जपोपायो येन सत्वं क्षमामेव सुखस्य साधनमुपायमथ पर्येषि यदि मन्यसे गच्छ राजचिह्नं धनुस्त्यक्त्वा जटाधरो भवन्नग्निं तर्पय। सर्वचेष्टा हि सुखार्थाः तदेव क्षमालभ्यं यदि मन्यसे तर्हि युद्धक्लेशावहं धनुष्किमर्थम्॥44॥

स्वयं कृतायां मर्यादाया [171]नोल्लङ्घनमित्याह॥

न समयपरिरक्षणं[172] क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि॥1.45॥

छलेन निकारप्रवृत्तेषु शत्रुषु समयपरिरक्षणं मर्यादापालनं न ते युक्तम्। यतो भूरिधाम तेजो यस्य सः, असक्तो हि भयात् समयं पालयति। अनिकृतिकारिष्वपि शत्रुषु मर्यादोल्लङ्घनमेवोचितमित्याह विजयकाङ्क्षिणो राजानः शत्रुविषये सन्धेर्दूषणानि मर्यादोल्लङ्घनं [173]कुर्वते सोपधि सच्छलं शत्रुषु कमपि दोषमारोप्य मर्यादां प्रतिक्षिपन्तीत्यर्थः। "निकृतिः कुसृतिः शाठ्यम्" इत्यमरः॥

मर्यादायामुल्लङ्घितायामपि सिद्धिः सन्दिग्धैवेति न च शङ्कनीयमित्याशीद्वारिणाह॥

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलबलमगाधे मग्नमापत्ययोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानां दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः॥1.46॥

लक्ष्मीस्त्वां भूयः पुनः समभ्येतु प्राप्नोतु त्वाम्। कीदृशं रिपुकृतं तिमिरं मोहमुदस्य निवार्योदीयमानं उदयन्तम्। एतेन मर्यादोल्लङ्घनीयमुपायं दर्शयति। त्वया स्वेच्छया समयोऽनुकृतः, किन्तु शत्रुकृतेन मोहेनेत्यर्थः। अमुमेवार्थं विशेषेणोपोद्बलयति विधेर्विधिविशेषस्य दुरोदराख्यस्य समयपूर्वो नियोगो नियोजनम्। तस्माद्दीप्तिसंहारेण जिह्मं सङ्कुचितमऽत एव शिथिलं निराशं बलं यस्मिँस्तथा दुर्विगाहे विपत्समुद्रे मग्नम् इति राजपक्षे योजना। सूर्यपक्षे तु कालस्य नियोग। एतावता कालेनार्कोस्तमेष्यति। विधेराज्ञा तेन दीप्तिसंहारजिह्मं रिपुभूतं तिमिरं हत्वोदयन्तं रविं यथा दिनादौ प्रभाते श्रीरेभ्यति तथा भवन्तं जयश्रीरभ्युपेयादिति भद्रम्॥46॥

इति श्रीकिरातार्जुनीये महाकाव्ये जोनराजविरचितायां
टीकायां प्रथमः सर्गः॥

---

170. विक्रमः
171. U, P_1 नोल्लङ्घनं युक्तमित्याह
172. U कुर्वन्ति

॥द्वितीयः सर्गः॥

विहितां प्रियया मनःप्रियामथ निश्चित्यं गिरं गरीयसीम्।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः॥2.1॥

द्रौपद्या कृतामभूतपूर्वरचनयोत्पादितामर्थैर्गुरुतरामत एव मनसो न तु श्रुतेरेव वीणाशब्दवत्प्रियां वाचं निश्चित्य भिमसेनो नृपं युधिष्ठिरं वचनमवदत्। प्रतिज्ञातस्यार्थस्य समर्थकानां हेतूनामुपन्यास उपपत्तिर्विद्यते यस्य तत्।। तथोर्जितो न तूपप्लवमान आश्रयो गृहीतपक्षो यस्य तत्। द्रौपदीमतमेव सारमिति कृतनिश्चयो भीमो वाचमन्ववददित्यर्थः। प्रिययेत्यनेन दौपदीवचसामनुपप्लवत्वं सूचयति। सा हि कान्तप्रेमस्मरणात् सावधानं वक्ति। अमनः प्रियामित्यकारप्रश्लेषेणाऽमनसामपि प्रियामिति व्याख्येयम्॥1॥

द्रौपदीस्त्रीत्वादुक्तिं नाजानादिति भीमो वक्तुकाम इति राज्ञः सम्भावनामाशऽक्याह॥

[1]यदवोचदवेक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम्॥2.2॥

मानिनी द्रौपदी स्नेहदृष्ट्या विमृश्य यदवोचत्तद्वाचस्पतेरप्याश्चर्यं कुर्वीत। बृहस्पतिनापीदृग्वक्तुं न शक्यते इत्यर्थः। सम्भावनायां लिट्। दुर्वचं [2]कृच्छ्रेण वक्तुं शक्यम्। इदमेव [3]कर्तुं प्राप्तकालमिति [4]वचने विशेषप्रतिपादनात्। अपि शब्दादस्मादृशो न कथमाश्चर्यमिति [5]सिद्धम्। यद्वागधिपस्यापि दुर्वचमिति विस्मयविधाने हेतुत्वेन योज्यम्॥2॥

इदं वचनं वाक्पतिम[6]प्याश्चर्ययतीत्युक्तमऽत्रोपपत्तिमाह॥

---

1. यदोवचत वीक्ष्य
2. B कृच्छ्रेण
3. YS कर्तुम°
4. P_1 वचनैः
5. U सिद्धम
6. B, P_1, U आश्चर्यति

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति [7]कृतवस्तु यः॥2.3॥

विषमो दुर्बोधोऽपि नयो नीतिशास्त्रं जनेन विगाह्यते [8]बुध्द्यते। यतः कृतानि तीर्थानि विवरणानि यत्र सः। यथा पयसा[9]माशयः कूपादिः। तत्पक्षे विषमोऽगाधः, कृततीर्थो विहितसोपानः। तत्र नये नयाधारः। स पुमान् पुनर्विशेषेण बोद्धृसकाशादतिशयेन दुर्लभः यः कृत्यं कर्तुं प्राप्तकालमऽस्मिन्देशे काले वेदं कर्तव्यमित्येवं रूपं वस्तु सम्यक्कृत्वोपन्यस्यति। प्रयुङ्क्ते नीतिशास्त्रे बहूनां बोधमात्रम्। द्रौपद्यास्तु नीतिप्रयोगेऽपि कौशलमित्यर्थः। तत्र बोद्धृषु मध्ये इति निर्धारणसप्तमी वा॥3॥

पूर्वश्लोकेन सामान्यद्वारेण द्रौपद्युक्तिं स्तुत्वा साक्षात्स्तोतुमाह॥

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम्
अतिवीर्यवतीव भेषजे गुरुरल्पीयसि दृश्यते गुणः॥2.4॥

परिणामेऽपि न पुनरामुख एव सुखं यस्मात्तस्मिन्[10]। तथार्थैरतिगौरववति तथातिवीर्येऽत एव [11]निरौजसां व्यथावहेऽस्मिन्वचस्यल्पीयस्यपि बहुर्गुणो दृश्यते। यथा भेषजे औषधे मात्रयाऽल्पेऽपि बहुर्गुणो रोगनिवृत्तिरूपो दृश्यते। तत्पक्षे परिणामे विपाके सुखं गुरु [13]गुरुणा युक्ते [14]ओजो धातुतेजः वीर्यमुष्णशीतगुणोत्कर्षः॥4॥

द्रौपद्याः स्त्रीत्वादुक्तिं मावसंस्था इत्याह॥

इयमिष्टगुणाय रोचतां रुचिरार्था भवतेऽपि भारती।
ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः॥2.5॥

एवं सत्यल्पेऽप्यर्थवाक्ये बहुगुणत्वाद्भवतेऽपीयं वाग्रोचताम्। यतो रुचिरोऽर्थो यस्याः सा इष्टगुणाय गुणा एव तुभ्यं रोचन्ते। ते चात्रोक्तौ सन्ती[15]त्येषा वागनुष्ठेयेत्यर्थः।

---

7. कृतवर्म
8. P_1 न*
9. B आश्रयः
10. B यत्परिणामे सुखं तस्मात्*
11. B निरोजसाम्
12. VS बहुगुणो
13. P_1 गुरुत्व
14. B ओज
15. VS....त्यैषा

स्त्रीवचनं कथं गृह्यते इति निरसितुमाह ननु यस्मादर्थे निश्चये वा वक्तृविशेषे पुरुषादौ निःस्पृहाः पण्डिता वचनस्थेषु गुणेषु गृह्याः सस्पृहाः। इयं स्त्री तस्मादस्या [16]वचनोऽनादरणीयमित्यत्र भवता न स्थातव्यम्। गुणा एव [17]त्वयेषणीया इत्यर्थः॥5॥

द्रौपदीवचने तवा मोहादनादर इति प्रतिपादयितुमाह॥

चतुसृष्वपि ते विवेकिनी नृप विद्यासु निरूढिमागता।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी [18]पङ्क इवावसीदति॥2.6॥

कथं विपर्ययं मोहमेत्य तव मतिर्बुद्धिरवसीदति। युक्तमप्येतद्वचनं किमपि न लिप्स[19]सीत्यर्थः। यतश्चतुःसङ्ख्यासु राजविद्या[20]स्वान्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिषु विवेकिनी न तु गतागतिकत्वेन निरूढिं सक्ति[21] प्ररोहं गता। यथा हस्तिनी पङ्कं प्राप्यावसीदति। पङ्क इति [22]वा पाठः॥6॥

विपदि मर्यादोल्लङ्घनं न दोषावहं न चास्माकं विपदिति धैर्यनिधे राज्ञो मतमाशङ्क्याह॥

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां [23]गमितं दशामिमाम्।
अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम्॥2.7॥

अतः परं किं विधुरं, का विपत्। अतः कुत इत्याह सुरैरपि सम्भावितास्तित्वेनानुमता वृत्तिर्यस्य [24]तत्त्वद्विषयं पौरुषं यदवसीदति। यतः परैः शत्रुभिर्न तु विधिना इमां दशामवस्थां [25]प्रापितमवगीतां गर्हिताम्॥7॥

[26]पतनान्ताः [27]समुच्छ्रया इत्यस्मद्वैरिणः स्वयमेव पतिष्यन्तीत्यस्माभिः सत्यान्न स्खलनीयमिति राजमतमाशङ्क्याह॥

---

16. VS, U, B वचो
17. P_1 त्वया पोषणीया, B
18. पङ्कम्
19. U ....सेत्यर्थः
20. U ....स्वन्वीक्षिकी
21. U वा*
22. U वा°
23. गमिते
24. U तत्तत्त्वविद्विषयम्, B तद्वद्विषम्
25. B प्राप्यते
26. VS पननान्ता°
27. B समुच्छ्रय

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः ॥2.8॥

भूतिमिच्छता लक्ष्मीकाङ्क्षिणा सुमेधसा मतिमता कर्त्रा द्विषतामुदयो वृद्धिर्गुरुर्महानपि सुमर्षणः शत्रोरुदयस्य नाशे प्रयत्नो न कार्यः। साधनीयस्य स्वयं सिद्धेः। यतोऽतिशयेनाऽस्वन्तो दुरन्तः। स्वन्तस्तु न सोढव्य इत्यर्थादापतितम्। सुमेधसा द्विषां क्षयोऽपि न सुमर्षणः। यतः फलसम्पदि प्रवणः। यदि शत्रोरुदयश्चारेण दुरन्तो वर्ण्यते ततोऽस्माभिः सोढव्यः। स्वन्त [28]एव तु वर्णित इति क्षमा कथं युक्तेति तात्पर्यम्। यद्वा पूर्वार्धस्य द्वितीयार्धं समर्थकम्। बुद्धिमता शत्रूणामुदयः स्वन्तो न सुमर्षणः। युक्तमेतत्, फलदः क्षयोऽपि। यतो न सुमर्षेणः। [29]अथवा [30]द्वितीयार्धे प्रथमं व्याख्यायते। दण्डिकयार्थादापतितस्य च पूर्वार्धस्योपन्यासः प्रतिपत्तिगौरवपरिहारार्थः ॥8॥

सहसा यत्किमपि न कर्तव्यमिति राजमतमाशङ्क्याह॥

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः।
क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥2.9॥

वर्तमानावस्था [31]परीक्षयाऽचिरेणाल्पकालेन परस्य शत्रोः क्षययुक्तिं भूयसीं बहुतरां विदृश्यात्मनो विपरीतामत्यल्पां गणयित्वा कृती क्षययुक्तिमुपेक्षते[32]ऽलिप्सति। तत्प्रतीकारे यत्नं न करोतीत्यर्थः। साध्यस्य शत्रुजयस्य स्वयं सिद्धेः। [33]अन्यथा शत्रोरल्पामात्मनो बह्वीं क्षययुक्तिं लक्षयित्वा तस्यां क्षययुक्तेः प्रतीकारं निवारणं कुरुते। [34]विपत्तिनिवारणे तूर्णमेव यतेतेत्यर्थः। यदि च दुर्योधनस्याचिरेण क्षयप्रयुक्तिः स्यादस्माकं च साव्यपगच्छेत्तदा काममस्माभिर्न त्वरा क्रियते। न तु [35]तदिति त्वरैव युक्तेति तात्पर्यम् ॥9॥

[36]अनीहमानानां राज्ञां क्षयः कथं नाम विघटतां यावदर्जितापि श्रीर्नश्यतीत्याह॥

अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया।
अपयान्त्यचिरान्महीभूजां जननिर्वादभयादिव श्रियः ॥2.10॥

---

28. B इव
29. B अथ
30. P_1 द्वितीयार्धम्
31. U, B उपेक्षया
32. P1 अपलिप्सति, B न लिप्सति
33. VS अन्यता°
34. VS, B विपत्तिवारणे, U विपन्निवारणे
35. U तथैव, B तदेति
36. U अनेह

[37]उदेष्यतीमुदयं[38]प्राप्स्यन्तीं द्विषतां सम्बन्धिनीं प्रभुशक्तिमचेष्टयानुत्साहेन करणेनानुपालयतां राज्ञां श्रियो चिरादपयान्ति नश्यन्ति। शत्रोरनुद्योगेन वर्धमानाः। शत्रवो लक्ष्मीं हरन्तीत्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्षते जनानां निर्वादादपवादाद्यद्भयं तस्मादिव यद्यनुत्साहहतेषु राजसु वयं स्थास्यामस्तदा लोकोऽस्मा[39]न्निन्दतीतीव। निन्दाभयाल्लक्ष्म्योऽलसेभ्यः पलायन्ते इत्यर्थः ॥10॥

क्षीणोऽप्यहं यद्युत्साहं करोमि तत्को मामनुयातीत्याह॥

क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं[40]विवृद्धये।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ॥2.11॥

क्षीणमपि राजान[41]मनपायं बाधा यत्र न [42]भवत्येव। [43]उत्थितं कृतोद्योगं सन्तं [44]जनाः प्रणमन्ति। यतः सहजं तेजोदधानम्। तेजः कीदृशं विवृद्धये। शिवं विवृद्धये दधत[45]मिति[46]वा योज्यम्। यथा प्रतिपच्चन्द्रं प्रजा नमन्ति। तत्पक्षे क्षयः कलामात्रत्वम्॥

लक्ष्मीरहितानां नास्ति कार्यसिद्धः। लक्ष्मीश्च नय प्राप्येति। नय एव युक्तः किमुत्साहेनेति निरसितुमाह॥

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः।
स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते ॥2.12॥

[47]पञ्चाना[48]मङ्गानां कर्मारम्भोपायादीनां (कर्मारम्भोपायः द्रव्यसम्पत् देशकालविभागः विपत्तिप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि। VS. की F.N.)[49]विनिर्णयः[50]कृतो यत्र स

---

37. U उदीष्यतीम्
38. U,P_1,B प्राप्स्यतीम्
39. U, B निन्दतीव
40. समृद्धये
41. P_1 अनुपायम्
42. U भवतीव
43. U मुत्थितम्
44. U जनः
45. B अपि
46. VS वा॰
47. P_1 पञ्चाङ्गानाम्
48. U अङ्गनाम्॰
49. U निर्णयः
50. P_1 हतो

नयः। कोशदण्डयोः 'कोशो धनं दण्डो रथादि' तयोः प्रभवः कारणं [51]भवति। नयादेव कोशदण्डोत्पत्तिरित्यर्थः। स नयो विधेयपदेषु कर्तव्येषु दक्षतामुत्साहमनुरुध्यतेऽपेक्षते। यथा नियतिं दैवं लोको[52]ऽनुरुध्यते। केवलेन पुरुषकारेण वरं किञ्चिल्लभ्यते। निरुत्साहो नयस्तु न किञ्चित्फलं ददातीत्यर्थः॥12॥

[53]निरालम्बानस्मानुत्थातुकामानरयः [54]पातयन्तीत्याशङ्क्याह॥

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः।
विनिपातनिवर्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम्॥2.13॥

उच्चैरुन्नतं प्रियमीप्सितं पदमारोढुकामस्य साभिमानस्य मानिनः पातनिवर्तनसमर्थ[55]मालम्बनं [56]निजमेव पौरुषं मतम्। [57]उन्नतस्थानमारोढुमिच्छतश्चा-लम्बनमपेक्षितम्॥13॥

पौरुषमेव राज्यप्राप्त्युपाय इति व्यतिरेकपदेनाह॥

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः॥2.14॥

विपदो निष्पौरुषं [58]पराजयन्ते। विपज्जितमायतिरुत्तरः कालस्त्यजति। आयतिरहितस्य लाघवं नियतम्। निर्गौरवो राज्यलक्ष्म्या न स्थानम्। सर्वैरेवानादरणीयत्वात्। विक्रम एव राज्यलक्ष्मीमूलमित्यर्थः॥14॥

तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम्।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः॥2.15॥

तत्तस्मादुत्साहेन राज्यलाभदर्शनाद्धेतोर्व्यवसायेनोद्योगेन वन्ध्यताम् निरुत्साहत्व-मवलम्ब्याश्रित्यालम्। निषिध्यतामौदासीन्यं, त्यज्यता[59]मित्यर्थः। यत उन्नतेरुन्नत-

---

51. U अस्ति
52. U अनुरुध्यते.....त्यर्थः°
53. U निरालम्भमुत्थातुकामानस्मानरयः
54. U पारयन्ति
55. U आलम्भनम् .
56. U निजमेव पोरुषम्°
57. U अलसेन....अपेक्षितम्°
58. P_1 राजयन्ते
59. VS, B इत्याह

पदप्राप्तेः प्रतिपक्षं परिपन्थिनम्। उद्योग एव ग्राह्य इत्यर्थः। एतमेवार्थं सामान्येन समर्थयति। विषादे[60]नालस्येन समं समृद्धयो न निवसन्ति[61]। पौरुषमेवाश्रयो यासां ताः। तच्छब्दो द्वितीयार्थपरामर्शको व्याख्येयः। यतो विक्रममूला लक्ष्म्यो नालसेन सह वसन्ति। ततो हेतोर्निरुद्योगत्वं त्याज्यमेवेत्यर्थः। "अलंखल्वोः प्राचां क्त्वा" (3/4/18 पा.) इति क्त्वा प्रत्ययः ॥15॥

[62]कारुण्यत्वं युद्धमुपेक्षसे। न च तन्निर्वहतीत्याह॥

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः ॥2.16॥

भवता मर्यादा यदि पाल्यते तदा धृतराष्ट्रसुतेन दुर्योधनेन बहुकालं भुक्त्वा राज्यलक्ष्म्यः कथं सुखेन युद्धं विना त्यज्यन्ते। युद्धेनैव त्यज्यन्ते इत्यर्थः। [63]यत आविष्कृता [64]जिह्मा मर्यादा[65]रहिता वृत्तिर्येन सः स्वल्पोऽप्यन्यत्र वस्तुन्यऽसत्यतया व्यवहरन्स बहुकालभुक्तायां लक्ष्म्यां सत्यां कथं न त्यजेदित्यर्थः। धृतराष्ट्रसुतेनेति पर्यायवक्रतया राजवीजित्वं राज[66]सम्पदऽपरित्यागे हेतुतां दर्शयति ॥16॥

एवं दुर्योधनेनापहृतराज्यस्य युद्धं विना प्राप्ति भावपक्षमपि दूषयितुमाह ॥

द्विषता विहितं त्वयाथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम्।
जननाथ तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥2.17॥

अथवा पूर्ववचनोपक्षेपे द्विषता दुर्योधनेन विहितं दत्तं राज्यं त्वया पुनर्यदि लब्ध्वा लप्स्यते तदा तव कनीयसां भातृणां भुजैः कृतं न किञ्चित्कृतमित्यर्थः। अन्यत्राविष्कृतं पौरुषं यैस्तैः अर्थिभिर्भिक्षैव। यद्यस्माभिः[67] [68]राज्यं प्रतिगृह्यते तर्ह्यस्मद्भुजा[69]न्धिक्।

---

60. U अलसेन
61. U यात्रालस्यं न तत्र लक्ष्म्यास्फुरन्त्यर्थः यतः पराक्रमः*
62. VS कारुण्यत्वम्°
63. U यतः•
64. U जिह्म
65. U रहित
66. P_1 सम्पत्ति परित्यागे
67. B अपि*
68. P_1 प्रतिगृह्यते राज्यम्
69. U धिकाम्

अशक्तानामुत्तान[70]फललुब्धत्वाश्रयणे निन्दाभावात्। [71]निहितमिति वा पाठः। अनेकार्थत्वाद्धातूनां विपूर्वे धाञ् अत्र दानार्थः। अथवा विपूर्वस्य धाञः करोत्यर्थत्वे क्रियासामान्यवाचित्वाद्वा दानार्थः॥17॥

[72]शूरा नान्यदत्तं प्रतीक्षन्ते इत्याह॥

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः॥2.18॥

महानन्यतो भूतिं नेच्छति। परदत्तां श्रियं शूरो न काङ्क्षति। यतस्तेजसा जगल्लघू कुर्वन्। सामान्यं विशेषेण समर्थयति। स्वयं हतैर्मत्तैर्हस्तिभिः सिंहो वर्तयते, जीविकां करोति॥18॥

श्रीश्चलेति [73]सत्यत्यागस्तदर्थं न युक्त इत्याशङ्क्याह॥

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः।
[74]अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम्॥2.19॥

ननु निश्चये लक्ष्मीः प्रासङ्गिकं फलं भवति, लक्ष्मीमुद्दिश्य प्रवर्तनाभावात्। यतो चिरांशोर्विद्युतो विलसितवल्लोला। किमुद्दिश्य तर्हि अभिमानी प्रवर्तते इत्याह गत्वरैरसुभिः प्राणैः करणभूतैः स्थिरं यशश्चेतुं सङ्ग्रहीतुमिच्छतः। अस्थिरेण स्थिरं वस्तु सङ्ग्रहीतुं युक्तत्वात्। यशः प्राप्तये एव प्रयतमानेन पुरुषेण प्रसङ्गाल्लक्ष्मीं प्राप्यते इत्यर्थः। तस्मान्नास्मत्कर्तृका भवतः प्रेरणेतिभावः॥19॥

न केवलं यश एव तेजसः फलं यावत्तेजस्त्यागादवमाना भवन्तीत्याह॥

ज्वलतं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥2.20॥

ज्वलितमग्निं जनो नाक्रामति। भस्मराशिं सन्तं त्वाक्रामति। अतोऽवमानभयान्मानिनः प्राणान्मुखं त्यजन्ति न पुनस्तेजः। यस्मिन्सति प्राणत्यागोऽपि सुखदायी। [75]गरीयांशो[76]ऽवमानं तेजस्त्यागे प्राप्नुवन्ती[77]त्यर्थः॥20॥

---

70. U फल°
71. U विहितम्
72. U शूरा....त्याह°
73. U तदर्थ सत्यत्यागोऽयुक्त, P_1 सत्यागः
74. VS अचिरांशु... 2.19 तः दुष्टमिवोपचक्रमे....2.25°
75. U, B गीरीयांशो° B मावमानम्*
76. U तमवमानम्, B तमेवावमानम्
77. U भावः

दुर्योधनोऽस्माकं राज्यं प्रत्यर्पयिष्यति[78]। अतो लक्ष्मीलाभार्थेन हिंसामयेन विक्रमेण किं फलमित्याशङ्क्याह॥

किमवेक्ष्य[79] फलं पयोधरान् ध्वनतः [80]प्राह्वयते मृगाधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया॥2.21॥

किं फलमालोक्य सिंहो गर्जितो मेघान्प्राह्वयते स्पर्धते। स्पर्धायामाजेत्यात्मनेपदम्। तत्स्पर्धया यद्यपि किञ्चित्कलं न लभते तथापि तानेव पराभवितुं चेष्टते इत्यर्थः। युक्तमेतत् यया करणभूतया महीयान्परौन्नत्यं न सहते सा महीयसः प्रकृतिः स्वभावः। यद्वा प्रकृतिः सा तथाविधा भवति। यद्वा सा प्रकृतिर्महीयसो न तु कातरस्येति[81] योज्यम्। [82]स्वभावहेतुपर्यनुयोजनं न युक्तम्। [83]प्रार्थयते इत्यनुगुणः पाठः। [84]यद्वा प्रपूर्वोक्तिः संरोधनार्थः। उपसर्ग[85]बलेन धात्वर्थबाधनात्। तथा च कालिदासः तत्प्रार्थितं जनवनवाजिगतेन राज्ञेत्यादौ अयमेव प्रार्थनाधिकबले विपत्फलेति [86]संरोधनार्थं प्रार्थयति प्रयुक्तवान्॥21॥

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप निर्धूय [87]तमः प्रमादजम्।
ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तयः॥2.22॥

तत्तस्माद्धेतोर्विक्रम एव न तु नयचर्यायां मतिं कुरु। प्रमादोऽनवधानता ततो जातं सोऽहं परिहत्य ध्रुवं त्वमेतज्जानीहि [88]शत्रूणामलक्ष्म्यस्त्वदनुद्यमनुष्टाः॥22॥

सत्यत्यागाभ्युपगमेऽप्यहमेकाकी किं करोमीति [89]राजोक्तिं संभाव्याह॥

द्विरदानिव दिग्विभावितांश्चतुरस्तोयनिधीनिवायतः।
प्रसहेत रणे तवानुजान्द्विषतां कः शतमन्युतेजसः॥2.23॥

---

78. U प्रत्यर्पयित्वान्यतो
79. अपेक्ष्य
80. प्रार्थयते
81. B वा*
82. U स्वभाव.....युक्तम्°
83. B प्रार्थयते....पाठः°
84. VS यद्वा°
85. B फलेन
86. B, U संरोधार्थम्
87. P_1 प्रमादजं तमः
88. B विद्विषा, U शत्रूणाम्°
89. P_1 रजोक्तम्

दिक्षु विभावितान् प्रसिद्धाँस्तथा यत [90]आगतश्चतुः संख्यांस्तवानुजान् द्विषतां मध्यात्को रणे सहेत[91]। समर्थनायां लिट्। यथा दिग्गजान् यथा च समुद्रान्, शतमन्युवत्तेजो येषां तान्। [92]यद्वा तव कीदृशस्य शतमन्युवत्तेजो यस्य सः। चतुर्ग्रहणं सर्वेषां तुल्यवीर्यत्वप्रतिपादनार्थम्। आयतश्चतुरोऽप्येकवचनान्तं वा व्याख्येयम्॥23॥

एवं स्वस्य परेषां [93]बलं प्रतिपाद्योपसंहरन्स्फुटमेव शत्रुक्षयमाह॥

ज्वलतस्तव जातवेदसः सततं वैरिकृतस्य चेतसि।
विदधातु शमं शिवेतरा रिपुनरीनयनाम्बुसन्ततिः॥2.24॥

[94]तव चित्ते ज्वलतः शत्रुकृतस्याग्ने रोषरूपस्य शिवेतरा शोकजातत्वादशुभा शत्रुस्त्रीबाष्पधारा शमं करोतु॥24॥

इति दर्शितविक्रियं सुतं मरुतः [95]क्रोधपरीतमानसम्।
उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे॥2.25॥

इत्येव [96]दर्शिता विक्रया प्रकृतिभ्रंशो येन तम्। यतो रोषाकुलीकृतचितं[97] भीनसेनमुपसान्त्वयितुमनुनेतुं राजा प्रारेभे। यथा हस्तिंपको मतङ्गजमनुनेतु[100]मारभते॥25॥

क्रूद्धस्योक्ति[101] निराकरणं प्रथममेव न युक्तमित्यतो वचनप्रशंसापूर्वमाह।

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते॥2.26॥

अपवर्जितो विल्पवो बाधो येन तथा शुचौ निर्मले तथा मङ्गलानां स्थाने। अत एव

---

90. U, B आगच्छतः
91. U कः*
92. U यद्वा.....यस्य सः°
93. B बलाबलम्
94. U तव चित्ते°
95. कोप
96. VS दर्शितविक्रिया
97. VS प्रकृतिभ्रंशः
98. VS येन तम्°
99. B भीमसेन....मुतङ्गजम्°
100. U आरभे
101. U निवारणम्

हृदयरञ्जके तव गिरां विस्तरे मतिर्मलरहिता दृश्यते लक्ष्यते। बुद्ध्यनुसारेणोक्तेः स्फुरणात्। आदर्शे यथा वस्तु विमलं दृश्यते। तत्पक्षे विप्लवस्त्रासः ॥26॥

तमेव दर्शयति॥

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्य[103]मपोज्झितं क्वचित्॥2.27॥

उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः।
इदमीदृगनीदृगाशयः प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः॥2.28॥

॥युगलकम्॥

न ईदृग्भवदुक्त[104]वचनसदृश आशयो यस्य सः। क [105]इदमीदृग्वचनं वक्तुमुपक्रमेतारभेत। त्वमेवेदृग्वक्तुं समर्थोऽसीत्यर्थः। यथाशयमुक्तिस्फुरणात्। यतः पदैः स्फुटता प्रसादो न त्यक्तः। प्रसन्नपदतास्तीत्यर्थः। न च लघ्वर्थानि पदानीत्याह अर्थगौरवं न, न स्वीकृतम्। अर्थगौरववन्त्येवेत्यर्थः। गिरां बहूनां वचनानां पृथग्भिन्नोऽर्थो यस्य तद्भावो रचितः। परस्परसम्बद्धानि वाक्यानि यदि न स्युः पृथगर्थता कथं न स्यादित्याह गीर्भिः सामर्थ्यं परस्परसम्बन्धो न त्यक्तः। पूर्वोत्तरवाक्यानां [106]सङ्कीर्णार्थता नास्तीत्यर्थः। भवता वचसामुपपत्तिरुपादानं कथितम्। अनुमानेन [107]बलादागमो बार्हस्पत्यादिर्न चक्षतः। युक्तिनिबद्धानि[108]हि वचां[109]स्यागमवदिष्टानि भवन्ति। [110]हेतुकत्वात् च शब्दः [111]प्रौढिद्योतनार्थः। [112]प्रौढिश्च स्फुटेष्वपि पदेषु महार्थत्वम्। ये स्वशब्दैर्द्रव्यं प्रत्यनुपसर्जनभावमापन्नास्तैर्गुणैः सह षष्ठी समस्यते इत्यर्थगौरवमित्यत्र षष्ठीसमासनिषेधाभावः ॥27, 28॥

---

103. अपोहितम्
104. VS वचन°
105. P_1 इदम्°
106 P_1 असङ्कीर्ण
107. U च्छलाद्
108. VS हि°
109. U, P_1 आगमविरुद्धानि
110. P_1 हेतुमत्वात्
111. U प्रोढद्योतनार्थः
112. U प्रोढ

एवं भीमोक्तिं स्तुत्वा शनैः शनैर्निराकर्तुमाह ॥

अवितृप्ततया तथापि मे हृदयं निर्णयमेव धावति।
अवसाययितुं क्षमाः सुखं न विधेयेषु विशेषसम्पदः ॥2.29॥

यद्यपि भीमसेनवचनं युक्तं तथाप्यतृप्ततया हेतुभूतया मे हृदयं [113]निश्चयमेव धावति अन्विष्यति। निराकाङ्क्षं न जातमित्यर्थः। यतो विधेयेषु कर्तव्यवस्तुविषयेषु विशेषसम्पद इदमेव कर्तव्यमित्येवं रूपस्य विशेषस्य सम्पदः समृद्धयोऽवसाययितुवस्यन्तीः समाप्तिं प्राप्नुवन्तीः। प्रयोक्तुं न क्षमः,निश्चेतुं न शक्यन्ते इत्यर्थः। कर्तव्यसामान्यं सर्वो जानाति। विशेषवस्तु [114]दुर्ज्ञानमित्यर्थः ॥29॥

कर्तव्यविशेषलाभाभावजाता[115]मतृप्तिं सामान्योक्त्योपपादयति ॥

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥2.30॥

निर्विवेकत्वेन क्रियां कार्यं न कुर्यात्, विमृश्य कुर्यादित्यर्थादापतितम्। सहसा करणस्य पूर्वोक्तविमृश्यकरणस्य चापदागमनरूपं श्रीवरणरूपं च फलं हेतुतयात्रोपन्यस्यति। अविवेकः सहसाकारीविपदां [116]परमतिशयितं पदम्। यद्वा परं केवलम् सम्पदो विमृश्यकारिणं विमर्शपूर्वकारिणं स्वयमायासं विनैव [117]वृणते [118]संश्रयन्ति। यतो गुणेषु विवेकादिषु लुब्धाः विवेकेन। श्रीप्राप्तिदर्शनादविवेकेन तु विपद्दर्शनात्सहसा कार्यं न कर्तव्यमित्यर्थः। यदा सहसा [119]बलेन परं केवल[120]मविवेकस्य [121]कुविचारः सन्पुरुषः कार्यं न कुर्यात्। स [122]मम बलिनः कः परिपन्थीति दर्पात्त्यक्तविमर्शतया कार्ये न प्रवर्तेत इत्यर्थः। हिर्यस्मादर्थे आपदां पदं विपदाश्रयमपि विमृश्यकारिणं श्रियः स्वयमेव वृणन्ति। यद्वाऽस्यां व्याख्यायां परमितरं बलहीनमितिव्याख्येयम्। एतेन "द्विरदान्" इवेत्यत्र [123]श्लोके

---

113. U निश्चये; एव°
114. VS दुर्ज्ञेयम्
115. B समाप्तिम्
116. P_1 अतिशय....
117. B वृणत्
118. P_1 संश्रयन्ते
119. B, P_1 परं बलेन
120. B अविवेकः
121. B त्यक्तविचारः
122. VS मम बलिनः कः°

भीमेन यत्स्वविषयबलप्रशंसा कृता तन्निरस्तम्। प्रथमव्याख्यायास्तु "द्विषतामुदय" इत्यादिश्लोकद्वयेन सहसैव यद्विपत्प्रतीकारोद्यमः कथितस्तन्निरासः। तथा "भवन्तमेतर्हि" इत्यादिद्रौपद्युक्ते प्रतिक्षेपः सिद्धः ॥30॥

तदलमिति भीमोक्तिमवन्ध्यकोपस्येत्यादिद्रौपद्युक्तिं च निरसितुमाह॥

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिबिजानि विवेकवारिणा।
स सदा फलशालिनी क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति ॥2.31॥

यो विधयः कार्याण्येव बीजानि शाल्यादीनि विवेकजलेनाभिवर्षति सिञ्चति। अनुपालयन्प्रत्यवेक्षोद्यतः स पुरुषः सफलां क्रियामाश्रयति। यथा लोकः कार्षिको जनः शरदम्। तत्पक्षे फलं शाल्यादि ॥31॥

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलङ्क्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥2.32॥

शुद्धं शास्त्रं कर्तृवपुर्भूषयति तस्य शास्त्रस्य [124]"प्रशमोऽनौद्धत्यं भूषणं भवति। दर्पेण विद्याजातयशोहानेः पराक्रमः शमस्य भूषणम्। पौरुषं विनाऽशमे दैन्यसम्भावनात्। स पराक्रमः नयेनापादिता सिद्धिर्भूषणं यस्य सः। नीतिरहिते शौर्ये चापल्यव्यपदेशापत्तेः ॥32॥

मतभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ॥2.33॥

इदं रम्यमिदं रम्यतरमिति सामादिप्रयोगरूपाणां मतानां भेदस्तेन तिरोहिते दुर्निश्चये। यतो गहने दुर्विगाहे करणीयवस्तुनि सुकृतोऽभ्यस्तस्तथा शुद्ध आगमः शास्त्रमर्थस्य [125]तत्त्वस्य दर्शनं कुरुते। शास्त्रमेव [126]परमार्थं दर्शयतीत्यर्थः। यथा दीपः। स तिमिरे प्रदेशेऽर्थानां घटपटादीनां दर्शनं करोति ॥33॥

विवेकपूर्वं प्रयतमानानां पातोऽपि न दोषायेति प्रतिपादयितुमाह॥

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरि ते वर्त्मनि यच्छतां मनः।
विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः ॥2.34॥

स्पृहणीयाः श्रद्धेया गुणा येषां तैर्महात्मभिः सेविते मार्गे मनो यच्छताम्। तेन

---

123. U श्लोकेन
124. U प्रथमो
125. P1 तत्त्वदर्शनम्
126. VS परमार्थिं P_1 परार्थम्

मार्गेणागच्छतामित्यर्थः। विनिपातोऽप्युच्चपदाद्भ्रंशोऽपि समुन्नतेत्युच्चपदस्थत्वस्य समः। यतो विधिर्न तु शत्रवो हेतुर्यस्य तथाऽऽगसामहेतुः। अविद्यमानो हेतुर्हेतुत्वं यत्र सः। अपराधेभ्योऽनुत्पन्न इत्यर्थः। भावप्रधानोऽयं निर्देशः। यथामृदुव्यवहितं तेज इत्यत्र यथा वा "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" (1/4/22 पा.सू.) इत्यत्र द्व्येकयोरित्यस्य द्विवचनान्तत्वज्ञापितो यथा भावप्रधाननिर्देशस्तथेहाप्यन्वयोक्तो हेतुशब्दस्य भावप्रधाननिर्देशः शुक्लदूरादिशब्दवत्। यद्वात्रागः शब्देनागस्कृतान्यपयशांसि [128]लक्ष्यन्ते। कार्ये कारणोपचारात्। दृश्यते च कार्ये कारणोपचारः। यथा कण्ठचरिते वचोदेवी प्रसादीकृतमित्यत्र प्रसादशब्देन प्रसादहेतुकं वस्त्वभिधीयते। स्पृहणीयगुणैः श्लाघ्यबन्धनरज्जुभीरथैः सेविते मार्गे च गच्छतां पतनं न दोषः। एतेन त्वयात्महस्तेन महीति द्विषन्निमित्ता यदियमिति [130]च द्रौपद्युक्तिं निरस्यति। क्षत्रियेण द्यूतार्थमाहूतेन द्यूतान्ननिवर्तव्यमिति द्यूतप्रवृत्तोऽहं च्छलात्तैर्यद्वञ्चितस्तन्मम [131]नौन्नत्यं भ्रंशकरमित्यर्थः ॥34॥

विवेकपूर्वेणैव पुरुषोऽकारणे सिद्धिरिति प्रतिपादयितुमाह॥

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम्।
विगण्य्य नयन्ति पौरुषं विहित[132]क्रोधजया जिगीषवः ॥2.35॥

जिगीषवो जेतुकामाः पौरुषं कर्मभूतं शिवं शुभमौपयिकं सामाद्यन्यतममुपायं नयन्ति। पौरुषोपायौ समं प्रयुञ्जते इत्यर्थः। किं कृत्वाऽदूषितायतिं गुरुतरां फलनिष्पत्तिं गणयित्वा। [133]विमर्शपूर्वं पौरुषोपायप्रयोगः कार्य इत्यर्थः। यद्वाऽदूषितामदूषणामायतिं गणयित्वा जेतुकामाः पौरुषं फलसिद्धिं नयन्ति। पौरुषं किं शिवमौपायिकं फलसिद्ध्यर्थं श्रेष्ठमुपायं तत्प्रयोगे फलसिद्धिरवश्यं भवतीत्यर्थः। यद्वा पौरुषं विगणय्यावमन्य शिवमौपायिकं सामादिकं फलनिष्पत्तिं नयन्ति। यद्वा शिवमुपायं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिं च गणयित्वा पौरुषं नयन्ति कुर्वन्ति। कृतक्रोधजयाः औपयिकमिति "विनयादिभ्यष्ठक्" (5/4/34 पा.सू.) ॥35॥

---

127. U, P_1, B स *
128. U लक्ष्यते
129. VS च°
130. P_1 द्रौपद्युक्तिं च
131. P_1, नौन्नत्यभ्रंश....
132. क्रोधरया
133. VS, U विमर्श....त्यर्थः।°

एवं विवेकं स्तुत्वा रोषं निन्दितुमाह॥

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते[133.1] ॥2.36॥

उदेतुकामेन प्रथमं रोषं तमो बुध्द्या [134]निवार्यम्। दीप्त्यान्धकार[135]मनिवार्य सूर्येणापि नोदीयते। उदीयते इत्युत्पूर्वस्य "ईण् गतौ" इत्यस्य रूपम्। एतेन कथं न मन्युर्ज्वलयतीत्यादिकां द्रौपद्युक्तिमपि खण्डयति॥36॥

रोषतमोग्रस्तानामुदयः कथं नाम स्यादिति प्रतिपादयितुमाह॥

बलवानपि [137]रोषजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः॥2.37॥

कोपान्धकारात्पराभवं बलवानपि यो न रुणद्धि समस्ताः शक्तिसमृद्धीर्हन्ति। यथा कृष्णपक्षश्चाद्रीः कलाः। स च तमो मयः॥37॥

विवेकपौरुषाभ्यामेव सर्वं लभ्यते इत्याह॥

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः॥2.38॥

चयापचयरहितो यो मृदुतामाश्रयति तथा समये परस्माद्बलाधिक्ये सति यस्तीव्रतां करोति स राजा तेजसा भुवनमाक्रामति। यथा विवस्वानर्कः। स समवृत्तिर्विषुवदादौ वर्तमानो मृदुः। समये निदाघादौ तीक्ष्णः॥38॥

क्व चिराय परिग्रहः श्रीयां क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः॥2.39॥

चिरं श्रियां परिग्रहः क्व? दुष्टेन्द्रियाण्येव वाजिनस्तेषां क्व विधेयत्वम् बहुच्छला। अत एव शरन्मेघचपला लक्ष्म्यश्चपलेन्द्रियै रक्षितुं न [138]शक्यन्ते॥39॥

क्रोधो यस्य स्वभावस्तस्योपदेशोऽनर्थको न च भवांस्तथाविध इति प्रतिपादयितुमाह॥

131.1 VS. अभ्युदीयते
134. VS, U निवार्य
135. P_1 निशातमम्*
137. कोप
138. U, VS शक्यते

किमसामयिकं वितन्वता मनसः क्षोभमुपात्तरंहसः।
क्रियते पतिरुच्चकैरपां भवता धीरतयाधरीकृतः॥2.40॥

गृहीतरोषवेगस्य चित्तस्याकालिकं क्षोभं वितन्वता [139]त्वया पूर्वं धैर्येण जितः समुद्र उच्चकैः किं क्रियते। समुद्रस्य काले सति क्षोभदर्शनात्। त्वं तु पूर्वं समयेऽपि नाक्षोभ्यः। अद्य कथमकाले एव क्षुभ्यसे इत्यर्थः। अधरीकृतस्योनीकृतस्योच्चकैः करणमाधिक्यापादनमयुक्तम्॥41॥

भवादृशां क्रोधावेशोऽतिनिन्दावह इति प्रतिपादयितुमाह॥

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून्विनयन्ते न शरीरजन्मनः।
जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम्॥2.41॥

शास्त्रमप्यधीत्य ये देहस्थाञ्शत्रून् कोपादीन्न विनयन्ते न नियमयन्ति ते चापलत्वमाश्रयो निदानं यस्य तदपयशो लक्ष्मीणां जनयन्ति। अहो लक्ष्मीर्लोला यद्गुणवत्स्वपि चिरं न तिष्ठतीति [140]लोको लक्ष्मीं निन्दतीत्यर्थः। श्रीस्तथाविधेषु न तिष्ठतीति तात्पर्यम्॥41॥

अत[141]स्तव कोप[142]वशत्वं न युक्तमित्याह॥

अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापिनी।
जनयन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतुमर्हति॥2.42

काल एव साधनं प्राप्त्युपायः। अतिपातितमुल्लङ्घितं यया सा तथा निजदेहेन्द्रियगणतापप्रदा अक्षमाऽक्षान्तिरितरजनमिव त्वां नयसिद्धेः भ्रंशयितुं नार्हति। यथा प्राकृतजनस्य नयसिद्धिभ्रंशः क्रोधेन भवति तथा तव मा भूदित्यर्थः॥42॥

एवमक्षमादूषणेन भीमस्य समरसंरम्भं निवार्य क्षमाश्रद्धया द्विषतामुदय इत्येतन्निरसितुमाह॥

उपकारक[143]मायतौ भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम्॥2.43॥

---

139. P_1, त्वया
140. P_1 लोको.....तिष्ठतीति°
141. U एव
142. P_1 वशयत्वमित्याह
143. आयतेः

आयतौ भाविनि काले भृशंमुपकारकं [144]तथा प्रभूतस्य क्रियाफलस्य [145]प्रसवः पुष्पं क्षमयैव कार्यफलप्राप्तेः। तथाऽनपायि निरुपायं शत्रूणां निबर्हणं बाधा, वैरिबाधाकरमित्यर्थः। कवचादिभिः शरणामिव क्षमायाः केनाप्य[146]हतशक्तित्वात्। तितिक्षायाः क्षमायाः सदृशं साधनमुपायो नास्ति। क्षमावतां शत्रवः स्वयमेव गलन्तीत्यर्थः। क्षमायां कृतायां तेन दानमानाभ्यां राज्ञां वशीकरिष्यमाणत्वात् ॥43॥

निःसहायानामस्माकं [147]का सिद्धिरित्याशङ्क्याह॥

प्रणतिप्रवणान्विहाय नः सहज[148]प्रेमनिबद्धचेतसः।
प्रणमन्ति सदा सुयोधनं प्रथमे मानभृतां न वृष्णयः॥2.44॥

प्रणत्या प्रवणान्स्निग्धान्नस्त्यक्त्वा वृष्णयो दुर्योधनं सदा न नमन्ति। यतः सहजेन प्रेम्णा निबद्धमस्मदेकविषयीकृतं चेतो येषां तथा मानिनामाद्याः ॥44॥

केवलैर्वृष्णिभिः कियत्सहायमित्याह॥

सुहृदः सहजास्तथेतरे मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये।
विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये॥2.45॥

ये सहजा नः सुहृदः सखा यः तथा ये सुहृद्भ्य इतरेतरस्य शत्रवः। अथवा नः सहजाः सुहृदस्तथेतरे कृत्रिमाः सुहृद इति[149] व्याख्येयम्। एषां सुहृदामितरेषां च ये मतं नोल्लङ्घयन्ति ते विनयादिव न पुनस्तात्त्विकविनयात् दुर्योधनमात्मसिद्धयर्थं यापयन्ति। अस्मत्कृतामेवावधिं प्रतीक्षन्ते इत्यर्थः। अथवा एषां वृष्णीनां ये सुहृदस्तथेतरे तथैवैषां [150]मतं [151]ये [152]नोल्लङ्घयन्ति ते सदा दुर्योधनं न नमन्ति ॥45॥

अवधावतीते[153] कार्यसिद्धावुपपत्तिमाह॥

---

144. U तस्य
145. U प्रसवः°
146. U हित
147. P_1 कार्य सिद्धिः कथम्
148. स्नेह
149. U वा*
150. U, P_1, B आज्ञाम्
151. VS ये*
152. U, P_1, B न लङ्घयन्ति
153. P_1 नः*

अभियोग इमान्महीभूजो भवता तस्य कृतः कृतावधेः।
प्रविघाटयिता समुत्पतन्हरिदश्वः कमलाकरानिव ॥2.46॥

[154]कृतोऽतीतोऽवधिर्यस्य तस्य त्वया कृतोऽभियोग आक्षेप एतान् राज्ञो भेदयिता लुट्। यथोदयन्नर्कः पद्माकरान्विघटयति तस्येति "षष्ठी चानादरे" (2/3/38 पा.) इति षष्ठी ॥46॥

न केवलमेते एव भिद्यन्ते याव[155]दस्मत्क्षमयान्येऽपीति दर्शयितुमाह॥

उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः।
सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥2.47॥

मदोद्धतत्वादन्यानपि राज्ञोऽवमन्यमानः स भेदसहान् कर्ता युक्तमेतत्। सामान्यजनोऽप्यधःक्रियां तिरस्कारं न सहते। राजकं राजसमूहोऽधःक्रियां किमु सहेत। यतो लोकादधिकं धाम यस्य तत् ॥47॥

नीतिज्ञस्य तस्य कथं मदोद्धतत्वमित्याशङ्क्याह॥

असमापितकृत्यसम्पदां हतवेगं विनयेन तावता।
प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥2.48॥

[156]अभिमानेन ये शालन्ति तेषां मदमुत्तम्भयितुमुद्रेचयितुं लक्ष्म्यः प्रभवन्ति। मदस्योत्तम्भनापेक्षा कस्माद्धेतोर्भवतीत्याह असमापनरूपेणाल्पेनेत्यर्थः। विनयेन हतो वेगो यस्यः सः तेषां विनयः कथं भवेदित्याह असमापिताः कृत्यानां सम्पदो बाहुल्यानि यैः। यावन्न कार्याणि सम्पन्नानि तावत्कृत्रिमेण विनयेन मन्दीकृतं मदम्। कार्यसिद्धौ लक्ष्म्योऽभिमानिनामुत्तम्भयन्तीत्यर्थः। अस्मत्क्षमया तस्य लक्ष्मीप्राप्तौ सत्यां विनयापगमेन मदवृद्धिर्भवतीत्यर्थः ॥48॥

एवं सति न केवलं राजान एव तस्माद्भिद्यन्ते यावत् प्रजा [157]अपि विघटन्ते इत्याह॥

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता।
[158]अतिमूढमुदस्यते [159]नयो नयहीनादपरज्यते जनः ॥2.49॥

---

154. P_1 कृतातीतो....
155. U अस्मत्°
156. U अभिमाने; P_1, B अभिमानम्
157. U वैराग्यमपपातयतीत्याह
158. अतिमूढ
159. नयात्

मदमानाभ्यां समुद्धतं राजानं मूढता ध्रुवं न त्यजति। नयोऽतिमूढं त्यजति। नयवर्जिताज्जनोऽपरक्तो भवति ॥49॥

अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः।
सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥2.50॥

पूर्वोक्तजनापराग एव समीरण[160]स्तेनेरितश्चालितोऽत एव क्रमेण शीर्णा [161]विशरारवः सम्पन्ना। अखिला मूलसन्ततयो मौलवर्गा यस्य स राजा महानऽपि वृक्ष इवोन्मूलयितुमुत्खनितुं सुकरः। सुखेन तथाविधो राज्या[162]त्पात्यत इत्यर्थः। तरुपक्षे मूलानि पादाः ॥50॥

निजाः[163] प्रभोरौद्धत्येन विरक्ताः प्रकृतयः किं कुर्युरित्याह॥

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तःप्रकृतिप्रकोपजः।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः ॥2.51॥

अन्तः प्रकृतायोऽमात्या जनपदाश्च तेषां प्रकोपाज्जातोऽल्पोऽपि विग्रहः प्रभुमुपहन्ति। यथा तरुशाखान्तानां निघर्षाद्घर्षणाज्जातोऽग्निः समस्तं शैलं दहति ॥51॥

"अनुपालयता[164]मुदेष्यतीम्" इति निरसितुमाह॥

मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षते समुन्नतिं द्विषः।
सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥2.52॥

विनयत्यागिनः शत्रोरौन्नत्यं प्राज्ञः समुपेक्षते तदौन्नत्यनाशे यत्नं न कुर्यात्। तादृग्विनयप्रमाथी छिद्रे सति सुजयो विरक्तप्रकृतित्वादिति भावः। युक्तमेतत्, अविनीतानां श्रियो विपदन्ते परिणामे यासां ता भवन्ति ॥52॥

अत्रोपपत्तिमाह॥

[165]लघुवृत्ततया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम्।
अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारयः ॥2.53॥

---

160. P_1 तेनैरित....
161. U, B विशाखा
162. P_1 B पात्यते
163. U प्रजाः*
164. P_1 B उदीष्यतीम्
165. लघुवृत्तितया

बहिः प्रजारूपमन्तः प्रकृतिरूपं मण्डलमनन्तरोऽपगतच्छिद्रो राजा पराजित्य न तु च्छलादिकृत्वा हरति। यतो लघुवृत्ततया विनयत्यागेन भिदां गतं विभिन्नम्। यथानन्तरो विच्छेदरहितः प्रवाहो बहिरन्तश्च शिथिलं तटं हरति। तत् पक्षे लघुवृत्तता गुरुत्वाभावः ॥53॥

अनुशासितमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम्।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः ॥2.54॥

आकुलं क्षुभितं सन्तं भीमं नयवर्त्म नीतिशास्त्रमुपदिशन्तं राजानं व्यासः स्वयमुपागमत्। अनाकुलमित्युपदेशक्रियाविशेषणम्। नयवर्त्माकुलमित्येकं पदं वा। अत उत्प्रेक्ष्यते अभिलषितोऽर्थ उदय[166]लक्षण इत्यर्थः। तेनैव राजर्षिणा पाण्डवानामुदयप्राप्त्यर्थमुपायस्य सन्दर्शनात् स्वयं मूर्त इति वा व्याख्येयम् ॥54॥

मधुरैरवशानि [167]लम्बयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः।
परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम् ॥2.55॥

मधुरैराश्वासकारिभिर्निरीक्षितैर्विक्षणैस्तिर्यञ्चि शमं लम्बयन्प्रापयन्। अवशानि [168]शमस्यानायत्तानि तद्दृष्टिपातमात्रेणैव सिंहादीनामपि शमो जात इत्यर्थः। सामान्यग्रहणार्थस्तिर्यञ्चीति नपुंसकेन निर्देशः। [169]तथैनसां पापानां पट्वत्यर्थं दहनं भस्मता पादकं च विलोकने क्षमं योग्यं न तु तेजोऽन्तरवद् द्रष्टुमशक्यं धाम बिभ्रत् ॥53॥

सहसोपगतः सविस्मयं तपसां सूतिरसूतिरापदाम्।
ददृशे जगतीभुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसंचयः ॥2.56॥

राज्ञा स राजर्षिः साश्चर्यं वीक्षितः। यतः सहसाऽचिन्तितमुपागतः प्राप्तः। अचिन्तितागमने किमाश्चर्यमित्याह तपसां सूतिरुत्पत्तिः विपदामसूतिर्जन्माभावः। यथा हि मर्तुर्मरण[170]मित्यत्र हि मर्तुर्मरणं सम्पादयतीति लक्ष्यते। तथेहापि सूतिशब्देन सूतिं करोतीति लक्ष्यते। क्रिया तत्कर्त्रोरभेदोपचारात्। अत एवोत्प्रेक्ष्यते वपुश्मान्मूर्तः पुण्यसञ्चय इव ॥56॥

अधोच्चकैरासनतः परार्ध्यादुद्यन्स धूतारुणवल्कलाग्रः।
रराज कीर्णाकपिशांशुजालः शुङ्गात्सुमेरोरिव [171]घर्मरश्मिः ॥2.57॥

---

166. P_1 लक्ष्मण
167. लम्भयन्
168. P_1 शम्यमान
169. अथैनसां
170. P_1 सत्यत्र
171. तिग्मरश्मिः

अथ ऋषि[172]दर्शनान्तरं पराध्र्याच्छुचेरुन्नतादासनादुदतिष्ठंस्तथा धूतं कम्पितमरुणं काषायत्वाद्वल्कलाग्रं येन सः ऋषे रजः सम्पर्कशङ्क्येति भावः। स रराज यथा मेरुशृङ्गादुद्यन्क्षिप्त लोहितातपोऽर्कः। भाविन्या उदयप्राप्तेरुपक्षेपार्थमुद्यन्नादित्य तपमानतया निबद्धः॥57॥

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरुपदिष्टाम्।
तदनुमतमलंचकार पश्चात् प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः॥2.58॥

सावधानचित्तः स मुनिरिव न तु राजेव। राजर्षौ पुरोहितोपदिष्टां प्रजां कृत्वा युधिष्ठरो राजर्षि समादिष्टमासनम्। राजर्षिनिवेशनात्पश्चादशोभयत्। यथा विनयः शास्त्रम्॥58॥

राजर्षेः पूजां कुर्वतो राज्ञो हर्षोत्पत्तिद्वारेण भक्तिमाह॥

व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ-
स्तिष्ठन्मुनेरभिमुखं स विकीर्णधाम्नः।
तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं
लक्ष्मीमुवाह सकलस्य [173]मृगाङ्कमूर्तेः॥2.59॥

स्फुरत्तेजसो मनुरग्रे तिष्ठन्नत एवानन्दवशात्प्रकटोत्पन्नहसितां शुशोभिताधरः स राजा सम्पूर्णस्य चन्द्रस्य शोभां प्राप। कीदृशस्य गुरुं बृहस्पतिमभितो वर्तमानस्य। इद्धमंशुनिकरं विस्तारयन्तम्। ऋषिर्बृहस्पतेरुपमानं धाम्नो शवः राज्ञश्चन्द्रः हासः पूर्णत्वस्य पूर्णत्वे दीप्तिमयत्वादिति भद्रम्॥59॥

इति कविचक्रवर्तिश्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां द्वितीयः सर्गः॥

---

172. U दर्शनात्
173. शशाङ्क

॥तृतीयः सर्गः॥

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः।
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटा[1]स्तडिद्वन्तमिवाम्बुवाहम्॥3.1॥

धर्मात्मज इत्यन्तं वाक्यम्। आह्लादकत्वस्वभावात् शरदिन्दुसुन्दरैरुत्सर्पिभिरूर्ध्वगमनशीलैः, तेजस ऊर्ध्वगमनत्वस्वभावात् अंशुजालैः करणभूतैरुन्नतमिव। अथवांऽशुजालैरिवोन्नतमिति योज्यम्। [2]आनीलरुचं तपः क्लेशवशादितिभावः। तथा निःस्नेहत्वात्पिशङ्गीर्जटा दधत्। अत एव नित्यं विद्युत्सहितं मेघमिवेति कल्पितोपमा। [3]तडिद्वन्तमिति नित्ययोगे मतुपो विधानात्॥1॥

प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुष्प्रकर्षेण जनातिगेन।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम्॥3.2॥

लोकातिशायिनाकारविशेषेण पूर्णां प्रसादश्रियं दधतं न त्वन्यमुनिवदुरीक्षत्वम्। ते हि तपःक्लिष्टत्वादुरीक्षाः त[4]थार्द्रभावतायामपरिचितनां[5] चेतःस्वार्द्रभावं सौम्यत्वं [6]हठात्समासजन्तं संक्रामयन्तम्। तद्दर्शनाद्धिंस्रैरपि प्रसाद एवाशंसित [7]इवेत्यर्थः॥2॥

अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम्।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसम्भाषमिवेक्षितेन॥3.3॥

न केवलमाकारेणैव प्रसन्नतां दधतं यावदनुद्धताकारतया सौम्यमूर्तित्वेन मनोवृत्तिं [8]विविक्तां निष्पापां द्योतयन्तम्। आकारस्य प्रसादक्रौर्ययोर्मनोनुवर्त्तित्वात्। माधुर्येण

---

1. तडित्त्वन्तम्
2. P_1 आलील
3. P_1 तडित्वन्तम्
4. U असंस्तुतानामपंरि.....
5. P_1, B अपि*
6. U हठात्°
7. VS इत्यर्थः
8. P1 विवक्ताम्

सौम्यत्वेन विस्रम्भविशेषं विश्वासाधिक्यं भाजयतोत्पादयता वीक्षणेन कृतकुशलप्रश्नमिव। कुशलप्रश्नेन यावान्विश्वासो जायते तावांस्तद्दृष्टिपातमात्रेणेत्यर्थः ॥3॥

धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीनां प्रसूतिमेनः प्रणुदां श्रुतीनाम्।
हेतुं तदभ्यागमेन परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमाबभाषे ॥3.4॥

धर्मं निबन्धयन्ति व्यवस्थापयन्ति तथैनः [9]पापं प्रणुदन्ति तासां श्रुतीनां प्रसूतिमाविष्करणे हेतुं तथा सुखं यथा भवति तथोपविष्टं मुनिं युधिष्ठिरोऽवदत्। यतस्तस्य मुनेरभ्यागमने हेतुं परीप्सुः प्राप्तुकामः ॥4॥

अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्यः निर्धूतरजाः सवित्री।
तुल्या भवद्दर्शनसम्पदेषा वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः ॥3.5॥

एषा भवतो दर्शनलक्ष्मीस्तुल्या भवति। कस्या वीतबलाहकाया। दिवो वृष्टेः निर्मेघादाकाशाद्वर्षणस्याचिन्तितोपनतत्वादिति भावः। सादृश्यं विशेषणभावद्वारेणापि दर्शयति। अनाप्तः पुण्योपचयो यैरपुण्यवद्भिर्दुर्लभा। तथा फलस्य जयस्य शाल्यादेश्च सवित्र्युत्पादयित्री निर्धूतं रजो धूलिः, रजो गुणश्च यया ॥5॥

अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां सत्याशिषः सम्प्रति भूमिदेवाः।
आ संसृतेरस्मि जगत्सुजातस्त्वय्यागते यद्बहुमानपात्रम् ॥3.6॥

क्रतूनां राजसूयादीनां क्रिया अनुष्ठानानि कामदुघा अभिलषितप्रदा इति यत्तदद्य भवति जाता[9.1] इति वा। लिङ्गपरिणामः भूमिदेवा ब्रह्मणाः सत्याशिष इति यत्तत्संप्रति भवति। जातं वा प्रादुर्भूतम्। यतः संसारं यावदहं भुवनेषु बहोर्मानस्यादरस्य पात्रं स्थानं जातः। एतदेव हि यज्ञानुष्ठानस्य ब्राह्मणाशिषां च फलं यन्मानलाभः त्वदागमनेन पापक्षये जाते सति। शत्रुक्षयस्यावश्यंभावित्वान्मानप्राप्तिर्भविष्यति इति भावः। मया यज्ञेषु तर्पिता द्विजातयो यामाशिषमकुर्वंस्त[10]त्फलमद्यैव जातमित्यर्थः ॥6॥

मानोत्पत्तिकारणं स्फुटयितुमाह ॥

श्रियं विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः परिस्रौति तनोति कीर्तिम्।
सन्दर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न [10.1]दत्ते ॥3.7॥

आत्मयोनेर्ब्रह्मण इव लोकानां गुरोस्तव दर्शनं किं न दत्ते। सर्वमेव ददातीत्यर्थः।

---

9. U पापम्°
9.1. VS जातम्
10. P_1 फलमेवाद्यैव; B कलमेवमद्यैव
10.1. P_1 धत्ते, VS द / ध (अस्पष्ट)

यतोऽमोघं सफलं तथा हि त्वद्दर्शनं लक्ष्मीं शत्रुभ्य आकर्षति। पापानि हन्ति। शुभं दत्ते। यशो विस्तारयति। लोकद्वयेऽपि शुभावहमित्यर्थः॥7॥

न केवलं त्वद्दर्शनेन मानोत्पत्तिर्यावत्सुखमपीति दर्शयितुमिाह॥

श्च्योतन्मयुखेऽपि हिमद्युतौ मे ननिर्वृतं निर्वृतिमेति चक्षुः।
समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्वत्सन्निधावुच्छ्वसतीव चेतः॥3.8॥

श्च्योतन्तः सुधास्त्राविणो मयूखा यस्य तस्मिंश्चन्द्रेऽपि न निर्वृतमप्राप्तसुखं नेत्रमद्य सुखं [11]लभते। यतः समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्यक्तबन्धुविरहग्लानि यतस्त्यक्तबान्धविश्लेषशोकं चित्तं त्वत्सन्निधावुच्छ्वसमिव प्राप्नोति। सर्वबन्धुसंयोगाद्भवद्दर्शनमधिकमित्यर्थः। न केवलं शरीरेणैवाद्य सुखं [11.1]प्राप्तं यावच्चेतसापीत्यर्थः॥8॥

निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम्।
तथापि कल्याणकरीं गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति॥3.9॥

कस्माद्धेतो[12]र्भवानागत इति प्रश्ने कुतूहलं निरास्पदं निष्प्रतिष्ठम्। न युक्तमित्यर्थः। यतः किमु किं वस्तुनिस्पृहाणामस्मासु राजस्वधीनमायत्तं न किञ्चिदित्यर्थः। यद्यपि वीतरागत्वाद्भवतामागमनप्रयोजनप्रश्नो न युक्तस्तथापि मङ्गलावहां तव [12.1]वाचं श्रोतुं लोभो मां मुखरीकरोति। त्वद्वाक्यश्रवणलोभादागमनप्रयोजनं पृच्छामीत्यर्थः। पृच्छतोऽवश्यमुत्तरं देय[13]मित्यर्थः॥9॥

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ।
उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः॥3.10॥

द्वैपायनेन व्यासेन राजा वाचमभिदधे। कीदृश उक्तिविशेषेण रम्यमित्येवमागमन[14]हेतुप्रश्नमुक्तवान्। किं कृत्वा जयोपपत्तौ। जयस्योपादाने मनः [15]समाधाय भावयित्वा। [16]समादधाते राजा व्यासो वा कर्तृत्वेन व्याख्येयः। यत उदारचेताः॥10॥

स्वागमने श्लोकाभ्यामुपपत्तिमाह॥

---

11. P_1 लभ्यते
11.1. VS प्राप्तम्°
12. P_1 भवदागत
12.1. VS वाच
13. U इत्याशयः
14. U प्रयोजन; P_1 हेतुम्
15. P_1 समादाय VS. समाय
16. VS समाधाने

[17]जिगीषतां जन्मवतामलघ्वीं यशोवतंसामुभयत्र भूतिम्।
अभ्यर्हिता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम्॥3.11॥

जन्मवतां देहिनां वृत्तिर्वर्तनं बन्धुविषये तुल्यरूपाऽभ्यर्हिता पूजिता। उभयत्र लोकद्वये कीर्तिभूषणां श्रियं प्राप्तुकामानां बन्धुषु समदृष्ट्या यशः श्रियो भवत इत्यर्थः। तपोधनानां निःस्पृहाणं तु विशेषेण जिगीषु सकाशादाधिक्येन बन्धुषु वृत्तिः सदृशी पूजिता। वैषम्येन दर्शनस्य लोभमूलत्वात्॥

तथापि निघ्नं नृप तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः।
वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः॥3.12॥

नृपेत्यामन्त्रणं राज्यप्राप्तिसूचकम्। यद्यपि तपस्विनां बन्धुषु दृष्टिः सदृशी युक्ता तथापि तावकीनैस्त्वदीयैर्गुणौघै[18]र्मे हृदयं प्रह्वीकृतमेकपक्षीकृतम्। स्वपक्षतां नीतम्। यतो निघ्नं गुणायत्तम्। त्वद्गुणदर्शनेन मम दृष्टिस्त्वय्येव निविष्टेत्यर्थः। यदि तपस्विनां बन्धुविषया समादृष्टिरुचिता तत्कथं भवान्मयि स्नेहपर इत्याह निःस्पृहाणामपि मुक्तिपराणां भव्येषु गुणिष्वेव पक्षपातः। भवन्तः सगुणा दुर्योधनादयस्तु निर्गुणा इति भवत्स्वेव पक्षपातो युक्तः। भव्यगेयेति भव्यशब्दः साधुः॥12॥

न च धृतराष्ट्रादयः केवलं निर्गुणायावद्दोषमया एवेत्याह॥

सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः सुयोधनं वा न गुणैरतीताः।
[19]यत्त्यक्तवान् वः स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः॥3.13॥

[20]स धृतराष्ट्रो वो युष्मान्यत्त्यक्तवान् तद् वृथा। बलाद्वा मोहं विधत्ते अयुक्तमेवेत्यर्थः। यतो यूयं तस्य धृतराष्ट्रस्य पुत्राः किमु न भवथ पुत्रा एवेत्यर्थः। धर्मशास्त्रेषु भ्रातृपुत्रस्यापि पुत्रातिदेशात्। पुत्रोऽपि यदि निर्गुणः किं तेनेत्याह यूयं दुर्योधनं गुणैः किमु वा नातीता जितवन्तः। दुर्योधनाद्यूयमधिकगुणा इत्यर्थः। गुणवतः पुत्रस्य दुर्लभत्वादऽत्यक्तव्या अपि यूयं तेन राज्ञा यत्त्यक्तास्तदयुक्तं कृतमित्यर्थः। यद्वा यूयं तस्य यत्पुत्रा यद्दुर्योधनातिगाश्च ततो हेतोः स वो वृथा त्यक्तवानिति योज्यम्। वा पक्षान्तरे विषयेषु भोगेष्वभिलाषो मोहं युक्तायुक्तविमर्शाभावरूपं विधत्ते। स्वकीयत्वे सगुणत्वे च

---

17. चिचीषचाम्
18. U मद्धृदयम्
19. यस्
20. U सꣳ

स्वीकारहेतौ सत्यपि स वो यत्त्यक्तवांस्तदनुचितम्। एवं तेषु धृतराष्ट्रादिषु दोषवत्सु [21]सत्सु [22]भवत्सु च गुणशालिषु भवत्स्वेव पक्षपातो युक्तः॥13॥

अलमुपालम्भेन तन्निराकृता वयं वनेष्वेव लुठाम इति माऽवमंस्था इत्याह॥

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।
असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि॥3.14॥

कार्यसिद्धिरेनं राजानं कथं न त्यजतु योऽर्थसिद्धिषु संशय्य सन्दिह्य कर्णादिषु तिष्ठते। कर्णादीन्स्थेयीकृत्य कार्यसाधने प्रवर्तते इत्यर्थः। कर्णादीनां स्थेयत्वेन कथं श्रीस्तं त्यजतीत्याह खलसंसर्गाः प्रमथशीलानां विपदां पदानि स्थानानि भवन्ति। यतो जयस्यान्तराया विघ्नाः [23]कर्णाः परमखलस्तं पृष्ट्वाऽर्थसाधने प्रवर्तमानं दुर्योधनं श्रीस्त्यजत्येवेत्यर्थः। तिष्ठते इति "प्रकाशनप्रतिज्ञास्थेय" (1/3/23 पा.) इत्यात्मनेपदम्। खलानां संसर्गमात्रमपि विपन्मूलम्। तेषां प्रमातृत्वारोपेण श्रीः कथं न नश्यतीति तात्पर्यम्॥14॥

पाण्डवस्य गुणान्विवक्षुराह॥॥

पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय।
त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु॥3.15॥

तव यद्गुणेषु प्रेम परं[24] महान् रागस्तत्त्वया प्रकटीकृतम्। यतः पथश्च्युतायां मार्गत्यागिन्यामपि रिपूणां समितौ वर्गे समूहे विषये विपत्कालेऽपि धर्म्यां धर्मानुवर्तिनी स्थितिं दधता, यद्वा विपत्स्वपि विपत्कालेऽपि त्वया गुणेषु प्रेम परं रागः [25]केवलं प्रकटीकृतम्। अविपत्तौ सम्पत्तौ रम्यम्। अथवाऽविपत्त्यऽक्षयमिति योज्यम्। अविपत्तौ विपदभावे रम्यमिति वा [25.1]योज्यम्॥15॥

विधाय विध्वंसमनात्मनीनं शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन।
प्रकाशितत्वन्मतिशील[illegible]कृतोपकारा इव विद्विषस्ते॥3.16॥

भवतश्छलेन विध्वंसं [26]पराजयं कृत्वा। अत एवानात्मने हितं

---

21. P_1 सत्सु°
22. U भवत्सु°
23. VS कर्णः
24. P_1 गुणेषु*
25. U P_1, B केवलः
25.1. P_1, B, U स्थाप्यम्, P_1
26. U पराभवम्

शत्रवस्तवोपकारमिवाकुर्वन्। यतः प्रकाशितं त्वन्मतेः शीलसारं यैः। यतः शमैकवृत्तेः सत्यनिष्ठस्य यदि न शत्रवस्त्वच्छलेन पराजयं कुर्युः। का तव सत्यपरत्वेन कीर्तिः स्यात्। तथा परिभूतोऽपि त्वं यत् सत्यपर एवातो महती कीर्तिर्जातेत्यर्थः॥16॥

अतश्च स्वागमनस्य [27]कारणे दिङ्मात्रं विवक्षुराह॥

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्राहि रणे जयश्रीः॥3.17॥

विक्रमेण कारणेन तव कर्तुर्धरित्री राज्यं लभ्या प्राप्या। विपक्षः शत्रुवर्गो वीर्येणास्त्रेण बलेन। ज्यायानधिकः च शब्दः प्रौढिद्योतनार्थः। अतोऽस्माद्धेतोः स्वस्य प्रकर्षायाधिकार्थाय विधिः प्रयत्नो युष्माभिः कार्यः। युक्तमेतत् रणे [28]जयलक्ष्मीः प्रकर्षस्तन्त्रं साधनं यस्याः। य [29]एवाधिकः स एव जयतीत्यर्थः॥17॥

शत्रुपक्षस्य [30]वीर्याधिक्यं दर्शयितुमाह॥॥

त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम्॥3.18॥

त्रिन्वारांस्त्रीः त्रिगुणान्सप्तैकविंशतिवारान् राज्ञां हन्ता स प्रसिद्धो जामदग्न्यो रामो यस्य गुरुरस्त्रमन्त्रोपदेष्टा तदास्त्रोपदेशकाले येन वीर्येण करण[31]भूतेनावधूतो निर्जितः सन्गुणानामस्त्रकौशल्यादीनां प्रकर्षमाधारस्योपदेश्यस्य न पुनरुपदेष्टुर्वशमायत्तं विवेद स्माज्ञासीत्। गुरुमपि मां मच्छिष्योप्ययं जितवानऽतः पात्रापेक्षैव गुणवृद्धिरिति रामो निश्चितवानित्यर्थः। विवेदेति "विदो लटो वा" (3/4/83 पा.) इति णल्॥18॥

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि।
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः॥3.19॥ (युग्मम्)

यस्मिन्ग्रीष्मेऽनैश्वर्येण प्रभविष्णुत्वाभावेन कृतं व्यलीकमधिक्षेपो यस्य सः भीष्मस्य स्वेच्छामरणात् यमोऽपि यस्मिन्यद्विषये पराभवमिव प्राप्तः। स भीष्मो धनुराकर्षश्चेतो भयैकसक्तं कस्य न कुर्यात्। यस्य भीष्मस्य स्वेच्छा यत्तं मरणम्। तेन सह युद्धं मरणाय पराजयाय वेत्यर्थः॥19॥

---

27. B, P_1, U कारण
28. P_1, B जयलक्ष्म्याः
29. P_1 अधिक एव; B एवावधिकः
30. P_1 वीर्यस्याधिक्यम्; B वीर्याद्याधिक्यम्
31. P_1 कारण°

सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः।
परिस्फुरल्लोलशिखाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम् ॥3.20॥

रणे शरधारावर्षन्तं गुरुं [32]द्रोणं वः [33]युष्माकं मध्याद्वः सम्बन्धी वा कः सहेत। न कश्चिदित्यर्थः। अ[34]त्रोत्प्रेक्ष्यते विलसच्चपलज्वालाजिह्वं कृत्वा विश्वं [35]जिघत्सन्तमत्तुकाममिव कल्पान्ताग्निम्। उपमानतया वा युगान्तवह्निर्व्याख्येयः ॥20॥

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम्।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः ॥3.21॥

विश्वस्य [36]ग्रासकत्वादपरिचितेष्वपि भयेषु यमस्य पक्षपातो जायेत। सम्भावनायां लिट्। बलाद्यमं भीतय आविशन्तीत्यर्थः। यमोऽपि कथं [37]बिभेतीत्याह संरम्भेण क्षोभेन निरस्तं त्यक्तं धैर्यं गाम्भीर्यं येन तं संरम्भत्यक्तधैर्यं राधेयं कर्णं दृष्ट्वा। यत आराधितो जामदग्न्यो रामो येन तम्। अयमत्र भावः। 'भार्गवेण रणे कुमारः पराजित' इत्यागमेषु प्रसिद्धः। अतः पुत्रस्य कुमारस्य पराजयद्वारेण तत्पितुरीश्वरस्यापि पराजयं सम्भावयन्। यमो भार्गवशिष्यात्क्रुद्धात्कर्णा[38]द्बिभेति। "मम संहार क्षमो हर एतैः पराजितः। एते क्रुद्धा मामपि हन्युः" इति यमः कर्णशत्रूणां मारणसंपादनेन सेवापर इति तात्पर्यम्। कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवतीत्यत्र द्रव्यं भवतीति कर्तव्ये वत् करणं स्वधर्मपरित्यागाभावप्रतिपादनार्थम्। कृदभिहितस्य च भावस्य स्वधर्मः क्रियात्वम्। अतो भयशब्दस्य क्रियात्वादभ्रंशे सति क्रियायाश्च कर्त्रपेक्षत्वाद्यमस्य [39]बिभेति क्रियायां कर्तृत्वं ज्ञेयम्। एवं सति निरीक्ष्य यमो बिभेति इत्येकोऽर्थः सिद्धः। अतो निरीक्षणरूपायाः [40]पूर्वस्या क्रियायाः बिभीति क्रियायाश्चोत्तरस्या यम एवैकः। कर्त्तेति 'समानकर्तृकयोः' (2/4/21 पा.) इति क्त्वो लुपि निरीक्ष्येति रूपम् ॥21॥

एवं शत्रुषु वीर्यादिप्रकर्षं सन्दर्श्य तेभ्यः पाण्डवानामाधिक्यप्रतिपादनार्थं पाण्डवानां विद्यादानरूपमागमनप्रयोजनं साक्षाद्विवक्षुराह ॥

---

32. P_1, B द्रोणाचार्यं
33. P_1 युष्मन्; B युष्मान
34. VS उत्पेक्षते
35. P_1, B जिघत्सन्मतम्
36. U, P_1, B ग्रासकृत्वाद्
37. P_1, B बिभ्यति
38. P_1 बिभ्यति
39. VS बिभीति
40. VS क्रियायाः पूर्वस्या

यया समासादितसाधनेन सुदुश्चरामाचरता तपस्याम्।
एते दुरापं समवाप्य वीर्यमुन्मूलितारः कपिकेतनेन ॥3.22॥

महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप देवतानाम्।
दातुं प्रदानोचित भूरि धाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम् ॥3.23॥

तां विद्यां दातुमुपदेष्टुमहमागतः। किमर्थं महत्त्वस्य प्रकर्षस्य योगाय प्राप्त्यर्थम्। यतो महान्महिमा यासां याभ्यो वा तासां राजदेवतानां[42] सेवनीयाम्। अतः प्रदानायोचितो युक्तो भूरि धामा तेजस्वी यस्याः तेजो[43]रहितेनोग्रदेवतानामाराधयितुमशक्यत्वात्। तां विद्यां, कां यया करणभूतया समासाधितुं प्राप्तं साधनं तपश्चरणोपायो येन। अतः सुदुश्चरां तपस्यां तपः कुर्वता सतार्जुनेन दुष्प्रायं वीर्यं[44]प्राप्यैते शत्रव उन्मूलितारो हन्तारः। उन्मूलितार इति कर्मणि लुटि रूपम् ॥22, 23॥ **युग्मम्॥**

इत्युक्तवन्तं व्रज साधयेति प्रमाणयन्वाक्यमजातशत्रोः।
प्रसेदिवांसं तमुपाससाद वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णुः ॥3.24॥

इति पूर्वोक्त युक्त्योक्तवन्तं प्रसेदिवांसं तं व्यासं जिष्णुरर्जुनो विनयेनोपाससादागमत्। अत उत्प्रेक्ष्यते अन्तेवसञ्शिष्य इव। अर्जुनस्य व्यासमीपगमनेन तेजस्विमानिता दर्पमाशङ्क्याह त्वं व्रज। त्वं साधयेति युधिष्ठिरस्य वाक्यमाज्ञां प्रमाणयन् प्रमाणं कुर्वन्। न तु तेजस्वित्वं स्वात्मनि सम्भावयन्। हेतावर्थे शतृप्रत्ययः ॥24॥

निर्याय विद्याथ दिनादिरम्यादिबम्बादिवार्कस्य सुखान्महर्षेः।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥3.25॥

दिनादौ प्रभाते रम्यात्प्राप्तोदयादादित्यमण्डलान्निर्याय यथा दीप्तिर्विकसत्पद्ममभिपद्यते तथा महर्षेर्मुखान्निर्गत्य वह्निकणै[45]स्तद्वद्भावदाता दीप्ता विद्या पार्थमुखं प्राविशत्। अत एव स्फुरद्विकसत् ॥25॥

योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपः प्रभावाद्वितार सद्यः।
येनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः ॥3.26॥

---

41. VS बिभति
42. P_1 आराधनीम्*
43. P_1 रहिते
44. VS प्राप्यते
45. P_1 तद्वदवधाता

अतियोग्यायार्जुनाय स व्यासस्तपःप्रभावबलाद्योगं तमदात्। येन योगेन तत्त्वेषु पञ्चविंशतिसङ्ख्येषु अवभासे। प्रकाशने कृते चक्षुः समुन्मिमीलेव विकासमिव प्रापत्। अदृष्टपूर्वं तदैव दृष्ट्वा स्वनेत्रं तदैवोन्मीलितमज्ञासीत् ॥26॥

आकारमाशंसितभूरिलाभं दधानमन्तःकरणानुरूपम्।
नियोजयिष्यन्विजयोदये तं तपःसमाधौ मुनिरित्युवाच ॥3.27॥

अन्तःकरणानामनुगुणम् तथा शंसितः संभावितः भूरिलाभो येन तमाकारं दधानमर्जुनं मुनिरित्यकथयत्। किं करिष्यन् विजयेनोदयो यस्मात्तस्मिंस्तपोऽर्थे समाधौ नियोजयिष्यन् प्रयोक्ष्यमाणः ॥27॥

अनेन योगेन [46]समिद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमयच्छन्।
समाचराचारमुपात्तशस्त्रो जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम् ॥3.28॥

अनेन योगेन दीप्ततेजास्तथा गृहीतशस्त्रः सन् स्वां पदवीं सुसमीपागमनमन्यस्मै [47]अददन्। त्वं जपोपवासस्नानै ऋषीणामाचारं सेवस्व। ऋषिवत्तपः [47.1]कुरुष्वित्यर्थः। परस्परविरुद्धानां जपादिशस्त्राणां ग्रहणस्य प्रयोजनमग्रे व्यक्तिमेष्यति। तपस्यतोऽपि शस्त्रधारणाज्ञायाः प्रयोजनमग्रे सुज्ञानम् ॥28॥

करिष्यसे यत्र [48]सुदुष्कराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपांसि।
शिलोच्चयं चारुशिलोच्चयं तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम् ॥3.29॥

इन्द्रस्य प्रसादनाय यत्र शैले तपांसि विधास्यसे [49]तं मनोहारिसानुं शैलं त्वामेष यक्षः क्षणान्नेष्यति प्रापयिष्यति। स्वापेक्षया यक्षाणां नीतप्रायतामानित्वाद्यक्षं प्रति स्वयंमाज्ञादानाभावः। स्थानविशेषगुणेन तपःसिद्धिदर्शनादन्यत्रार्जुनस्य [50]गमन[51]-माज्ञप्तम् ॥29॥

इति ब्रुवाणेन [52]नरेद्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोबभूवे।
तं राजराजानुचरोऽस्य [53]सद्यः प्रदेश[54]मादेश इवाधि[55]तस्थौ ॥3.30॥

---

46. विवृद्धतेजा
47. P_1, B न ददत्
47.1 U कुरुष्व इत्यर्थः
48. सुदुश्चराणि
49. VS तम्॰
50. P_1, B गमनम्॰
51. B नाज्ञाप्तम्
52. महेन्द्रसूनुम्
53. साक्षात्
54. आदेशम्
55. तष्ठौ

एवं पार्थं [56]वदता व्यासेनान्तर्दधे। यथास्त्यादिकं [57]स्थानं त्वादिरादेशस्तथा तं प्रदेशं यक्ष आश्रितवानित्यर्थः॥30॥

कृतानतिर्व्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृहः पुण्यजनः स जिष्णौ।
इयाय सख्याविव संप्रसादं विश्वासयत्याशु सतां हि योगः॥3.31॥

कृतप्रमाणो यक्षो मित्रे इवार्जुने [58]कथने प्रसाद[59]माप। भिन्नजातीयो यक्षः जिष्णावपि सद्यः कथं स प्रासीद[60]दित्याह सतां सङ्गट्टस्थुर्णं विश्वासयति। सतां दर्शनमात्रादेव विश्वासो जायत इत्यर्थः॥31॥

अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान् विहीयमानानुदयाय तेन।
बृहद्विवयुतीन् दुःखकृतात्मलाभं तमः शनैः पाण्डुसुतान् प्रपेदे॥3.32॥

तमो मोहस्तान् पाण्डुसुताञ्शनैः प्रपेदे। विवेकं जित्वा प्रविवेशेत्यर्थः। दुःखेन शोकेन कृत आत्मलाभो यस्य, शोकजातमित्यर्थः। कुतः शोक इत्याह उदयप्राप्त्यर्थं तेन विहीयमाना[61]न्विशेष्यमाणान्। यथोदयार्थं सूर्येण उल्लङ्घ्यमानान् सुमेरोर्गह्वरप्रदेशांस्तमः प्राप्नोति। तच्च दुःखेन कृच्छ्रेण कृतात्मलाभं तेषां हिरण्मयत्वात्॥32॥

असंशयालोचितकार्यनुन्नः प्रेम्णा समानीय विभज्यमानः।
तुल्याद्विभागादिव तन्मनोभिर्दुःखातिभारोऽपि लघुः समेने॥3.33॥

[62]अर्जुने स्नेहवशात्प्रथममानीय ततोऽसंशयं कृत्वालोचितं कर्तव्यं रूपतया निश्चितं यत्कार्यं तेन नुन्नोऽल्पीकृतः स पार्थ प्रवासजन्मा दुःखाति भारोऽपि लघुर्मेने सम्भावितः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते तुल्याद्विभागात्समांशकल्पनया विभज्यमान इव। अत्र विवेकेन [63]कृते शोकाल्पीकारे विभजनं हेत्वन्तरमुत्प्रेक्षितम्। यच्च विभज्यते तच्च लघू भवति। अथवा पतितः शोकातिभारो निश्चितेन कार्येण नुन्नाः। पुनरपि प्रेम्णानीयतुल्या[64A]द्विभज्यमानः।

---

56. U, B गदता
57. P_1 स्थानम्°
58. U कथनेन
59. B प्राप
60. P_1, B इत्यर्थः; U इत्यत आह
61. U, B विश्लेष्य; P_1 विशेष्य....उल्लङ्घ्यमानान्°
62. P_1 अर्जुन
63. P_1 कृतो
64A. VS, P_1 विभाद्०

शोकातिभारोऽपि तैर्लघुरिव मेने इति योज्यम्। वक्ष्यमाणहेतुभिः शोकमुक्ताः कथमपि बभूवुरित्यर्थः ॥33॥

शोके व्यपगमे हेतूनाह॥

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः ॥3.34॥

निजेन धैर्येण तथा व्यासस्य विश्वासभावेन तथा तीव्राच्छत्रुजाताच्च शेषात् तथेन्द्रस्य पुत्रे[64B] पौरुषं जनत्सु तेषु भ्रातृषु स शोको न स्थितिं प्रापत्। धैयादिहेतुचुष्टयेन शोकस्तेभ्योऽपससारेत्यर्थः ॥34॥

तान्भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिवाभिपेदे ॥3.35॥

भूरितेजसः पाण्डवाँश्चतुरोऽपि त्यक्त्वा तदशर्म दुःखमेकौघीभूतं भीमादिभिस्तत्यागात् कृष्णां प्रापत्। यथा दीप्तान्दिनप्रहारांश्चतुरस्त्यक्त्वा [65]राशिरूपं तमः कृष्णां रात्रिं प्राप्नोति। स्त्रीत्वादतिस्नेहत्वाच्च द्रौपद्यामेव शोकः स्थितिमकार्षीदित्यर्थः ॥35॥

एतदेव प्रपञ्चयति॥

तुषारलेखाकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः।
अगूढभावापि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे ॥3.36॥

सा लोचने मीलयितुं सङ्कोचयितुं न विषेहे नाशकत्। मीलने कारणमाह पर्यश्रुणी सबाष्पे अपि। अपि शब्दो भिन्नक्रमः, पर्यश्रुशब्देन योज्यः। यदि सा द्रष्टुकामा नाऽभूत् किमिति सबाष्पां दृष्टिं मीलयेदित्याह विलोकने पार्थदर्शनेऽगूढोऽव्यक्तो भाव आशयो यस्याः। द्रुष्टुकामो हि सबष्पां दृष्टिं मीलयति। पुटद्वयं संश्लोषणरूपेण मीलनेनावश्यं बाष्पव्यपगमात्। तर्हि किमिति नामीलयदित्याह मङ्गलस्य भङ्गाद्भीरुः प्रस्थानकाले बाष्पपातस्य शाकुनिकैर्निषिद्धत्वात्। अथवा दर्शनेऽव्यक्तभावापीति योज्यम्। स तुषारकणनीलोत्पलकान्ती अमङ्गलभीत्या प्रियदर्शनसुखमपिनागण्यदितिभावः ॥36॥

बाष्पाकुला तद्दृष्टिः कदाचित् पार्थस्येष्टा नासीदिति शङ्कां निराकर्तुमाह॥

अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामार्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम्।
मनःप्रसादाञ्जलिना निकामं जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ॥3.37॥

64B. U, P_1 पार्थे *
65. VS राशिभूतम्

नेत्रयोः सबाष्पत्वमनिवार्य विक्षणेनानुमितः अकृत्रिमः स्वाभाविको यः स्नेहरसस्तेन [66]मनोरम। अकृत्रिमं प्रेम कृत्वा रामयाऽर्पितमिति वा योज्यम्। तथा दृष्टिविलोभनशीलं प्रेक्षणं पार्थो मनःप्रसाद एवाञ्जलिस्तेन जग्राह। यद्वाऽकृत्रिमप्रेमेति ग्रहि क्रियाविशेषणम्। अद्राक्षीदित्यर्थः। एतेन पार्थस्य प्रस्थानावसरे मनःप्रसादः सुनिमित्तं सूचितम्। यथा पाथेयं कर्पूरनालिकादिरसं रामादन्नं कश्चिदञ्जलिना गृह्णाति। रसोत्र मधुरादिः। इन्द्रसूनुरिति साकूतम् ॥37॥

धैर्यावसादेन हृतप्रसादा वन्यद्विपेनेव निदाघसिन्धुः।
निरुद्धबाष्पोदयसन्नकण्ठमुवाच कृच्छ्रादिति राजपुत्री ॥3.38॥

धैर्यस्यावसादेन हीनत्वेन हृतः प्रसादो मनःप्रसन्नता यस्याः सा राजपुत्री निरुद्धः। अमङ्गलभयादमुक्तो [67]यो बाष्पोदयस्तेन सन्नः सगद्गदः कण्ठो यत्रैवं कृच्छ्रादुवाच। यथा ग्रीष्मनदी वनकरिणा हृतप्रसादा। ग्रीष्मे हि दन्तिनो मेदुरत्वात्सन्तापमसहमानाः प्रविश्य नदीः कलुषयन्ति ॥38॥

तपस्यतामवश्यंभाविन्या बन्धुविषया या उत्कण्ठया विधेयत्वनिषेधमाह॥

मग्नां द्विषच्छद्मनि पङ्कभूते सम्भावनां भूतिमिवोद्धरिष्यन्।
आधिद्विषामा तपसां प्रसिद्धेरस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः ॥3.39॥

अस्मद्विनाऽस्मद्वियोगेन[68] त्वं मा उन्मनीभूः। उत्कण्ठितमनास्त्वं मा गम इत्यर्थः। अधिद्विषां शत्रुकृतमनःपीडानिवारकाणां तपसां निष्पत्तिं यावत् त्वं किं करिष्यन्। पङ्कभूते कर्दमसमे द्विषच्छद्मनि शत्रुकृते फले मग्नां ब्रूडितां भूतिं लक्ष्मीमिव सम्भावनां गुणेष्वस्तित्वाध्यवसायं कीर्तिमुद्धरिष्यन्। शत्रुभिश्छलेनास्माकं कीर्तिर्लक्ष्मीश्च ग्लपिता। त[69]त्प्रत्यासत्तये करिष्यमाणानां तपसां निष्पत्तिं यावत् त्वमस्मच्चिन्तां मा कार्षीरित्यर्थः ॥39॥

उत्कण्ठा विजयस्य फलमाह॥

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति [70]लक्ष्मीः ॥3.40॥

---

66. VS, U मनोहरम्
67. P_1 यो°
68. P_1, B अनुत्कण्ठितम्°
69. P_1 B प्रत्यापत्तये
70. सिद्धि

सुखस्य लिप्सया लब्धुमिच्छया मनुष्येषु सङ्ख्यामुल्लङ्घयितुं वा सधैर्यत्वात् निरुत्सुकानामभियोग भाजां निरुत्कण्ठमुद्योगभाजां श्रीरुत्सङ्गंप्रत्युपैति। उभयत्रापि वा शब्दस्तुल्यकक्ष्यतयौत्सुक्यप्रतिपादनार्थः। विकल्पस्यैकेनैव लब्धेः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते यशोऽधिगन्तुं समुत्सुका लुब्धेव निरुत्कण्ठमुद्योगिनो[71]ऽङ्कमह[72]मायामि। यथा मम यशो भवतीति चिन्तयन्तीव लक्ष्मीरुद्योगिनो भजतीत्यर्थः। अतस्त्वयोत्कण्ठा न कार्येति तात्पर्यम्। अथवा यशोऽधिगमेऽपि सुख[73]लिप्सावदुद्योगधारणे हेतुर्योज्यः। अस्यां व्याख्यायामभियोगभाजां समुत्सुकेवेति व्याख्याम् ॥40॥

लोकं विधात्रा विहितस्य गोप्तुं क्षत्रस्य मुष्णन्वसु जैत्रमोजः।
तेजस्विताया विजयैकवृत्तेर्निघ्नन्प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ॥3.41॥

प्रसहेत्यन्तं कुलकम्। त्वद्विना त्वद्विरहोष्मणोपशुष्यन्मम [74]हृदयं [75]सनिकारोऽवमानो नवीकरिष्यति स्थिरीकरिष्यति। निकारप्रतिकारेच्छया प्राणान्धार-यामीत्यर्थः। निकारः किदृक् त्वद्विनार्द्रः प्रत्यग्र इव सम्पन्नः। शत्रुनिकारप्रतिकारार्थमर्जुनो दूरं 75.1गत इति चिन्तनात्। अत्र शोषणनवीकरणयोरन्योन्यविरुद्धयोर्स्वयोर्धर्मयोरर्जुनवियोग एक एवोपायः। तद्वियोगेनैवार्द्रीभूतस्य निकारस्य च नवीकरण[76]कर्तृत्वात्। आर्द्रश्च शुष्कं नवीकरोति। लोकं गोप्तुं क्षतात्त्रातुं विधिना निर्मितस्य क्षत्रस्य वस्तु सर्वस्वभूतं जैत्रमोजो मुष्णन् ओजसो धनारोपान्मुष्णन्निति सङ्गतम्। तथाविधा या एका वृत्तिर्यस्या [77]ओजस्विताया: प्राणमिव प्रियमभिमानं निघ्नन्। निकारे सत्योजोहानेरवश्यंभावित्वादोजः सहचरस्याभिमानस्यापि क्षय इत्यर्थः ॥41॥

व्रीडानतैराप्तजनोपनीतः संशय्य कृच्छ्रेण नृपैः प्रपन्नः।
वितानभूतं विततं पृथिव्यां यशः समूहन्निव दिग्विकीर्णम् ॥3.42॥

आप्तजनेन यथा श्रुतवादिना जनेनोपनीतः कथितोऽपि पाण्डवानामवमानस्य मनसाप्यसम्भाव्यत्वात्संशय्य सन्देहं प्राप्य लज्जया आनतैर्राजभिः कष्टेन प्रपन्नोनुमतः

---

71. U, P_1 अङ्कम्
72. U, B आश्रयामि
73. U लिप्सादिवद्; P_1 लिप्साधिवद्
74. P_1 हृदयो
75. P_1 सविकारो
75.1 VS, दूरे
76. U, P_1 कर्तृकत्वात्
77. P_1 तेजस्विताया

ओजस्विनामवमानसम्भवाभावादिति भावः। भुवि विस्तारमतो वितानसृदशं यशः सङ्क्षिपन्निव ॥42॥

वीर्यापदानेषु [78]कृताभिमर्षस्तन्वन्नभूतामिव संप्रतीतिम्।
कुर्वन्प्रयाम[79]क्षतिमायतीनामर्कत्विषामह्न इवावशेषः ॥3.43॥

[80]तथा [81]वीर्यं [82]शौर्यं अपदानान्यद्भुतकर्माणि तेषु च कृतोऽभिमर्षोऽपह्नवो येन सः। निकारे सम्पन्ने सति लोकैर्वीर्यादीनामगणनीयत्वात्। अनुष्ठितानामपि वीर्यादीनां दैववशेन सिद्ध्यसंभवात्। अत एव प्रतीतिं संभावनामभूतामिव कुर्वन्। अथवा वीर्यादिविषये सम्प्रतीतिमभूतामिव कुर्वन्निति योज्यम्। गुरोऽभिमर्शः स्पर्शो येन सः तथा यतीनां प्रयासक्षतिं सङ्कोचं कुर्वन्। यथा दिनशेषः सूर्यांशूनाम् ॥43॥

प्रसह्य योऽस्मासु परैः प्रयुक्तो [83]वक्तुं न शक्यः किमु[84]ताधिगन्तुम्।
नवीकरिष्यत्युपशुष्यदार्द्रः स त्वद्विना मे हृदयं निकारः ॥3.44॥

तथा योऽस्मासु विषये प्रसह्य बलात् परैः शत्रुभिः प्रयुक्तो वक्तुमपि न शक्यः, किमु[85]तानुभवितुम्। परे च कर्तुमिति पाठे भवादृशैः परेऽन्यस्मिन्नपि कर्तुं न शक्यः, किमुत स्वात्मनानुभवितुमिति व्याख्येयम्। तथाविधस्यावमानस्य प्रतिकारदर्शनेच्छया प्राणानहं रक्षामीत्यतस्त्वया [86]अस्मच्चिन्ता न कार्येत्यर्थः ॥44॥ **कुलकम्॥**

प्राप्तोऽभिमानव्यसना[87]दसह्याद्दन्तीव दन्तव्यसनाद्विकारम्।
द्विषत्प्रतापान्तरितोरुतेजाः शरद्धनाकीर्ण इवादिरह्नः ॥3.45॥

दुःशासनेत्यन्तं वाक्यम्॥ त्वं कर्ता स एव धनञ्जयः कश्चिदसि। कश्चिच्छब्दः प्रश्नार्थः। स इति सर्वनामानुभूतत्वार्थम्। [88]अनुभूतत्वं च तैस्तैर्गुणैर्ज्ञेयम्। त एव तव

---

78. कृतावमर्ष
79. क्षयम्
80. U तथा°
81. B वीर्ये
82. B अपादानानि
83. स्मर्तुम्
84. अधिकर्तुम्
85. U अधिगन्तुम्
86. VS मत्
87. असह्यम्
88. P_1 अनुभूतत्वे

गुणाः। कश्चित्सन्तीत्यर्थः। त्वं कीदृक् असह्यादभिमानस्य व्यसनाद्विनाशाद्विकारं प्राप्तः। यथा दन्ती दन्तभङ्गात्। यथा दन्तिनो दन्तेषु सत्सु दन्तित्वमन्यथा तदभावः। एवमभिमानिनामप्यभिमानैकप्राणत्वमित्युपमानद्वारात्सूचयति। तथा द्विषत्प्रतापेनान्तरितं व्यवहितं तेजो यस्य सः। यथा शरदभ्रच्छन्नः प्रातः कालः प्रभातिकमेघाडम्बरवद्भवच्छत्रूणां क्षणिकत्वमिति भावः। द्विषतामसारत्वद्योतनार्थं शरद्ग्रहणम्॥45॥

सव्रीडमन्दैरिव निष्क्रियत्वान्नात्यर्थमस्त्रैरवभासमानः।
यशः [89]क्षयात् क्षीणजलार्णवाभ[90]स्तदन्यमाकारमिवाभिपन्नः॥3.46॥

तथा त्वं कीदृक् निर्व्यापारत्वाद्धेतोरस्त्रैराग्नेयादिभिर्नात्यर्थं प्रकाशमानः। आयुधानां विनियोगाभावे मर्यादापालनं हेतुः। अत एवात्यर्थग्रहणम्। अत उत्प्रेक्ष्यते सव्रीडैरत एव मन्दैरिव। निर्व्यापारो हि भृत्यादिर्लज्जमानो मन्दो भवति। तथा यशसः क्षयाद्धानेर्न पुनः सर्वंसर्विकया विनाशात्तदन्यं पूर्वाकारविभिन्नमाकारं प्राप्त इव। हेमन्तादौ सूर्यस्येव पुरुषस्य प्रतापहान्या दृशरूपत्वाभासात्। अत एव क्षीणसमुद्रसमः॥46॥

यशःक्षये हेतुमाह॥

दुःशासनामर्षरजोविकीर्णैरभिर्विनाथैरिव भाग्यनाथैः।
केशैः कदर्थीकृतवीर्यसारः कच्चित्स एवासि धनञ्जयस्त्वम्॥3.47॥

मलिनीकरणाद्रोष एव धूलिः। दुःशासनस्य रोषधूल्या मलिनैरत एवानाथैरिव [91]देवैकशरणैरेभिः कदर्थीकृते ग्लपिते वीर्यसारे शौर्यबले यस्य सः। [92]वीर्ये बलिनि च भर्तरि सति वधूनां पुरुषान्तरेण स्पर्शमपि कर्तुमशक्यत्वात्। अतस्त्वं स एव धनञ्जयोऽसि कच्चित्॥47॥

जन्मिनोऽन्यत्वं कथं सम्भवतीति पूर्ववाक्योक्तेराक्षेपमाशङ्क्य गुणानामन्यत्व-द्वारेणान्यत्वारोपं प्रतिपादयितुमाह॥

स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः।
वहन् द्वयी[93]मप्यफलेऽर्थजाते करो[94]त्यसत्कारहतामिवोक्तिम्॥3.48॥

---

89. क्षयक्षीणा
90. त्वमन्यम्
91. U दैव
92. U, P_1, B वीरे
93. यदि
94. असंस्कार

साधुषु विषयेऽपि विपर्यस्यन्ति। मत्सरिणः साधूनपि विघ्नन्तीत्यर्थः। राजाभिमतस्यावधिपालतस्यानुमतत्वान्नियमिततेजसं त्वामरयो वनेऽपि बाधितुं प्रयतन्तेऽतः कुत्रापि मा विश्वसीरिति तात्पर्यम्॥53॥

तदाशु कुर्वन्वचनं महर्षेर्मनोरथान्नः सफलीकुरुष्व।
प्रत्यागतं त्वास्मि कृतार्थ[105]मेवं[106]भुजोपपीडं परिरब्धुकामा॥3.54॥

मूढाः साधूनपि यद्घ्नन्ति तत्तस्माद्धेतोर्महर्षेर्वचनं कुर्वन् परस्य प्रवेशमददत्त्वमस्माकं मनोरथान्वाञ्छं सफलीक्रियाः। जयं लभस्वेत्यर्थः। प्रवासगमनात्प्रेमह्रासमाशङ्क्याह एवं पूर्वोक्तयुक्त्या क्षतार्थं प्रत्यागतं त्वां भूजामुपर्पाडयाहमालिङ्गितुमिच्छामि। प्रवासात्प्रत्यागतानामालिङ्गनं युक्तमित्यदूषितयालिङ्गनोक्त्यानुरागातिशयः सूचितः॥54॥

उदीरितां तामिति याज्ञसेन्या नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकाराम्।
आसाद्य वाचं स भृशं दिदीपे काष्ठामुदीची मिव [107]घर्मरश्मिः॥3.55॥

एवं द्रौपद्युक्तां [109]उद्ग्राहित उत्क्षिप्तो विस्मृतो विप्रकारः शत्रुकृतस्तिरस्कारो नवीकृतो यया तां वाचमासाद्य विमृश्य भृशं दिदीपे। तपश्चरणार्थं तेजोऽग्रहीदित्यर्थः। यथोत्तरां दिशं प्राप्य दीप्यते सूर्यः॥55॥

अथाभिपश्यन्निव विद्विषः पुरः पुरोधसारोपितहेतिसंहतिः।
बभार रम्योऽपि वपुः स भीषणं गतः क्रियां मन्त्र इवाभिचारिकीम्॥3.56॥

अथ तपश्चरणोद्योगारम्भादन्तरं पुरोहितेन प्रतिपादिताऽस्त्रमालः स रूपं भीषणमधारयत्। यथाभिचारिकीमभिचारोक्तां क्रियां गते [109]मन्त्रो रूपं भीषणं धत्ते। अत उत्प्रेक्ष्यते पुरोग्रे शत्रूनिव पश्यन्। शत्रुदर्शने ह्युग्रत्वमुचितम् ऐतेनार्जुनेन प्रियावचनं गृहीतमिति प्रतिपादितम्॥56॥

अविलङ्घ्य विकर्षणं परैः प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम्।
अगतावरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी॥3.57॥

यशसेव तिरोदधन्मुहुर्महसा गोत्रभिदायुधक्षतीः।
कवचं च सरत्नमुद्वहञ्ज्वलितज्योतिरिवान्तरं दिवः॥3.58॥

---

105. एव
106. स्तनोपपीडम्
107. तिग्मरश्मिः
108. P_1, B एवोद्ग्राहित
109. P_1 मन्त्रः•

अलकाधिपभृत्यदर्शितं शिवमुर्वीधरवर्त्म संप्रयान्।
हृदयानि समाविवेश सं क्षणमुद्बाष्पदृशां तपोभृताम्॥3.59॥

हर्षाच्छोकाद्वा क्षणमुद्बाष्पा सास्रुः दृग्येषां तेषां तपस्विनां मनांसि सोऽविशत्। परैरर्जुनादन्यैरविलङ्घ्य विकर्षणमाकृष्टमशक्यम्। तथापि प्रथितो ज्यारवः कर्म च यस्य तत्कार्मुकं गाण्डीवं च दधत्। यद्वा विकर्षणमनुलङ्घ्याकृत्वा परैः ख्यापितज्याशब्दादिकं गाण्डीवं धनुर्बिभ्रत्। केचिद्धि परधनुराकृष्य स्वबलप्रसिद्ध्यर्थं तद्गुणान् प्रशंसन्ति। तथारीणां दृष्टेर्गोचरं [110]विषयमगतो रणे पार्थस्य पलायनासंभवात्। तथा शितं तीक्ष्णं निस्त्रिंशं खड्गं युञ्जते धारयन्तौ महेषुधी श्रेष्ठौ निषङ्गौ च दधत्। तथा यतः सरत्नमत एव यशएव महसा प्रभया वज्रघातांस्तिरोदधत् छादयत्। कवचं परिदधत्। किमिव ज्वलितानि ज्योतींषि॥ तारा यत्र तद्दिवो मध्यमिव। अथवा तिरोदधदिति पार्थस्यैव विशेषणं योज्यम्। यथा यशसा तथा महसा चेन्द्रायुधव्रणां च्छादयन्। वीराणां रणे हतानामपि यशः समुत्पत्तेः उत्प्रेक्षैवेयम्। [111]तथा यक्षनिर्देशितं निर्विघ्नं गिरिमार्गं गच्छन्॥57॥58,59॥ **तिलकम्॥**

अनुजगुरथ दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः
सुरकुसुमनिपातैर्व्योम्नि लक्ष्मीर्वितेने।
प्रियमिव कथयिष्यन्नालिलिङ्ग स्फुरन्तीं
भुवमतिभृतवेलावीचिबाहुः पयोधिः॥3.60॥

अथार्जुनप्रस्थानादनन्तरं दिशो दिव्यपटहशब्दमनुजगुः। दिक्षु पतिशब्दोऽभूदित्यर्थः। अथवा लोकपालनगरेष्वपि पटहानवादयन्निति व्याख्येयम्। व्योम्नि या लक्ष्मीः सा सुरपुष्पपतनैरर्थाद्भुवः कृता। अथवा व्योम्नि कृतेति योज्यम्। स्फुरन्तीं सकम्पां भुवमब्धिरालिलिङ्ग भूश्चकम्पे समुद्रश्चोल्लासेत्यर्थः। भूकम्पसमुद्रक्षोभयोः शुभस्यापि सूचकत्वं संहिता सुनिर्दिष्टम्। अनिभृता लोलायां विचय एव बाहवो यस्य सः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते प्रियं हितमिव वर्णयिश्यन् वक्तुकामश्चपलबाहुः समुल्लसति समुद्रभूम्योर्विशेषणबलान्नायकत्वावच्छेदनालिङ्गनोक्तिः कृतेति भद्रम्॥॥

इति श्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां तृतीयः सर्गः॥

---

110. P_1 विषयम्°
111. U, P_1, B तथा°

॥चतुर्थः सर्गः॥

ततः स कूजत्कलहंस[1]नादिनीं सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम्।
उपाससादोपजनं जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवनां भुवम्॥4.1॥

ततो द्वैतवनान्निर्गत्येत्यध्याहारः। ततोऽनन्तरमिति वा योज्यम्। सोऽर्जुन उपजननं जनसमीपस्थितां भुवं प्रापत्। कूजन्तो ये कलहंसास्तैर्नदति तच्छीलां। तथा सस्येन माल्यादिनाहितः कृतः पाण्डुतागुणः। पाण्डिमा यस्यास्ताम् आसादितं यौवनं पङ्कभावो यया ताम् प्रियां दयितामिव। तत्पक्षे कलहंसवन्नदति यौवनवशाच्च पाण्डुः। एतेन शरदागमः सूचितः। तत्सूचनं च निःसन्देहं कार्यसिद्ध्यर्थं फलप्राप्तेः सुनिमित्तायत्तत्वात्॥1॥

विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरपेतपङ्काः ससरोरुहाम्भसः।
ननन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरुपायनीभूतशरद्गुणश्रियः॥4.02॥

सीम्नो वनग्रामसन्धेः समीपे स्थलीर्भूमिः पश्यन् सोऽतुष्यत्। यतः फलभराद्विनम्रा ये शालिप्रसवाः शालिकानि तेषां समूहेन शोभमानाः वीतकर्दमाः सपद्मजलाः उपायनीभूता ढौकनकसम्पन्ना शरद्गुणश्रीर्यासां ताः। भूमीनां शरद्गुणदर्शनेन ढौकनेनेवार्जुनोऽतुष्यदित्यर्थः॥

निरीक्ष्यमाणा इव विस्मयाकुलैः पयोभिरुन्मीलितपद्मलोचनैः।
हृतप्रियादृष्टि[2]विकासविभ्रमा मनोऽस्य जह्रुः शफरीविवृत्तयः॥4.03॥

शफरीणां मत्सीनां विवृत्तयो विवर्तनान्यस्यार्जुनस्य मनो जह्रुः। अर्जुनो मत्सीविवर्तनानि सस्पृहमैक्षिष्टेत्यर्थः। मनोहरत्वात्साश्चर्यैरत एवोन्मीलितानि विकसितानि पद्मनेत्राणि यैस्तैः पयोभिर्दृश्यमाना इव। हृतः प्रियाया द्रौपद्या दृष्टेर्विकासो विभ्रमो याभिस्ताः। मत्सीस्फुरितानि दृष्ट्वा प्रियादृष्टि- मस्मरदित्यर्थः॥3॥

तुतोष पश्यन् कलमस्य सोऽधिकं सवारिजे वारिणि रामणीयकम्।
सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनरूप सङ्गमे॥4.04॥

---

1. मेखलाम्
2. विलास

सपद्मे जले शालीनामधिकां शोभां प्रश्यन् सोऽतुष्यत्। युक्तमेतत् सुष्टु दुष्प्रापे अनुरूपाणां सदृशानां सङ्गमे सङ्घटने प्रकर्षरूपां लक्ष्मीं शंसितुं को नार्हति सकल सकमलानां जलानां मनोहरत्वात्॥

नुनोद तस्य स्थलपद्मिनीगतं वितर्कमाविष्कृतफेन[2.1]संहति।
अवाप्तकिञ्जल्कविभेदमुच्चकैर्विवृत्तपाठीनपराहतं पयः॥4.05॥

पयः कर्तृस्थलपद्मिनीगतं वितर्कमूहं नुनोद न्यवारयत्। कुतो वितर्कोऽस्याऽभूदित्याह अवाप्त किञ्जल्केन हेतुना विभेदो वर्णान्तरप्राप्तिरर्थात्फेनैर्यत्रैवं कृत्वाऽऽविष्कृता धृता फेनसंहतिर्येन तत्। संहतेषु फेनेषु पतितेन किञ्जल्केन स्थलत्वाभासे जाते स्थलपद्मिनीयमित्यूहोऽस्याऽभूदित्यर्थः। वितर्कनिवृत्तिः कथं जातेत्याह विवृतैरुच्छलद्भिः पाठीनैर्मीनैः पराहतं क्षोभितम्। यदि स्थलपद्मिनी स्यादत्र मीनाः कथं स्युरिति निःसन्देहो जात इत्यर्थः। अथवा पयो मीनक्षुभितं सत्प्राप्तकिञ्जल्कविदरणमतः प्रकटितफेनं भ्रान्तिमनुददिति योज्यम्॥5॥

कृतोर्मि[2.2]लेखं शिथिलत्व[3]मीयुषा शनैः शनैः शान्तरयेण वारिणा।
निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषितां तरङ्गितक्षौमविपाण्डु सैक्तम्॥4.06॥

शनैः शनैर्निवृत्तवेगेनात एव शैथिल्यमागच्छता जलेन कृता ऊर्मिभिर्लेखा यस्य तत्। अत एव समुद्रयोषितां नदीनां तरङ्गिततरङ्गवत् कृतशोभार्थं युक्त्या सवलीकं कृतं यत्क्षौमं तदिव पाण्डुसैकतं दृष्ट्वा सोऽतुष्यत्। योषितां च क्षौमधारणं प्रसिद्धम्॥

मनोरमं प्रापितमन्तरं भ्रुवोरलंकृतं केसररेणुनाणुना।
अलक्तताम्राधरपल्लवश्रिया समानयन्तीं [4]नवबन्धुजीवकम्॥4.07॥

नवातपालोहितमाहितं मुहुर्महानिवेशौ परितः पयोधरौ।
चकासयन्तीमरविन्दजं रजः परिश्रमाम्भः पुलकेन सर्पता॥4.08॥

कपोलसंश्लेषि विलोचनत्विषा विभूषयन्तीमवतंसकोत्पलम्।
सुतेन पाण्डोः कलमस्य गोपिकां निरीक्ष्य मेने शरदः कृतार्थता॥4.09॥

कलमस्य धान्यस्य गोपिकां निरीक्ष्यार्जुनेन शरदः कृतार्थता भाग्यवत्वं मेने। शरदः सम्बन्धिवस्तु यदीदृशी स्त्री रक्षति ततः शरत्तेन भाग्यवती ज्ञातेत्यर्थः। न चेयं शरदूनेति प्रतिपादयितुमाह अरञ्जितोऽपि स्वभावादरुणो योऽधरपल्लवस्तस्य कान्त्या नवं बन्धुजीवं समानं कुर्वतीम्। बन्धुजीवपरभागतार्थमाह स्निग्धत्वादिगुणेन मनोहरम् भ्रुवोर्मध्यं प्रापितम्। तथा मकरन्देन भूषितम्। उपमेयादोऽष्टाद्बन्धुजीवमूनमित्यर्थः। अतो गुणैरियं शरदोऽधिकेत्यर्थः। अन्यदपि शरत्सकाशात्तस्या गुणाधिक्यमाह आभोगिनौ मुनौ परितः

2.1 संतति
2.2 रेखं
3. आयता
4. इव

क्षिप्तं, तथा बालातपेनारुणितं मकरन्दं शोभयन्तीम्। केन परिश्रमाम्भ एवावरणरूप-त्वात्पुलकं तेन श्वेतेन श्वेदजलेन। कमलकेसराणां परभागस्थित इत्यर्थः॥ भूषणत्वेन प्रसिद्धत्वादवतंसकं भूषणप्रतिकृति यदुत्पलं तन्नेत्रकान्त्या शोभयन्तीम्। एवं भूषणान्यपि भूषयन्तीमतः शरदधिकगुणामपि स्त्रियं धान्यरक्षया शरदं सेवमानां दृष्ट्वा शरत्तेन स्तुतेत्यर्थः॥7,8,9॥ **तिलकम्॥**

उपारताः पश्चिम[5]रात्रगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुत[6]पीवरोधसः॥4.10॥

गावश्चरन्त्यस्मिन् गोचरो व्रजः रात्रेः पश्चिमभागः पश्चिमरात्रः, तदा योगे चरस्तस्मान्निवृत्तः। अतो वत्सेषु सोत्कण्ठधेनुवर्गास्तं दर्शनोत्कण्ठितं व्यधुः। पश्चिमरात्रे हि तापाभावाद् गोचरो दूरः। अतः प्रस्नुतानि स्रवितुं प्रवृत्तानि पीवराणि ऊधांसि यासां ताः। अतो भूमिं तूणमुल्लङ्घयितुमसमर्थः॥10॥

परितमुक्षावजये जयश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिन्धुरोधसम्।
ददर्श पुष्टिं दधतं स शारदीं सुविग्रहं दर्पमिवाधिपं गवाम्॥4.11॥

शारदीं शरत्कालकृतां पुष्टिं दधतमतो वृषभाणां पराजये सति जयलक्ष्म्या लिङ्गितम्। अत उच्चैः कृतनादम्। क्षतानि रुग्णानि सिन्धुरोधांसि नदीत जानि येन तम्। प्रतिभटलाभाभावात् कण्डूविनोदार्थमिति भावः। अतो मूर्तं दर्पमिव स वृषभराजमद्राक्षीत्॥11॥

विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थरं गवां हिमानीविषदैः कदम्बकैः।
शरन्नदीनां पुलिनैः कुतूहलं गलद्दुगूलैर्जघनैरिवादधे॥4.12॥

हिमसंहतिवच्छुक्लैर्गोकुलैः शरैः त्याज्यमानैरत एव शरन्नदीनां स्त्रीलिङ्गत्वात् पशुभिः सह जातास्तद्बान्धवाच्चेत्यर्थः। स्त्रीणां पतत् वस्त्रैर्घ्नैरिव सिकतास्थानैर्दर्शनविषयं कौतुकमुत्पादितम्॥12॥

गतान्पशूनां सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे॥4.13॥

सहजन्मनः सहजाता बन्धवश्च तद्भावं पशूनां गतान् गोपीनां व्रजेष्वेवास्तव्यत्वात्पशुभिः सह जातास्तद्बान्धवाश्चेत्यर्थः। तथा गृहस्नेहं वनेषु दधतोऽतः सारल्ये 'सरलभावः सारल्यम्' वृषभैः कृतसाम्यानिव गोपान्धेनुसमीपे सोऽद्राक्षीत्॥13॥

परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदाकुलैः स्मितोदयाद्दर्शितदन्तकेसरैः।
मुखैश्चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैर्नवातपामृष्टसरोजचारुभिः॥4.14॥

---

5. रात्रि
6. पीवरौधसः

निबद्धनिःश्वासविकम्पिताधरा लता इव प्रस्फुरितैकपल्लवाः।
व्यपोढपार्श्वैरपवर्तितत्रिका विकर्षणैः पाणिविहारहारिभिः ॥4.15॥

व्रजाजिरेष्वम्बुदनादशङ्किनीः शिखण्डिनामुन्मदयत्सु योषितः।
मुहुः प्रणुन्नेषु मथां विवर्तनैः [7]स्तनत्सु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम् ॥4.16॥

स मन्थरावल्गितपीवरस्तनीः परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः।
निरीक्षितं नोपरराम बल्लवीरभिप्रनृत्ता इव वारयोषितः ॥4.17॥

स बल्लवीर्गोपस्त्रीर्वीक्षितुं नोपरराम गोपीदर्शनोत्कण्ठास्य न निवृत्तेत्यर्थः। यतः कीदृशीर्मुखैरूपलक्षिताः दधिमथनसम्भ्रमात्। परिभ्रमन्तो ये मूर्धजाः केशास्त एव भ्रमरास्तैराकुलैः। तथा च लतां कुण्डलानां रश्मिभिरञ्जितैरतो नवेनातपेनामृष्टं विकसितं यत्पद्मं तद्वद्रम्यैः। अन्यश्च कीदृशीर्दधिमथनश्रमवशान्निबद्धा अविच्छिन्ना ये निःश्वासास्तैः कम्पितौष्ठीः। अतः कम्पितैकपल्लवा लता इव कल्पितोपमेयम्। तथा नेत्रस्य मथनदण्डरज्जोर्विकर्षणैः करणभूतैरपवर्तितं तिर्यक् कृतं त्रिकं याभिस्ताः। व्यपोढंमपवर्जितं पार्श्वं येषु तैस्तथा पाणिविहारैर्नेत्रकर्षणार्थं करगतागतैर्हारिभिश्चेतोहारिभिः। केषु सत्सु कुम्भेषु दधिकलशेषु स्तनत्सु मन्दायमानेषु सत्सु, कथं मृदङ्गवदङ्गवन्मन्थरम्। यतो मथां मथनदण्डानां विवर्तनैः प्रणुन्नेषु क्षुभितेषु। अत एव गोष्ठस्थिता मयूरीर्मेघशब्दभ्रान्त्या तोषयत्सु योषिद्ग्रहणं मुग्धग्रहणं मुग्धत्वप्रतिपादनार्थम्। एवंविधक्रियाबल्लवीः का इव नर्तितुमभिप्रवृत्ता वृत्तमारभमाणा वारस्त्रीरिव। ताश्च मृदङ्गेषु सत्सु नृत्यन्त्य एवंरूपा भवन्ति। अभिप्रनृत्ता इत्यादिकर्मणि क्तः कर्तरि चेति क्तः ॥14,15,16,17॥ **कुलकम्॥**

पपात पूर्वां जहतो विजिह्मतां वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसंपदः।
रथाङ्गसीमन्तितसन्द्रकर्दमान् प्रसक्तसंपात[8]पृथूकृतान्पथः ॥4.18॥

पूर्वां प्रवृषेण्यां विजिह्मतां वक्रतां त्यजतः वर्षासु हि पथां सपङ्कत्वात्सर्पवल्लोका वक्रं गच्छन्ति। तथा वृषैरुपभुक्तान्तिके सस्यसम्पद्येषां तान्। तथा रथाङ्गैश्चक्रैरसीमन्तितो द्विधाकृतः कर्दमो येषु तान्। तथा प्रसक्तं सम्पातेन सङ्कटगमनेन पृथूकृतान्पथः सोपस्तत् ॥19॥

जनैरूपग्राममनिन्द्यकर्मभिर्विविक्तभावेङ्गितभूषणैर्वृताः।
भृशं ददर्शाश्रम[9]मण्डलोपमाः सपुष्पहासाः स निवेशवीरुधः ॥4.19॥

---

7. नदत्सु
8. पृथक्
9. मण्डपोपमाः

कार्षिकत्वादनिन्द्यं कर्म येषां तैः, तथा भाव आशयः। इङ्गितं चेष्टां भूषणं वस्त्रादिविविक्तानि शुद्धानि येषां तैर्जनैः श्रिताः। अत एवाश्रमण्डलसमावेशार्थं विरुधोऽर्जुनो वृषमपश्यत्। मण्डपोपमा इत्यार्षः पाठः। अश्रमं निरायासं यन्मण्डपं तत्समाः॥19॥

ततः स संप्रेक्ष्य शरद्गुणश्रियं शरद्गुणालोकनलोलचक्षुषम्।
उवाच यक्षस्तमचोदितोऽपि गां न हीङ्गिताज्ञोऽवसरेऽवसीदति॥4.20॥

अपृष्टोऽपि स यक्षस्तमर्जुनं शरद्गुणैः श्रीर्यस्यास्तां वाचमवोचत्। किं कृत्वा शरद्गुणानामालोकने लोलं लुब्धं चक्षुर्यस्य तमालक्ष्य। युक्तमेतत् य इङ्गितं जानाति स कालेनावसीदति, औदासीन्यं न भजति। अथवा शरद्गुणश्रियं सम्प्रेक्ष्य तमुवाचेति योज्यम्॥20॥

इयं शिवाया नियतेरिवायतिः कृतार्थयन्ती जगतः फलैः क्रियाः।
जयश्रियं पार्थ पृथूकरोतु ते शरत्प्रसन्नाम्बुरनम्बुवारिदा॥4.21॥

शिवाय नियतेरनुकूलस्य विधेरायतिरागम इव फलैः शाल्यादिभिश्च जगतः क्रियाः कर्माणि कृतार्थाः कुर्वतीयं शरत् जयलक्ष्मीं तव विस्तारयतु। यतः प्रसन्नमम्बु यथा तथाऽनम्बवो निर्जला वारिदा मेघा यया सा शरदि नदीनामल्पजलत्वेन वर्षणस्याभावेव च्छरज्जयं देयादिति यक्षेणार्जुनस्याशीः कृता। अथवा शरदि भगवतः स्वापत्वागात्तपस्यधिकारात्तपश्च जयमाधनुत्वात्। अथवा प्रसन्न दत्वान्निर्मेघत्वाच्च शरदि सखं तपः सिद्धिः॥21॥

उपैति सस्यं परिणामरम्यतां नदीरनौद्धत्यमपङ्कतां [10]महीम्।
नवैर्गुणैः संप्रति संस्तवस्थिरं तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः॥4.22॥

सस्यं शाल्यादिपरिणामेन पाकेन रम्यतां प्राप्ति। अनौद्धत्यमनल्पवेगता नदीः प्राप्तम्। पङ्करहितत्वं भूमिं प्राप्तम् परिचयवशाद्बद्धमूलम् परिवर्षाणां प्रेमैभिर्नवैर्गुणैस्तिरोहितं वारितम्। सस्यादीन् पाकोन्मुखान्दष्ट्वा लोकाः शरदमेव प्रशंसन्तीत्यर्थः॥23॥

पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपङ्क्तयः।
तथापि पुष्णाति नभः [11]परां श्रियं न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्॥4.23॥

विषदाः पतन्तिणो बलाका हंसा वा नास्मिन्नाकाशे पतन्ति शरदारम्भादिति भावः। यद्यपि शोभाकारणहंसेन्द्रचापरहितं तथाप्याकाशं परामुत्तमां शोभां धारयति। कुत इत्याह यद्रम्यं तदाहार्यं कृत्रिमं गुणं नापेक्षते गुणकार्यस्य रम्यत्वस्य तत्र स्वाभाविकत्वात्॥23॥

---

10. मही
11. श्रियं परां

विपाण्डुभिः [11.1]क्षामतया पयोधरैश्च्युतादिराभागुणहेमधामभिः।
इदं कदम्बानिलभर्तुरत्यये न दिग्वधूनां कृशता न राजते ॥4.24॥

इयं कृशता तनुत्वं दिग्वनितानां न न राजते अपि तु राजते। कदा कदम्बानिल इव भर्ता कदम्बानिलस्य वा भर्ता वर्षाकालस्तस्यात्ययेऽवमाने। निर्जलत्वाद्विपाण्डुभिः पयोधरैर्मेघैः स्तनैश्चोपलक्षितानाम्। तथाऽचिराभा विद्युत्तस्या गुणोधाम तदेव हेमधाम सुवर्णहारः च्युतो येषां तैः। प्रियस्य विरहे च त्यक्तभूषणपाण्डुस्तनीनां स्त्रीणां कृशत्वमुचितम् ॥24॥

विहाय वाञ्छामुदिते मदात्ययादरक्तकण्डस्य रुते शिखण्डिनः।
श्रुतिः श्रयत्युन्मदहंसनिःस्वनं गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ॥4.25॥

उदेति स्मेत्युदितम् वदेर्वा क्त प्रत्यये उदितमिति रूपम्। उदिते वर्षासु श्रुते शिखण्डिनो रुते शब्दे स्पृहां त्यक्त्वा श्रुतिः श्रोत्रमुन्मदानां हंसानां निःस्वनं शृणोति। यतो मदात्ययान्निर्मदत्वादमनोहरशब्दस्येति त्यागे हेतुः विशेषं सामान्येन समर्थयते। प्रियत्वे प्रेमणि विषये गुणा अधिकरिणः न पुनः प्रियत्वे संस्त्वः परिचयेऽधिकृतः। गुणैरेव प्रियं वस्तु भवति न परिचयादित्यर्थः॥

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां गता विपाकेन फलस्य शालयः।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं नमन्ति निर्घ्रातुमिवासितोत्पलम् ॥4.26॥

पृथं स्थूलमपि स्तम्भं प्रकाण्डं बिभ्रतः कपिशत्वं गताः शालयः फलस्य पाकेन नमन्ति। अत्रोत्प्रेक्षा वप्रे भेदरेखास्थाने यदम्भस्तत्र फुल्लमत एव गन्धेन सौरभेन सूचितं नीलोत्पलं घ्रातुमिव। शरत्कालकृतकालपाकेन गौरववशाद्धान्यं नतं। तत्र नीलोत्पलाधिवासा घ्राणमुत्प्रेक्षते हेतुः इति हेतूत्प्रेक्षेयम्। अत्र नीलोत्पलशालीनामेकत्र क्षेत्रे सम्भवेन देशगुणा द्योतिताः ॥26॥

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं द्रुतं धनुष्खण्डमिवाह्निविद्विषः ॥4.27॥

विपाण्डु संव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः।
अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः सपुष्पहासा वनराजियोषितः ॥4.28॥

अदीपितं वैद्युतजातवेदसा सिताम्बुदच्छेदतिरोहितातपम्।
ततान्तरं सान्तरवारिशीकरैः शिवं नभोवर्त्म सरोजवायुभिः ॥4.29॥

सितच्छदानामपदिश्य धावतां रुतैरमीषां ग्रथिताः पतत्रिणाम्।
प्रकुर्वते वारिदरोधनिर्गताः परस्परालापमिवामला दिशः ॥4.30॥

11.1 म्लानतया

रुध्यन्तेऽस्मिन्नोधः कारागृहं घना इव रोधस्ततो निर्गता दिशः परस्परमालापं कुशलप्रश्नादिकमिव कुरुते ग्रथिताः सितच्छदानां हंसानां रुतैः। कारागृहान्मुक्ता-श्चान्योन्यमालापन्तीत्युक्त्यन्तरम्। कीदृशानां मृणालिनी रञ्जितं तथोत्पलपत्रदीप्त्या विभिन्नं। तथा स्फुरन्तीभिः शालिशाखाभिः कपिशितं। अंत एवाहिविद्विषो वृत्रशत्रोर्द्रुतं द्रवरूपतां गतं चापमिव जलमपदिश्य धावताम्। तथा शुभ्रं संव्यानं वाम इव वातोद्धतसप्तच्छदजातं मकरन्दं निरुन्धतीः। अनाविलं विशदं कृत्वा विकसितबाणनेत्रामपुष्पहासता वनपङ्क्तिस्त्रीश्चोद्दिश्य धावतां स्त्रियश्च पुरुषेणोद्धूतं वस्त्रं रुन्धन्ति। तथा विद्युदग्निनानुदीपितं सितानामम्बुदानां छेदैस्तिरोहितो व्यवहित आतपो वस्य सहान्तरेण वारिशीकरैर्वर्तन्ते ये तैः कमलवातैर्व्याप्तसंध्यनभोपदिश्य धावताम्॥ 27, 28, 29, 30॥ **कुलकम्॥**

विहारभूमेरभिघोषमुत्सुकाः शरीरजेभ्यश्च्युतयूथपङ्क्तयः।
असक्तमूधांसि पयः क्षरन्त्यमूरुपायनानीव नयन्ति धेनवः॥4.31॥

अमूर्धेनवः नव प्रसूता गावः कर्त्र्यर्थं धास्यापीशानि शरीरजेभ्यो वत्सेभ्य उपायनानि ढौकनानीव नयन्ति। कुतो विहारभूमर्गोचरस्थानात् ग्रामसंसुखं वत्सेभ्य उत्सुकाः। अत एव च्युता नष्टा यूथपङ्क्त्यो यासां ताः वत्सोत्कण्ठया शीघ्रधावनात् अत एवाऽसक्तमसङ्गं क्षीरं स्रवन्ति वत्सस्मरेणं॥31॥

जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठं तनयैरुपेयुषी।
द्युतिं समग्रां समितिर्गवामसावुपैति मन्त्रैरिव संहिताहुतिः॥4.32॥

असौ गवां समितिर्वर्गो द्युतिं कान्तिमुपैति। यतो गोष्टसमीपे वत्सैर्मिलन्तीं जगतः प्रसूतिः तदीयानां क्षीरादीनामायुर्वेदे पुष्टादिगुणश्रवणात्। तथा जगतामेका पावनी पवित्रत्वमुत्पादयन्ती वन्दिता गावः पावयन्तीतिस्मरणात्। मन्त्रैर्मिलिताहुतिर्यथा द्युतिं प्राप्नोति। सा च जगतां प्रसूतिः पुत्रकामानां होमविशेषैः पुत्रोत्पत्तिस्मरणात्॥32॥

कृतावधानं जितबर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनिःस्वने।
इदं जिघत्सामपहाय भूयसीं न सस्यमभ्येति मृगीकदम्बकम्॥4.33॥

इदं मृगीनां कदम्बकं वर्गो भूयसीमपि जिघत्सामत्तुमिच्छां त्यक्त्वा सस्यं नापेक्षते। यतो जितमयूररुते सुरक्तगोपीवर्गस्य गीरि शब्दे कृतमवधानं येत तत्। मृगीति स्त्रीलिङ्गग्रहणं स्त्रीत्वान्नियतेन्द्रियप्रतिपादनार्थम्। गीतश्रवणलोभात्सस्याशनेच्छं त्यजन्तीत्यर्थः॥33॥

असावनास्थापरयावधीरितः सरोरुहिण्या शिरसा नमन्नपि।
उपैति [12]शुष्यत्कलमः सह्यम्भसा [13]मनोभवा तप्त इवातिपाण्डुताम्॥4.34॥

---

12. शुष्यन्
13. मनोभुवा

अनास्थायामल्पीभावे परया शरद्वशादितिभावः। पद्मिन्याऽवधीरितो मुक्तपार्श्वः शिरसा नमँश्च कलपाकवशाच्छलेन सह शुष्यन्नसौ कलमोऽतिपाण्डिमानं प्राप्नोति। अत उत्प्रेक्ष्यते मनोभवा तप्तः कामार्त इव, कामार्त्ते हि प्रार्थनार्थं शिरसा नमन्नपि अनादरपरयाकयाचित्कृतावज्ञो शिवेन सह शुष्यन्पुरुषः पाण्डुतामेति। यद्वा मनोभवा तप्ततायाः पद्मिनी नायकावधीरणं हेतुत्वेन योज्यम्॥34॥

अमी समुद्धूतसरोजरेणुना हृता [14]धृतासारकणेन वायुना।
उपागमे दुश्चरिता इवापदां गतिं न निश्चेतुमलं शिलीमुखाः॥4.35॥

उद्धूतपद्मरजसा धृतजलकणेन च मरुता हृताः प्रलोभिता अमी भ्रमरा नालं न समर्था गतिं हेयोपाधेयलक्षणां निश्चेतुम्। वयं कतमद्वस्तु गृह्णीम इति निश्चेत्तुं न शक्ताः। सर्वेषामेव वस्तूनां मनोहरत्वात्। यथा विषदागमे दुश्चरिता चौरादयो गतिं शरणं न निश्चेुं शफ्ताः सर्वैरेवेतेषां त्याज्यत्वात्॥35॥

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रतीः।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुः श्रियं गोत्रभिदोऽनु गच्छति॥4.36॥

विद्रुमच्छेदरक्तैश्चञ्चुभिः कपिशाः शालिशिखा वहन्ती स्वयं हरिता शुकपङ्क्तिरिन्द्रचापशोभां प्राप्नोति॥36॥

इति कथयति तत्र नातिदूरादथ ददृशे पिहितोष्णरश्मिबिम्बः।
विगलितजलभारशुक्लभासां निचय इवाम्बुमुचां नगाधिराजः॥4.37॥

तत्र तस्मिन्यक्षे एवं कथयति अथ गिरिराजोऽर्जुनेन ददृशे शरद्गुणप्रेक्षण-रसेनान्यमनस्त्वात्। कथं तर्हि दृष्टं इत्याह तिरोहितसूर्यमण्डलः। क गलितश्च्युतो जलभारो येभ्यो त एव शुभ्रच्छायानां मेघानां पटलमिव। उपमानद्वारेण सितत्वव्यञ्जनान्नगाधिराजो हिमाचलो ज्ञेयः॥37॥

तमतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तं
नगमुपरि हिमानीगौरमासाद्य जिष्णुः।
उपरतमदरागस्यानुसस्मार लक्ष्मी -
मसितमधरवासो बिभ्रतः सीरपाणेः॥4.38॥

घनवनश्यामीकृतसन्नभूमिं हिमसंहतिशुभ्रं पर्वतं दृष्ट्वा सद्यः सीरपाणेर्हलधरस्य कान्तिं सोऽस्मार्षीत्। उपरतो व्यपेतो मदरागो यस्य तथा नीलमधरवस्त्रं दधतः सदृशस्यानुभवेन वस्त्वन्तरस्मरणात्॥

इति श्रीकिरातार्जुनीयटीकायां जोनराजरचितायां चतुर्थः सर्गः॥

---

14. हता

॥पञ्चमः सर्गः ॥

अथ जयाय नु मेरुमहीभृतो रभसया नु दिगन्तदिदृक्षया।
अभिययौ स हिमाचलमुच्छ्रितं समुदितं नु विलङ्घयितुं नभः ॥5.01॥

अथ दर्शनादनन्तरं स पार्थो हिमाचलमुपाययौ हिमाद्रिसमीपमगमत्। यत उच्छ्रितमुन्नतम्। औन्नत्याद्विजनत्वेन तपः संपत्तिसंभावनयेति भावः। कीदृशं नु समुदितं प्रवृत्तं स्वित् किमर्थं मेरुपर्वतस्य जयार्थम्। मेरुमौन्नत्येन जयामीति भावेनोन्नतम्। कया वा रभसया वा तूर्णं दिगन्तदर्शनेच्छया स्विन्नतम्। उन्नत्वभाजा हि क्षणादेव सर्वं दृश्यते। कियन्ते दिगन्ता ममाक्रमणायावशिष्यन्त इति भावः। तथाकाशमुल्लङ्घयितुं प्रवृत्तम्। कया रभसया विदार्य प्रवृत्तमित्येवं वा योज्यम्। सुमेरुजये दिगन्तदर्शनेच्छायां व्योमलङ्घने चेत्युच्छ्रितत्वेन हेतुत्रये वितर्कः। उच्छ्रितमित्यकर्मकत्वात्कर्तरि क्तः॥1॥

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा॥5.02॥

एकत एकस्मिन्पार्श्वे सूर्यबिम्बशोभितम् अन्यतोऽन्यस्मिन् पार्श्वे नित्यनिशासम्बन्धितिमिरवलितसत्यौन्नत्वात् सूर्येणापि ऊर्ध्वं गन्तुमशक्यत्वात्। अत एव पुरोऽग्रभागे हसितेन भिन्नो निवारितस्तमिस्रचव इव हस्तिचर्मकालिमा यत्र। तथा हस्तिचर्मावृतं शिवमिव। अथवा हसितमट्टहासो रात्रिष्वेव भगवानट्टहासं करोति। अतस्तमिस्रं निशान्धकारः गजवर्मानुगतमिति नैशतमः सातत्यस्योपमानम्। यद्वा हसितभिन्नतमिस्रचयमिति शिवविशेषणम्॥2॥

क्षितिनभःसुरलोकनिवासिभिः कृतनिकेतमदृष्टपरस्परैः।
प्रथयितुं विभुतामभिनिर्मितं प्रतिनिधिं जगतामिव शम्भुना॥5.03॥

क्षितौ नभसि सुरलोके च निवसनशीलैर्मनुष्यदेवादिभिः कृतोऽनिकेतः स्थितिर्यत्रास्यैवाधिकं गुणत्वात्, अदृष्टं परस्परमन्योन्यं यैः गिरेर्विस्तीर्णत्वात्। अत एव जगतां भूर्नभो नाकानामिव प्रतिनिधिं किदृशं शम्भुनाऽत्मवैभवं प्रख्यापयितुं कृतम्॥3॥

भुजगराजसितेन नभःश्रिता कनकराजिविराजितसानुना।
समुदितं निचयेन तडित्त्वतीं लघयता शरदम्बुदसंहतिम्॥5.04॥

भुजगराजो वासुकिस्तद्वत्सितेन तथा नभःश्रिताकाशव्यापिना तथा कनकराजिभिर्विराजिताः सानवो यस्य तेन निचयेन शृङ्गसमूहेन समुदितमुन्नतम्। अत एव तडिद्वर्तीं सविद्युतं शरन्मेघपङ्क्तिमधः कुर्वता तडिद्वतीमिति कल्पितोपमेयम्। अत्र तडितः कनकराजिः, शरन्मेघस्य च शैल उपमेयः ॥4॥

मणिमयूखचयांशुक[1]भास्वराः सुखरधूपरिभुक्तलतागृहाः।
दधतमुच्च शिलान्तरगोपुराः पुर इवोदितपुष्पवना भुवः ॥5.05॥

मणिमयूखचय एवांशुकानि चयानां वांऽशवस्तैर्भास्वरा दीप्ता, अत एव सुरवधूभिरप्सरोभिः परिभुक्तः लतागृहा यासाँस्ताः। तथोच्चानि शिलान्तराण्येव गोपुराणि यासां तथोदितपुष्पाणि वनानि यासां ता भुवः पुरो नगरीरिव दधतम्। तत्पक्षे शिलापट्टसदृशानि गोपुराणि पूर्द्वाराणि यासां दृढत्वात् तत्प्रदेशेषु तन्नगरेषु च नाकादेत्याप्सरसो भोगं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥5॥

अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिर्विरहितैरचिरद्युतितेजसा।
उदितपक्षमिवारतनिःस्वनैः पृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैः ॥5.06॥

अम्बुदैर्मेघैरुन्नतपक्षतिमिव मेघाः पक्षत्वेन सम्भाविताः। पक्षसंभावनायां कारणमाह पृथुनितम्बे कटके विलम्बनवशीलैः। तथाऽविरतं नित्यमुज्झितं वारि यैः, अत एव विपाण्डुभिः शुभ्रैः। तथा विद्युत्तेजसा वर्जितैः तथाऽरतो निवृत्तश्चलितो निःस्वनो गर्जितं षातैः। हिमाद्रेर्हिमेन धवलत्वात्पक्षैरपि धवलैर्भाव्यम् ॥6॥

दन्तताम्राकरिभिः करिभिः क्षतैः समवतारसमैरसमैस्तटैः।
विविधकामहिता महिताम्भसः स्फुटसरोजवना जवना नदीः ॥5.07॥

आकारहेमादिधातूत्पत्तिस्थानानि विद्यन्ते येषां तैः। तथा दन्ताघातक्रीडा-प्रवृत्तत्वाद्धस्तिभिः क्षतैर्विदलितैस्तथा समवतारैः सोपानादिभिः करणैः समैः। तथाऽसमैरसादृश्यैस्तीरैरूपलक्षिता नदीर्दधतम्। कीदृशीः विविधेभ्यः शमशृरादिरूपेभ्यः कामेभ्योऽभि लाषेभ्यो हिताः तत्साधनत्वात्। यतो महिनं पवित्रत्वाह्लादकत्वाभ्यां पूज्यमम्भो यासां फुल्लपद्मवनाः, पद्मानां पूजोपकरणत्वात्। शृङ्गारोद्दीपकत्वाच्च तथा जवना वेगवतीः। तथाविधानां निर्मलत्वाच्छ्रमशृङ्गारसाधकत्वम् ॥7॥

नवनीद्रजपाकुसुमत्विषां द्युतिमतां [2]निचयेन महाश्मनाम्।
[3]निहितसन्ध्यमयूखमिव क्वचिन्निचितकाञ्चनभित्तिषु सानुषु ॥5.08॥

---

1. भासुराः
2. निकरेण
3. विहित

निचिता महत्य:काञ्चनभित्तयो येषु सानुषु स्थितानां नवकुल्लजपापुष्पभासामंशुमतां महश्मनां पद्मरागाणां राशिना क्वाप्युदितं सन्ध्याकिरणमिव। एतेन दिवसेऽपि रत्नरश्मिभि: सन्ध्याभ्रमोत्पत्ते: पर्वत विस्तारा: प्रतिपादिता: ॥8 ॥

पृथुकदम्बकदम्बक राजितं ग्रथितमालतमालल[4]ताकुलम्।
लघुतुषारतुषारजलच्युतं धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥5.09 ॥

पृथुभि: कादम्बानां पुष्पविशेषणां कदम्बकै: समूहैराजितं, तथा ग्रथिता माला याभि: पङ्क्तिरूढाभिस्तमाललताभिराकुलम्। तथा लघ्वल्पं तुषारं शीतलं यत्तत्तुषारजलं प्रलेयाम्भस्तच्चयोततिं स्रवति। तथा धृता: सदाना: समदा: सदानना: शोभनमुखा दन्तिनो येन ॥9 ॥

रहितरत्नचयान्न शिलोच्चयानपलताभवना न दरीभुव:।
विपुलिनाम्बु रुहा न सरिद्वधूरकुसुमान्दधतं न महीरुह: ॥5.10 ॥

त्यक्तरत्नराशीन् सानून्न दधतं अपितु सरत्नानेव। तथाऽपगतानि लताभवनानि याभ्यस्ता दरीभुव: कन्दरान्न दधतम्। तथा विगतानि पुलिनानि अम्बुरुहाणि च याभ्यस्तां पुलिनानां जननस्थानीयत्वात्पद्मानां च मुखस्थानीयत्वात्सरित: स्त्रीर्न दधतम्। पुष्परहितांश्च वृक्षान्न दधतम् ॥10 ॥

व्यथितसिन्धुमनीरशनै: शनैरमरलोकवधूजघनैर्घनै:।
कणभ्यतामभितो विततं ततं दयितरम्यलताबकुलै: कुलै: ॥5.11 ॥

न निष्क्रान्तरशना येभ्य: सरशनैरित्यर्थ:, तथा घनैर्निबिडैरप्सरो जघनै: शनैर्व्यथितनदीकम् प्रवाहनिरोधात्। तथा विततं विस्तीर्णम्, इष्टा मनोहर लता बकुलवृक्षाश्च येषां सर्पाणां तैरिष्टलताबकुलैर्नागानां कुलैस्ततं व्याप्तम् ॥11 ॥

ससुरचापमनेकमणिप्रभैरपपयोविशदं हिमपाण्डुभि:।
अविचलं शिखरैरूपबिभ्रतं ध्वनितसूचितमम्बुमुचां चयम् ॥5.12 ॥

अम्बुमुचां मेघानां चयं शिखरैर्दधतम्। ध्वनितेन गर्जितेन न तु सन्निवेशेन सूचितम्। सादृश्येन शिखरभ्रान्तेरिति भाव:। तदेव सादृश्यमाह सेन्द्रचापं नानारत्नदिप्तिभि:। तथाऽपपयसं निर्जलम्, अत एव विषदम्। हिमेन पाण्डुभि: तथाऽविचलितं पर्वतोन्नत्येन नित्यनिवासात्। अतो मेघेषु शिखरभ्रमो जातो गर्जितैरेव निवारित: शिखराणां गर्जिता संभवादित्यर्थ: ॥12 ॥

---

4. वनाकुलम्

विकचवारिरुहं दधतं सरः सकलहंसगणं शुचि मानसम्।
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलहंसगणं शुचिमानसम्॥5.13॥

फुल्लपद्मं कलहंससमूहसहितं निर्मलं मानसाख्यं सरो दधतम्। हिमाचलान्निसरन्त्यां गङ्गायामनुरागेणात्रायं वसतीति कृतेर्ष्यया पार्वत्या सह सकलहं शिवं च दधतम्। यदि हरोऽत्र निवासात्सकलहस्तत्किमत्र वसतीत्यत आह सगणं शुचि मानसम्। गणानां हरस्य चात्र वसतां चित्त प्रसादो जात इत्यर्थः॥13॥

ग्रहविमानगणानभितो दिवं ज्वालयतौषधिजेन कृषाणुना।
मुहुरभिस्मरयन्तमनुक्षपं त्रिपुरदाहमुमापतिसेविनः॥5.14॥

ग्रहान् विमानगणांश्चाभितो दिवमाकाशं ज्वलयता दीपयतौषधिजातेनाग्निना गतौ रात्रौ हरसेवकाँस्त्रिपुरदाहं स्मरयन्तं, त्रिपुरदाहेऽपि ज्वलनो दिवसज्वलयत्॥14॥

विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभिः।
दधतमुन्नतसानुसमुद्धतां धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम्॥5.15॥

उन्नतेषु सानुषु समुद्धतां क्षुभितामत एव बहुफलनिकरैः शीलारोधप्रतीपैर्जलैः करणभूतैर्वृतं सितं व्यजनं चामरं यया तथाविधामिव गङ्गां दधतम्। अत्रोऽप्युद्धतेषूच्चैरुन्नतः संश्चामरं विजयलक्षणं वहतीत्युक्त्यन्तरम्। चामरं चोद्धूयमानं प्रतीपं गच्छति॥15॥

अनुचरेण धनाधिपतेरथो नगविलोकनविस्मितमानसः।
स जगदे वचनं प्रियमादरान्मुखरताऽवसरे हि विराजते॥5.16॥

धनाधिपतेर्वैश्रवणस्यानुचरेण भृत्येन यक्षेण पार्थः प्रियं प्रीतिकारिवचनं जगदे, यतः पर्वतदर्शनचित्रियमानचित्तः। अपृष्टोऽपि कथमुवाचेत्याह अवसरे काले मुखरता शोभते। कालोऽत्रार्जुनाश्चर्यम्। धनाधिपतेरनुचरेणेति पर्यायवक्रतया यक्षस्य सेवाकौशलं प्रतिपादितम्॥16॥

मेषः विलोकितः प्रजानां सहसा संहृतिमंहसां विहन्तम्।
घनवर्त्म सहस्रधेव कुर्वन् हिमगौरैरचलाधिपः शिरोभिः॥5.17॥

विलोकितो दृष्ट एवैषः शैलेन्द्रः मंहसां पापानां संहतिं नैविड्यं विहन्तं भेत्तुमलं समर्थः। हिमेन गौरैः शिखरैराकाशं सहस्रधेव कुर्वन्, उन्नतैः शुभ्रैः शिखरैराकाशस्यव्याप्तत्वात्। एकस्याकाशस्य भेदमुत्पादयन्पापानि भेत्तुं समर्थोऽयमित्यर्थः। सहस्रधेव कुर्वन्निति वशेन न शिरासं सहस्रसङ्ख्यत्वे हिमवतो भवन्मूर्त्यन्तरत्वसिद्धौ पापनाशोक्तेः सङ्गतत्वम्॥17॥

इह दुराधिगमैः किञ्चिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम्।
अमुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम्॥5.18॥

इहास्मिन् हिमवति पण्डिता अन्तरं मध्यमागमैः शास्त्रैः न तु दृष्ट्वा वर्णयन्ति। शास्त्रेष्वेतद्गुणाञ्श्रुत्वा पण्डिता लोकानामेतन्मध्यगुणान्किञ्चिदेव न तु सर्वान् वर्णयन्ति। यतो दुरधिगमैर्दुर्बोधैः। मध्यं दृष्ट्वा किं न वर्णयन्तीत्याह असुतरं न मुखेन तीर्यते अतिगहनत्त्वात् पद्मयोनिर्विधाताऽमुं शैलं परमशेषतया वेद-जानाति। यतोऽति गहनं दिग्व्यापिनम्। अत एव पर पुरुषमिव सोऽपि हतिगहनः सर्वव्यापि च। संशय काकुस्वरेण वा वेदशब्दो युक्तो व्याख्येयः ब्रह्मा केवलमपि वेदापि जानाति इत्यर्थः॥18॥

रुचिरपल्लवपुष्पलता[5]कुलैरुपलसज्जैर्जलराशिभिः।
नयति सन्ततमुत्सुकतामयं धृतिमतीरुपकान्तमपि स्त्रियः॥5.19॥

मनोरमपत्रपुष्पलतागणैर्विकसत्पद्मैः सरोभिः करणभूतैरयं कामिनीरुत्कण्ठयति। उपकान्तं कान्तसमीपे सुखवतीरपि अतिशृङ्गारोद्दीपकत्वात्॥19॥

सुलभैः सदा नयवताऽयवता निधिगुह्यकाधिपरमैः परमैः।
अमुना धनैः क्षितिभृतातिभृता समतीत्य भाति जगती जगती॥5.20॥

जगती भूमि-लोकः जगती जगद्द्वयं भूः स्वश्च समतीत्य जित्वा शोभते। यतोऽमुना क्षितिभृता शैलेन हेतुना धनैरतिभृता पूरिता नयवता नीतिज्ञेनाऽयवता सानुकूलविधिना च पुंसा प्रापैः। निधीनां गुह्यकानां चाधिपो वैश्रवणस्तं रमयद्भिः यतः परमैरुत्कृष्टैः। अत्र शैले तानि धनानि सन्ति यानि लोकद्वये न लभ्यन्त इत्यर्थः॥20॥

अखिलमिदममुष्य गौरीगुरोस्त्रिभुवनमपि नैति मन्ये तुलाम्।
अधिवसति सदा यदेनं जनैरविदितविभवो भवानीपतिः॥5.21॥

अस्य गौरीगुरोर्हि भवतः समस्तमपि त्रिभुवनं स्पर्धां न लभते। यद्यतो जनैः सुरासुरैरज्ञातमहिमा भगवानेनं हिमाद्रिं नित्यमाश्रयति। यदि त्रिभुवनमेतस्य समँस्यात्तदा भगवाँस्तदपि कदाचिदाश्रयेत्॥21॥

वीतजन्म[6]जरसः परं शुचि ब्रह्मणः पदमुपैतुमिच्छताम्।
आगमादिव तमोपहादितः सम्भवन्ति मतयो भवच्छिदः॥5.22॥

वीते निवृत्ते जन्मजरसौ जननमरणे येन तस्य ब्रह्मणः पदं स्थानं परममुत्तममत

---

5. गृहैः
6. जरसः

एव शुचि वाञ्छतां पुंसामागमान्मोक्षशास्त्रादिव इतः शास्त्रात्संसारनिर्वर्त्तिन्यः बुद्धयः सम्भवन्युत्पद्यन्ते हिमवतो मोक्षाङ्गवस्तु लाभात् ॥22 ॥

दिव्यस्त्रीणां सचरणलाक्षारागा रागायाते निपतितपुष्पापीडाः ।
पीडाभाजः कुसुमचिताः साशंसं शंसन्त्यस्मिन्सुरतविशेषं शय्याः ॥5.23 ॥

शय्याःशयनानि रागस्य पाते उद्द्रेके सति दीव्यस्त्रीणां सम्बन्धिनं सुरतविशेषं पुरुषायितुं शंसन्ति सूचयन्ति साशंसं साभिलाषम्। शय्याविशेषणद्वारेण सूचनलिङ्गान्याह सहचरणलाक्षारागेण वर्तमानाः, तथा निपतिताः पुष्पापीडाः शेखरा यासु तथा पीडां मन्दत्वं भजन्ते। स्त्रीणामष्टगुणकामत्वात् स्त्रियो हि पुरुषायितेषु पुरुषवक्षस्थलीरारोहन्ति। ततस्तत्पादयावकमुद्रासङ्क्रमादिशय्यासु संभवति। अस्य शृङ्गारोद्दीपकत्वात्स्त्रियो लज्जां त्यक्त्वा पुरुषायितुं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥23 ॥

गुणसम्पदा समधिगम्य परं महिमानमत्र महिते [7]जगतः ।
नयशालिनि श्रिय इवाधिपतौ विरमन्ति न ज्वलितुमौषधयः ॥5.24 ॥

गुणानां गुरुलध्वादीनां सम्पत्तिस्तया परमुत्कृष्टं महिमानं प्राप्यौषधयो ज्वलितुं न विरमन्ति न निवर्तन्ते। अत एव जगतः पूज्येऽस्मिन् व्याधिशमनशक्तौषधिलाभात् यथा। गुणानां नयार्जवादीनां सम्पदा माहात्म्यं प्राप्य लक्ष्म्यः स्वामिनि ज्वलितुं न विरमन्ति ॥24 ॥

कुररीगणः कृतरवस्तरवः कुसुमानताः सकमलं कमलम् ।
इह सिन्धवश्चः वरणावरणाः करिणां मुदे सनलदानलदाः ॥5.25 ॥

कुररीणां पक्षविशेषस्त्रीणां गणोऽत्र कृतरवः कृतशब्दः, तथा द्रुमाः पुष्पैर्नताः, तथा सपद्मं कमलं जलम्। यद्वा कं जलमलमत्यर्थमिति योज्यम्। वरणास्तमालास्त एवावरणमाच्छदनं तेन सहिताः। अत एव नद्यो हस्तिनां हर्षाय भवन्ति। यद्वाऽलमित्यनुषङ्गः सनलदाः सह नलदाभिः सलीलताभिर्वर्तन्ते यास्ताः सनलदाः, तथानलं तृणविशेषं ददौति ॥

सादृश्यं गतमपनिद्रचूतगन्धै-
रामोदं मदजलमेकजं दधानः ।
एतस्मिन्मदयति कोकिलानकाले
लीनालिः सुरकरिणां कपोलकाषः ॥5.26 ॥

सुरहस्तिनां गण्डकर्षणमकालेव सन्तादन्यत्र कालेऽपि कोकिलान्हर्षयतिं यतो विकसताम्रसौरभैः · साम्यं गतं मदामोदं विभ्रणः। अत एव लीनभ्रमरः मदामोदचूतसौरभभ्रान्त्या कोकिलाश्चूतप्रियत्वात्तुष्यन्तीत्यर्थः ॥

---

7. जगताम्

[8]सनागवनितं नितम्बरुचिरं चिरं सुनिनदैर्नदैर्वृतममुम्।
मता फणवतोऽवतो रसपरा परास्तवसुधा सुधाधिवसति ॥5.27॥

फणिप्रियासहितं नितम्बैरुचितं सशब्दैर्नदै: सहितममुं पर्वतं सुधाधिवसत्याश्रयते। फणवतो नागानुवतो रक्षतो नागपतेर्मता प्रिया तथा रसेन मधुरादिना परा उत्कृष्टा तथा परास्ता अस्पृष्टा वसुधा यया। भूमौ दुर्लभा सुधात्र लभते इत्यर्थ:॥27॥

श्रीमल्लताभवनमोषधय: प्रदीपा:
शय्या नवानी हरिचन्दनपल्लवानि।
अस्मिन् रतिश्रमजि[9]तश्च सरोजवाता:
स्मर्तुं दिशन्ति न दिव: सुरसुन्दरीभ्य: ॥5.28॥

एतानि कञ्चणि दिव: स्मर्तुं स्वर्गस्मरणं नाकि स्त्रीभ्यो न दिशन्ति। अधिकगुणत्वात्स्वर्गं विस्मारयन्तीत्यर्थ:। तान्येवाह लता एव श्रीयुक्तं गृहं, तथौषधय एव दीपा:, तथा नवानि हरिचन्दनपत्राणि शयनानि, तथा पद्मपवना:। सुरतश्रमहारिणश्चामरादय: स्वर्गे गृहादीनां तपो रूपयत्नलभ्यत्वादिहायत्नलभ्यत्वात्स्वर्गविस्मारणं जातमित्यर्थ:। केचितु प्रदीपानिति पठन्तो लतादय: कर्तारो दिव: सम्बन्धीनि भवंनादीनि स्मर्तुं न दिशन्तीति व्याचक्षन्ते। दिव इति अधिगर्थे षष्ठी।

ईशार्थमम्भसि चिराय तपश्चरन्त्या
यादोविलङ्घनविलोलविलोचनाया:।
अलम्बताग्रभू[10]जमत्र भवो भवान्या:
[11]श्चोतन्निदाघसलिलाङ्गुलिना करेण ॥5.29॥

अत्र शैले भवो महेश्वरो भवान्या गौर्या भूजाग्रं हस्तेनालम्बतागृहीत्, विधिपूर्वकाद्दानात्। पूर्वमत्रेश्वरोपलाया: पाणिग्रहणं कृतवान्। ईशार्थं परमेश्वरं पतिं प्राप्तुं जले चिराय तप: कुर्वन्त्या:। अत एव यादोभिर्जलचरैर्यल्लङ्घनमुत्फलस्तेन लोलदृष्टे: प्रसादार्थे, हरागमनभ्रमादिति भाव:। श्चोतदनुरागवशात्स्रवन्निदाघसलिलं स्वदेजलं यासां ता अङ्गुलयो यस्य करस्य। याद: सहिते जले तपश्चरणं गौर्या जीवितनिरपेक्षत्वद्योतनार्थम्॥29॥ इति हिमवद्वर्णनम्॥

---

8. सनाकवनितम्
9. नुदश्च
10. करमत्र
11. श्च्योतन्

येनापविद्धसलिलस्फुटनागगे[12]हं
देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे।
व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः
खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥5.30॥

अपविद्धं तटेषु विक्षिप्तं यज्जलं तेन स्फुटानि प्रकटदृष्टानि नागगेहानि पातालवास्तव्य गृहाणि, यत्रैवं कृत्वा येन करणभूतेन देवासूरैः कर्तृभिरम्बुधिरमृतं मथितः स मन्दरपर्वतः शोभते। मथनकाले नेत्रभूतत्वादहिपतेर्वासुकेर्व्यावर्तनैः कर्षणैराहिताङ्कः कृतचिह्नस्तथा खं नभो व्यालिखन्निव मूलेन मया पातालव्यापी समुद्रः व्यालिखितस्तुङ्गैः शिखरैराकाशमपि व्यालिखामीति भावः। अथवा वासुकिना नेत्रभूतेन कृतेष्वङ्केषु निम्नत्वमस्ति अङ्कस्थानादन्यत्र व्यूढत्वमतः संभाव्यते। खं व्यालिखतीति नूनमङ्कस्थानस्थितं निम्नसमं सर्वत्राद्रिदेहे स्वमासीत्। मध्यस्थानेन कोमलत्वात् खं न व्यालिखितं। व्यूढस्थानैस्तु व्यालिखितम्। यश्च वाम्यादिकं काष्ठादि व्यालिखति तद्व्यालेख्यस्य काष्ठादेरन्तरमाविशति। अम्बुनिधावप्रधानंकर्मणि मथ्नातेर्लकारः ॥30॥

नीतोच्छ्रायं महुरशिशिररश्मेरुस्त्रै-
रानीलाभैर्विरचितपरभागा रत्नैः।
ज्योत्सनाशङ्कामिह वितरति हंसश्येनी
मध्येऽप्यह्नः स्फटिकरजतभित्तच्छाया ॥5.31॥

अह्नो मध्येऽपि स्फटिकरजतभित्तिच्छाया ज्योत्स्नेयमिति भ्रान्तिं करोति। भ्रान्तिबीजं विशेषणद्वारेण विस्पष्टीकरोति। सूर्यांशुभिरुच्छ्रयं प्रापिता तथानीलप्रभैरत्नैः कृतशोभाधिक्या हंसवच्छ्वेता ज्योत्स्नाप्येवंविधा भवति। श्वेतशब्दाञ्जपतस्य नत्वम् ॥31॥

दधत इव विलासशालि नृत्तं मृदु पतता पवनेन [13]कम्पितेषु।
इह ललितविलासिनीजनभ्रूगतिकुटिलेषु पयस्सु पङ्कजानि ॥5.32॥

मृदु शनैः पतता वहता पवनेन कम्पितेषु तरङ्गितेषु सरस्सु। अत एव मनोरमविलासवती भ्रूविलासवक्रेषु सरस्सु पद्मानि विलासशोभमानं नृत्तमिव पद्मानीह बिभ्रति। आधारस्य कम्पवत्येनाधेयानां पद्मानामपि कम्पान्नृत्तोत्प्रेक्षा ॥32॥

असिन्नगृह्णत पुरां जयिना सलिल-
माबद्धवेपथुरधीरविलोचनायाः।
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः
स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः ॥5.33॥

---

12. सद्मा
13. कम्पितानि

पुराजयिना ईश्वरेण ईश्वरायाः पाणिरस्मिन्मन्दरे सलीलं कृत्वा गृहीतः अनुरागवशान्निन्तरकम्पः प्रियदर्शनार्थमधीरे लुम्पटे विलोचने यस्याः मङ्गलार्थं महौषधयो विन्यस्ताबद्धा यस्य विवाहकौतुकोचितत्वात्। अत एवोर्ग एव प्रतिसरं कौतुकहस्तसूत्रं स्रस्तं शिथिलं यस्य औषधिगलैरहेर्हतवीर्यत्वात् ॥33॥

क्रामद्भिर्घनपदवीमनेकवर्णै-
स्तेजोभिः शुचिमणिजन्मभिर्विभिन्नः
उत्त्राणां व्यभिचरतीव सप्तसप्तेः
पर्यस्यन्निव निचयः सहस्रसंख्याम् ॥5.34॥

इह पर्यस्यन्प्रसरन्सूर्यस्य रश्मीनां समूहः सहस्रमिति संख्यां व्यभिचरति विसंवदति। अनेकमहस्रसंख्यः सूर्यांशुसमूहो भवतीवेत्यर्थः। यत आकाशं व्याप्नुवद्भिर्नानावर्णै-र्विमलरत्नजातैस्तेजोभिर्विभिन्नो मिश्रितः॥

व्यधत्त यस्मिन् पुरमुच्चगोपुरं पुरां विजेतुर्धृतये धनाधिपः।
स एष कैलास उपान्तसर्पिणः करोत्यकालास्तमयं विवस्वतः ॥5.35॥

उच्यानि गोपुराणि पुर द्वाराणि यस्यास्तां पुरं नगरीं धनाधिपः पुरांविजेतुस्त्रिपुरविजयिनो धृतये सततनिवासाय यत्र कृतवान्। स एष कैलासो निकटगामिनः सूर्यस्याकाले समयावध्यभावेऽपि अस्तमयं करोति। उतुङ्गशिखरत्वात् अयमत्र वाच्येतरार्थः। सच्छिखरमध्यवसतो भगवतः पुरस्तेजोऽन्तरं कथमुल्लसति इतीवार्कं ग्लपयतीत्यर्थः॥

नानारत्नज्योतिषां सन्निपातैश्छन्नेष्वन्तः सातु वप्रान्तरेषु।
बद्धांबद्धां भित्तिशङ्काममुष्मिन्नावानावान्मातरिश्वा निहन्ति ॥5.36॥

नानाविधानां रत्नानां सम्बन्धिनां ज्योतिषां दीप्तीनां सन्निपातैः समागमैः पिहितेष्वन्तः शिखरं तटान्तरेषु बद्धांबद्धां भित्तिरियमिति शङ्कां वायुर्निवारयति। आवानाऽवात् आगच्छन्। यदा तटमध्येन वायुर्निःसरति तदा ज्ञायते नात्र भित्तिरस्ति इति सभित्तिके स्थाने पवनस्यागमासंभवात् ॥36॥

रम्या नवद्युतिरपैति न शाद्वलेभ्यः
श्यामीभवन्त्य[15]वदिनं नलिनीवनानि।
अस्मिन्विचित्रकुसुम स्तबकाचितानां
शाखाभृतां परिणमन्ति न पल्लवानि ॥5.37॥

---

14. संख्यैः
15. अनुदिनम्

शाद्वलेभ्यो नवा द्युतिर्नापैति प्रतिदिनं पद्मिनीवनानि श्यामत्वं प्राप्नुवन्ति। नानापुष्पगुच्छसहितानां वृक्षाणां किसलयानि न परिणामं प्राप्नुवन्ति। सर्वेऽत्र पदार्था. नित्यतरुणा इत्यर्थः॥37॥

परिसरविषयेषु लीढमुक्ताः [16]प्रथमतृणोद्गमवा[17]ञ्छया मृगीभिः।
इह [18]शिशुशुककोमला मजीनां रविकरसंवलिताः फलन्ति भासः॥5.38॥

मृगीभिः प्रथमं नवोद्भिन्नं यत्तृणं तस्योद्गम इति भ्रान्त्या लीढास्तथैवमुक्ता-स्त्यक्तामणिरुचां स्वादाभावात्। भ्रान्तेरत्र हेतुमाह शिशुशुकवत्कोमलानीलवर्णाः तथाक्राँशुमिश्रिताः फलन्ति स्फुरन्ति कुत्रेहास्मिन्त्रिरौ परिसरे व्रध्नभागे विषयाः स्थानानि तत्र। विषमेष्विति पाठः न प्रकृतार्थपरिपोषकः। मृगीभिरिति स्त्रीलिङ्गस्योपन्यासो मौग्ध्यप्रतिपादनार्थः॥

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मा-
दुद्धूतः सरसिजसंभवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्ता-
दाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥5.39॥

सरसिजेभ्यः पद्मेभ्यः संभवो यस्य स परागः छत्रस्य श्रियमाधत्ते उत्पादयति। उत्फुल्लात्स्थलनलिनीवनाद्वात्याभिरुत्क्षिप्तस्ताभिरेवाकाशे मण्डलीकृतः एतेन हिमवतः शैलगजत्वमायशोक्तं दर्शयति। कमलकेसराणां सुवर्णच्छत्रोल्लेखो भारविणा प्रथममुपनिबद्ध इति सुवर्णच्छत्रभारविरिति प्रसिद्धः॥39॥

इह सनियमयोः सुरपगायामुषसि सयावकसव्यपाद[19]लेखा।
कथयति शिवयोः शरीयोगं विषमपदा पदवी विवर्तनेषु॥5.40॥

उषसि विवर्तनेषु सन्ध्याप्रदक्षिणेषु शिवयोर्गौरीहरयोः पदवी पद्धतिः तयोरेव शरीरयोगं देहयोरैक्यं कथयति ज्ञापयति यतः सयावका सव्या वामा लक्ष्मभूता लेखा पादमुद्रा यस्या। तथा विषमानि पृथुतनूनि दीर्घह्रस्वानि वा पदानि यस्याः सा। इह शैले गङ्गायां मुनियमयोः गृहीततत्कालोचितव्रतयोः सलक्तकांवामपादमुद्रामसमपादन्यासां च पद्धतिं दृष्ट्वा भगवतोर्देहद्वयस्यैक्यापादनमनुमीयते इत्यर्थः॥40॥

---

16. हरति
17. शङ्कया
18. नवशुक
19. रेखा

संमूर्च्छतां रजतभित्तिमयूखजालै-
रालोलपल्लवलतान्तरनिर्गतानाम्।
घर्मद्युतेरिह मुहुः पटलानि धाम्ना-
मादर्शमण्डलनिभानि समुल्लसन्ति ॥5.41॥

घर्मद्युतेः सूर्यस्य धाम्नां तेजसां पटलानि इह दर्पणबिम्बसदृशानि शोभन्ते। यत आलोलाः कम्पा वायुवशात्सकम्पाः पल्लव यासां तासां लतानामन्तरेण रन्ध्रेण निर्गतानाम् तथा रजतभित्तेर्मयूखजालैः संमूर्च्छतामुल्लसताम् ॥41॥

शुक्लैर्मयुखनिचयैः परिवीतमूर्ति-
र्वप्राभिघातपरिमण्डलितोरुदेहः।
शृङ्गाण्य[20]मुत्र भजते गणभर्तुरुक्षा
कुर्वन् वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्काम् ॥5.42॥

शुक्लैरिति। शुक्लतरैरिति प्रतियते। शुक्लतरत्वं देहमुखितत्वात् शुभ्रैरंशुराशिभिर्वलिताङ्गः तथा वप्राभिघातेन मदोदग्रत्वात्तटघातेन परिमण्डलितो मण्डलवान्कृत उरुः पीवरो देहो येन यस्य वा स हरस्य वृषभोऽस्य शिखरान् सेवते। अतः मुग्धस्त्रीचित्तेषु शशाङ्क इति भ्रान्ति कुर्वन् नूनं शिखराच्चन्द्र उदित इति मुग्धस्त्रियो मन्यन्ते इत्यर्थः। भगवानत्र निवसतीति तात्पर्यम् ॥42॥

सम्प्रति लब्धजन्म शनकैः कथमपि लघुनि
क्षीणपयस्युपेयुषि भिदां जलधरपटले।
खण्डितविग्रहं बलभिदो धनुरिह विविधाः
पूरयितुं भवन्ति विभवः शिखरमणिरुचः ॥5.43॥

सम्प्रति शरत्काले क्षीणजले। अत एव लघुनि भिदां खण्डितत्वं प्राप्ते मेघपटले कथमपि जातमिन्द्रचापं पूरयितुं पूर्णकर्तुं शिखररत्नरश्मयः समर्था भवन्ति। यतः खण्डितरूपं कार्यस्य कारणगुणत्वात् विविधा नानावर्णाः ॥43॥

स्नपितवनलतातरुप्रवालै-
रमृतलवस्रुतिशालिभिर्मयूखैः।
सततमसितयामिनीषु शम्भो-
[21]र्धवलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा ॥5.44॥

---

20. अमुष्य
21. अमल

स्नपिता आर्द्रिकृता वने लतातरूणां पल्लवा यैः। यतः सुधाकणस्रवणशोभिभिः किरणैः करणभूतैर्हरस्य चन्द्रकला कृष्णपक्षरात्रिषु नित्यं वनान्तं प्रकाशयति ॥44॥

क्षिपति योऽनुवनं विततां बृहद्बृहतिकामिव रौचनिकं रुचम्।
अयमनेकहिरण्मयकन्दरस्तव पितुर्दयितो जगतीधरः ॥5.45॥

रोचनया रक्तां रुचं बृहतीं बृहतिकां वस्त्रविशेषमिव यः प्रतिवनं किरतिमबहुसुवर्णदरी को महीधरस्तव पितुरिन्द्रस्य वल्लभः। इन्द्रस्य सेव्यत्वात्पितृव्यपदेशोऽत्र कुतः। अन्यथा स भृत्योऽपि यक्षः पाण्डुपुत्रस्य स्फुटं तव पितुरिति कथं ब्रूयात्। स पर्वतो हीन्द्रप्रियत्वादेवेन्द्रकील इति प्रसिद्धः ॥45॥

सक्तिं जवादपनयत्यनिले लतानां
वैरोचनैर्द्विगुणिताः सहसा मयूखैः।
रोधोभुवां मुहुरमुत्र हिरण्मयीनां
भासस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ॥5.46॥

घनत्वादिह लतानां सक्तिमन्योन्संश्लेषं वायौ निवारयति सति सूर्यसम्बन्धिभिः किरणैर्द्विगुणीकृतः। सौवर्णीनां तटभूमीनां दीप्तयो विद्युत्स्फुरणानि तुलयन्ति। वायोर्लोलत्वेन पुनरपि प्राग्वल्लतासंश्लेषाद्दीप्तीनामस्फुरणात् ॥46॥

कषणकम्पनिरस्तमहाहिमभिः क्षणविमत्तमतङ्गजवर्जितैः।
इह मदस्नपितैरनुमीयते सुरगजस्य गतं हरिचन्दनैः ॥5.47॥

जनेन सुरगजस्य ऐरावतस्य हयमनमनुमीयते। कैर्हेतुभिः हरिचन्दनैः कषणेन गण्डकषणेन यः कम्पस्तेन हेतुना निरस्ता महाहयो यैः। तथा क्षणमेव विमत्तैः विशिष्टमदैस्ततो गन्धविशेषावगमान्मदशून्यैर्मतङ्गजैस्त्यक्तैः। तथा मदेन स्नपितैः। हरिचन्दनानां कषणमात्रेण कम्पनं मदगन्धभयात्करिभिर्वर्जनं मदजलेन स्वपनं च द्विपान्तरेण कर्तुमशक्यम् ॥47॥

जलदजालघनैरसिताश्मनामुपहतप्रचयेह मरीचिभिः।
भवति दीप्तिरदीपितकन्दरा तिमिरसंवलितेव विवस्वतः ॥5.48॥

मेघपटलघनैरिन्द्र नीलानां रश्मिभिः पराभूतविभवा त एवाप्रकाशितदरीका सूर्यस्य दीप्तिरन्धकारवेष्टितेवात्र भवति ॥48॥

भव्यो भवंन्नपि मुनेरिह शासनेन
क्षात्रे स्थितः पथि तपस्य हतप्रमादः।
प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ॥5.49॥

स्वभावेन भव्यो भाग्यवानपि सँस्त्वं मुनेर्व्यासस्य शासनेनाज्ञया क्षात्रे पथि कवचधारणादौ स्थितः हतप्रमादस्त्यक्त निरवधानस्तस्य तपः कुर्याः। न सस्तपो वरिवस इति क्यच्। भव्यगेयेति कर्तरि साधुः। कस्मिन्नपि मा विश्वसीरित्यर्थः। भव्यस्य कथं प्रमादः स्यादित्याह विधौ देवे कर्मणि वाहिते सत्यपि श्रेयांसि विघ्नैर्विना लब्धुमसुखानि। भव्यानामपि श्रेया लाभार्थं यत्नं कुर्वतां विघ्ना जायन्त इत्यर्थः। आशीद्वरिणोपसंहरति ॥49॥

मा भूवन्नपथहृतस्तवेन्द्रियाश्वाः
संतापे दिशतु शिवः शिवां प्रसक्तिम्।
रक्षन्तस्तपसि बलं च लोकपालाः
कल्याणीमधिकफलां क्रियां क्रियासुः ॥5.50॥

इन्द्रवाण्येव नियन्तुमशक्यत्वादश्वा अपथेन हरन्तस्तव मा भूवन्। सन्तापे सति शिवः श्रेष्ठं प्रसादं देयात्। तपसि तपोविषये बलं सामर्थ्यं रक्षन्तो वर्धयन्तः सन्तो लोकपालाः कल्याणीं क्रियां तपश्चरणलक्षणामधिकफलां क्रियासुः ॥50॥

इत्युक्त्वा सपदि हितं प्रियं प्रियार्हे
धाम स्वं गतवति राजराजभृत्ये।
सोत्कण्ठं किमपि पृथासुतः प्रदध्यौ
सन्धत्ते भृशमरतिं हि सद्वियोगः ॥5.51॥

हितं प्रियं चैवमुक्त्वा राजराजभृत्ये यक्षे स्वं स्थानं गतवति सति सोत्कण्ठः सन् पृथासूनुरर्जुनः किमप्यचिन्तयत्। युक्तमेतत् सतां वियोगः दूरगमनं भृशमरतिं रणः रणिकां ददाति ॥51॥

तमनतिशयनीयं सर्वतः सारयोगा-
दविरहितमनेकेनाङ्कभाजा फलेन।
अकृशमकृशलक्ष्मीश्वेतसाशंसितं स
स्वमिव पुरुषकारं शैलमभ्याससाद ॥5.52॥

सोऽर्जुनस्तदिन्द्रकीलपर्वतं चेतसाभ्याससाद। इदं तपश्चरणार्थं श्रेष्ठं स्थानमिति मनसा निरचैषीदित्यर्थः। सर्वतः साराणां सर्वोत्कृष्टवस्तूनां योगादनतिशयनीयं जेतुमशक्यं। अनेकेन नानाविधेनाङ्कभाजा मध्यवर्तिना फलेन द्राक्षादिना युक्तम्। अकृशं महान्तम् आशंसितं स्तुतं प्रागभिलषितं वा अत एव स्वं विक्रममिव, पत्पक्षे सारो बलं फलं भूमिलाभादिबहुश्रीरितिभद्रम॥

इति श्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां हिमवद्वर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः॥

॥षष्ठः सर्गः॥

रुचिराकृतिः कनकसानुमथो परमः पुमानिव पतिं पतताम्।
धृतसत्पथस्त्रिपथगामभितः स तमारुरोह पुरुहूतसुतः॥6.01॥

त्रिपथगामभितो गङ्गासंमुखं धृतः सन्न विषमः पन्था येन स पुरुहूतसुतोऽर्जुनस्तमिन्द्रकीलपर्वतमारुरोह। कनकमयाः सानवो यस्या त एव परमः पुमान्हरिर्यथा पततां पतिं गरुडमारोहति। गरुडश्च सुवर्णपत्रः। गरुडाधिरूढस्य हरेरुपमानत्वप्रतिपादनेन भविष्यदुदयसूचनं कविना कृतम्। तदुपोद्बलकं च रुचिराकृतिरिति विशेषणम्। भाविन्यां हि हानौ प्रागेव मुखवैवर्ण्यादयो जायन्ते। अग्रिमश्लोकैश्चोदयस्यैव भविष्यत्वं सूचयति॥1॥

तमनिन्द्यबन्दिन इवेन्द्रसुतं विहितालिनिक्वणजयध्वनयः।
पवनेरिताकुलविजिह्मशिख जगतीरुहोऽवचकरुः कुसुमैः॥6.02॥

जगत्यां भूमौ रोहन्तीति जगतीरुहो वृक्षास्तं पुष्पैरवचकरुः पूरयामासः। बलीनां निक्वणो रुतमेव जयध्वनिर्विहितो यैः। तथा पवनेनेरिताः कम्पिता आकुलाश्चला विजिह्माः पुष्पभरा नम्राः शिखा येषामत एवानिन्द्या गुणवन्तो वन्दिनो वैतालिका इव तेऽप्युत्तानहस्ता जयध्वनिकृतः पुष्पैः पूर्वं तं यथा पूरयन्॥2॥

अवधूतपङ्कजपरागकणास्तनुजाह्नवीसलिलवीचिभिदः।
परिरेभिरेऽभिमुखमेत्य सुखाः सुहृदः सखायमिव तं मरुतः॥6.03॥

मरुतो वायवस्तं परिरेभिरे आलिङ्गन् अभिमुखं सम्मुखमेत्य। किदृशाः अवधूताः पङ्कजानां परागकणा यैः। एनेन वायूनां सौगन्ध्यशैत्यवर्णनं कृतम्। तथा तनुः सूक्ष्मा जाह्नव्याः सलिलवीची भिन्दन्ति। एतेन वायूनां शैत्यमार्दवोक्तिः।—एव सुखाः सुखावहाः यथा सुहृदः सखायं परिरभन्ते भविष्यदुदयमाहात्म्यात्सन्निमित्तप्राप्तिः॥3॥

उदितोपलस्खलनसंवलिताः स्फुटहंससारसविरावयुजः।
मुदमस्य माङ्गलिकतूर्यकृतां ध्वनयो [1]वितेनुरनुवप्रमपाम्॥6.04॥

---

1. प्रनेतु

वप्रं तठमनु अपां ध्वनयोऽस्य मुदं प्रतेनुरुदपादयन् माङ्गलिकैर्मङ्गलप्रयोजनैः तूर्यैःकृतां। ध्वनने हेतुमाह उदितेभ्य उन्नतेभ्यः शिलाभ्यः स्खलनं विपतनं तेन संवलिता उत्पन्नाः स्कुटं हंससारसानां विरावं शब्दं युञ्जते। भविष्ययदुदयमाहात्म्याज्जलौघध्वनिना मङ्गलातोऽद्य श्रवणजनितास्य तुष्टिरभूत ॥4॥

अवरुग्णतुङ्गसुरदारुतरौ निचये पुरः सुरसरि[2]त्पयसा।
स ददर्श वेतसव[3]नारचितां प्रणतिं बलियसि [4]विवृद्धिकरीम् ॥6.05॥

बलीयसि वेगवति अतोऽवरुग्णाः पतितास्तुङ्गा अनम्राः सुरदारुतरवो देवदारुवृक्षा येन तस्मिन्सुरसरित्पयसो निचये प्रवाहे वेतसवनेनारचितां कृतां तस्यैव विवृद्धिं वर्धनं करोति तां प्रणतिं नम्रतां स ददर्शाद्राक्षीत्। एतेन पार्थस्य शत्रवो नमन्तीति सुनिमित्तोक्त्या सूचितम् ॥5॥

[5]विबभूव नालमवलोकयितुं परितः सरोजरजसारुणितम्।
सरिदुत्तरीयमिव संहतिमत्स तरङ्गरङ्गि कलहंसकुलम् ॥6.06॥

स पार्थः कलहंसकुलमवलोकयितुं द्रष्टुं न विबभूव न पयाप्तोऽभूत्। सरोजरजसालमत्यर्थमरुणितं रक्तीकृतम्। संहतिर्यूथस्थितिर्विद्यते यस्य तरङ्गेषु रङ्गति क्रीडति। अत एव सरितः नद्य उत्तरीयमिव तत्पक्षे तरङ्गावल्ल्यः ॥06॥

अनुहेमवप्रमरुणैः समतां गतमूर्तिभिः सहचरं पृथुभिः।
स रथाङ्गनामवनितां करुणैरनुबध्नतीमभिनन्द रुतैः ॥6.07॥

स पार्थो रथाङ्गनाम्नो वनितां चक्रवाकीमभिननन्दाऽश्लाघत्। कीदृशीं, सहचरं प्रियमनुबध्ननी। क्वगतोसीति क्रूद्धन्तीम्। कैः करुणैर्दीनैः रुतैः शब्दैः। अनुबन्धे हेतुमाह अनुहेमवप्रं, सुवर्णतटनिकटे तत्प्रभासङ्गादरुणैरूर्मिभिर्लहरीभिः समतां सादृश्यं गतं चक्रवाकमपि ऊर्मिं मन्यमानाम् प्रियादर्शनात् प्रियं शोचन्तीं चक्रवाकीमसौ मुग्धत्वात्प्रेमत्वाच्च प्रशशंसेत्यर्थः ॥07॥

दधति क्षतिः परिणतद्विरदे मुदितालियोषिति मदस्रुतिभिः।
अधिकां स रोधसि बबन्ध धृतिं महते रूजन्नपि गुणाय महान् ॥6.08॥

स पार्थो रोधसि तटेऽधिकां धृतिमवस्थानं बबन्ध चिरमस्थात्। अवस्थानधृतौ

---

2. पयसाम्
3. आचरिताम्
4. समृद्धिकरीम्
5. प्रबभूव

हेतुमाह परिणता दन्ताघातक्रीडप्रवृत्ता द्विरदा यत्र। अत एव क्षतीः क्षतानि खातानि बिभ्रति। तथा मदजलप्रवाहैर्मुदिताः सन्तुष्टा अलियोषितो भ्रमर्यो यत्र तस्मिन्। योषिद्ग्रहणं लोलुभत्वस्वभावा अपि स्त्रियस्तत्र तृप्ताइति प्रतिपादनार्थम्। मुदिताश्च योषितोऽत्यर्थं सुखमुत्पादयन्तीति प्रतिपादनस्य फलम्। महान्महासत्वो रुजन्नपि बाधमानोऽपि महते गुणाय भवति। अर्जुन चिरावस्थानमत्र महागुणः ॥08॥

सितवाजिने निजगदुरुचयश्चलवीचिरागरचनापटवः।
मणिजालमम्भसि निमग्नमपि स्फुरितंमनोगतमिवाकृतयः ॥6.09॥

रुचयः प्रभामणिगणं सितवाजिनेऽर्जुनाय निजगदुः प्रकाशयामासुः। प्रकाशने हेतुमाह अम्भसि निमग्नं ब्रुडितमपि। तर्हि तेन प्रभा दृष्टेत्याह चलानां वीचीनां रागरचनायां रञ्जने पटवः प्रगल्भाः लहरीरक्ता दृष्ट्वाऽर्जुनो रत्नराशिं जलमग्नं ज्ञातवान्। यथा मनोगतं हर्षविषादादय आकृतय आकाराः सूचयन्ति ॥09॥

उपलाहतोद्धततरङ्गसृतंजविना विधूतविततं मरुता।
स ददर्श केतकशिखाविषदं सरितः प्रहासमिव फेनमपाम् ॥6.10॥

उपलैः पाषाणैराहता रुद्धस्फारा अत एवोद्धता ये तरङ्गास्तेभ्यः सृतमुत्पन्नं। तथा जविना वेगवता मरुताऽवधूतः कम्पितो विस्तारितश्च तम्। तथा केतकीपुष्पाग्रशुक्लमत एवार्जुनदर्शनजातं नद्या अपां हासमिव फेनं सोऽद्राक्षीत्। केतक्या विकारः पुष्पम् अनुदात्तादेरित्यञ्। पुष्पमूले फुलमिति बाहुलत्वाल्लुकिकृते लुक् तद्धितलुकीति केतकमिति रूपम् ॥10॥

बहु बर्हिचन्द्रकनिभं विदधे धृतिमस्य दानपयसां पटलम्।
अवगाढमीक्षितुमिवेभपतिं विकचद्विलोचनशतं सरितः ॥6.11॥

बहु अनेकं दानपयसां पटलं चक्रकमर्जुनस्य धृतिमवस्थानं व्यधात् बर्हिचन्द्रकानां निभम्। अत्रोत्प्रेक्ष्यते अवगाढं तापशान्तये मग्नं हस्तिराजमन्वेष्टुं विकसन्नद्या नेत्रशतमिव। नदीनायिका नेत्रसदृशं मदजलं दृष्ट्वा स चिरं तटेऽस्थादित्यर्थः ॥11॥

प्रतिबोधजृम्भणविभिन्नमुखी पुलिने सरोरुहदृशा ददृशे।
पतदच्छमौक्तिकमणिप्रकरा गलदश्रुबिन्दुरिव शुक्तिवधूः ॥6.12॥

प्रतिबोध उन्मेषकालः कामोदयश्च तेन यज्जृम्भणं विदरणं जृम्भा च तेन विभिन्नं

---

6. धृतम्
7. विकसद्

विकसन्मुखं यस्यां सा शुक्तिरेव वधूः पद्मदृशा तेन दृष्टा। सरोरुहदृषेति करणे वा तृतीया। तथा पतन्नच्छो मौक्तिकमणिप्रकरो मुक्ताफलराशिर्यस्याः सा। अत एव गलन्तोऽश्रुबिन्दवो यस्याः सेव ॥12॥

शुचिरप्सु विद्रुमलताविटप[8]स्तमसान्द्रफेनलवसंवलितः।
स्मरदायिनः स्मरयति स्म भृशं दयिताधरस्य दशनांशुभृतः ॥6.13॥

अप्सु विद्रुमलताया विटपस्तमर्जुनं दयिताधरस्य प्रियौष्ठस्य स्मरयति स्म। कीदृशस्य दशनाँशुर्बिभ्रतः। अतः स्मरदायिनः कामजनकस्य शुचिर्निर्मलः असान्द्रैस्तनुभिः फेनलवैः सहितः। सफेनं विद्रमगुल्मं दृष्ट्वा तत्सदृशं सहासं प्रियाधरं सोऽस्मार्षीत् ॥13॥

उपलभ्य चञ्चलतरङ्ग[9]हृतं मदगन्धमुत्थितवतां पयसः।
प्रतिदन्तिनामिव स संबुबुधे करियादसामभिसुखन् करिणः ॥6.14॥

स पार्थः करिरूपाणां यादसां सुखान् हस्तिनः संबुबुधे समलक्षयत्। कथं तानि तैर्दृष्टानीत्याह चञ्चलैर्मारुतवशाच्चपलैस्तरङ्गैर्हृतं मदगन्धमुपलभ्याघ्राय जलादुत्थितवताम्। अथवा आगतानित्यध्याहृत्योपलभ्यागतानि विव्याख्येयम्। प्रतिदन्तिनामिव प्रतिहस्तिनां हि हस्तिनः संमुखं गच्छन्ति ॥14॥

स जगाम विस्मयमुदीक्ष्य पुरः सहसा समुत्पिपतिषोः फणिनः।
प्रहितं दिवि प्रजविभिः श्वसितैः शरदभ्रविभ्रममपां पटलम् ॥6.15॥

सहसा अलक्षिततया जलमध्यात्ममुत्पतितुमिच्छतः फणिनो वेगवद्भिर्निः श्वासैराकाशे क्षिप्तं जलानां पटलं दृष्ट्वाश्चर्यं सोऽगमत्। आपः कथमाकाशमारूढा इत्याश्चर्यम्। यद्वा सहसा शीघ्रं वेगवशादुत्थितेषु जलेषु स्वरूपनिश्चयलाभाभावाच्छरदमेघभ्रमेणाश्चर्यम्। कथं पातालमध्याच्छरन्मेघ उत्थित इति ॥15॥

स ततार सैकतवतीरभितः शफरीपरिस्फुरितचारुदृशः।
ललितं सखीरिव बृहज्जघनाः सुरनिम्नगामुपयतीः सरितः ॥6.16॥

सुरनिम्नगामुपयतीर्गङ्गा प्रविशतीर्नदीः स ततार। कीदृशीरभितस्तटद्वये सैकतवतीः। तथा शफरीणां परिस्फुरितेन चारु विलासिनी दृग्यासु ताः। यद्वा शफरीपरिस्फुरितमेव चारुर्लोला दृग्यासां ताः। अत एव सखीरिव ताश्च शफरीस्फुरितवच्चारुदृषो लोलदृष्टयो यासु ताः। बृहन्ति जघनानि यासां ताः ललितं शनैः ॥16॥

---

8. तनुसान्द्र
9. धृतम्

अधिरूह्य पुष्पभरनम्रशिखैः परितः परिष्कृततलां तरुभिः।
मनसः प्रसत्तिमिव मूर्ध्नि गिरेः शुचिमाससाद स वनान्तभुवम्॥6.17॥

स पार्थस्तं गिरिमारुह्य तस्यैव गिरेः शिरसि शुचिं वनान्तभूमिमाश्रयत्। पष्पभरनम्राग्रैर्वृक्षैः परिष्कृतं भूषितं तलं यस्याः मनः प्रसत्तिं मनसः प्रसादमिव। यथा तां प्रापत् तथा वनान्तभूमिं प्रापत्। तत्पक्षे शुचिः रागद्वेषरहिता॥17॥

अनुसानु पुष्पितल[10]तावृततिः फलितोरुभूरुहविविक्तवनः।
धृतिमाततान तनयस्य हरेस्तपसेऽधिवस्तुमचलामचलः॥6.18॥

सोऽचल इन्द्रकीलो हरेस्तनयस्य पार्थस्य तपोऽर्थमधिवस्तुं स्थातुमचलां स्थिरां धृतिमजनयत्। धृतिजनने हेतुमाह अनुसाने सानौ सानौ पुष्पिता लतावृततिर्यत्र सा। तथा फलवन्तो महान्तो भूरुहो वृक्षा येषु तानि विविक्तानि विजनानि वनानि यत्र सः पुष्पफलवैजन्यैर्हेतुभिस्तत्रैव तपः कर्तुमारभतेत्यर्थः। हरितनय इति साक्षतम्॥18॥

प्रणिधाय तत्र विधिनाऽथ धियं दधतः पुरातनमुनेर्मुनिताम्।
श्रममादधावसुकरं न तपः किमिवावसादकरमात्मवताम्॥6.19॥

पुरातनमुनेर्नररूपस्य नारायणस्य दुष्करमपि तपो न श्रममादधावजनयत्। कीदृशस्य धियं प्रणिधाय बाह्यव्यवहारान्निवर्त्य, विधिना यथा शास्त्र मुनितामृषिभावं दधतः। अथवा कियदेतत् आत्मवतामात्मज्ञानिनां किमिति किं वा तपोदुष्करमप्यवसादकरं श्रमोत्पादकम्॥19॥

शमयन्धृतेन्द्रियशमैकसुखः शुचिभिर्गुणैरधमयं स तमः।
प्रतिवासरं सुकृतिभिर्ववृधे विमलः कलाभिरिव शीतरुचिः॥6.20॥

सोऽर्जुनः सुकृतिभिः शोभनाभिः कृतिभिः प्रत्यहं ववृधे। प्रतिदिनं शोभनानि तपोऽर्जनलक्षणानि कार्याण्यकरोदित्यर्थः। धृतमिन्द्रियशम एवैकं सुखं येन तथा शुचिभिर्गुणैः मैत्र्यादिभिः पापमयं तमो निवारयन्। यथा धृतं शोभनं खमाकाशो येन तथा शुचिभिर्गुणैस्तमःशमयन्कलाभिश्चन्द्रोऽनुदिनं वर्धते॥20॥

अधरीचकार [11]स विवेकगुणादगुणेषु तस्य धियमस्तवतः।
प्रणिघातिनीं विषयसङ्गरतिं निरुपप्लवः शमसुखानुभवः॥6.21॥

शमेन विषयनिवृत्या सुखं तस्यानुभवः प्राप्तिः विषयेष्विन्द्रियार्थेषु सङ्गेन रतिं

---

10. वितति:
11. च

सुखमधरीचकार विस्मारयामास। यतः प्रतिघातिनीं नश्वरीं निरुपप्लवो बाधारहितः विवेकगुणेनागुणविषयां बुद्धिं त्यक्तवतस्तस्य भोगान् स व्यस्मरदित्यर्थः ॥21 ॥

मनसा जपैः प्रणतिभिः प्रयतः समुपेयिवानधिपतिं स दिवः।
[12]सहजेतरे जयशमौ दधती बिभरांबभूव युगपन्महसी ॥6.22 ॥

स पार्थः सहजेतरे महसी युगपत्तुल्यकालं बभार। सहजं कुलोचितं क्षात्रं इतरत्साधितं तपोजातं तेजः। कीदृशे जयशमौ दधती सहजेन तेजसा जय इतरेण शमो लब्धः स। कीदृक् मनसा ध्येयन्वेनजपैः स्तव्यत्वेन प्रणतिभिर्दिवोऽधिपतिमिन्द्रमाराधितवान् प्रयतः शुचिः ॥22 ॥

तमेव प्रयतत्वमाह ॥

शिरसा हरिन्मणिनिभः स वहन् कृतजन्मनोऽभिषवणेन जटाः।
उपमां ययावरुणदीधितिभिः परिमृष्टमूर्धनि तमालतरौ ॥6.23 ॥

अभिषवणेन स्नानेन कृतां जन्म यासां ता जटाः शिरसा दधत्। तथा हरिन्मणीनामिन्द्रनीलानां निभः समः उपमां साम्यं ययौ प्रापत्। कस्मिन् सति, अरुणस्यार्कसारथेर्दीधितिभिर्व्याप्तशिखे तमालवृक्षे सति। तथाविधस्तपः क्लिष्टः। कोऽपि न मुनिः श्रुतो येनार्जुनः उपमीयेत। अतस्तमालतरुररुणां आरक्तस्तस्योपमानमिति तात्पर्यम् ॥23 ॥

धृतहेतिरप्यधृतजिह्ममतिश्चरितैर्मुनीनधरयन् [13]गुरुभिः।
रजयाँचकार विरजाः स मृगान् कमिवेशते रमयितुं न गुणाः ॥6.24 ॥

धृता हेतय आयुधानि येन तथाभूतोऽपि स मृगान् रजयाँचकार सरागानकार्षीत्। यतो न धृता जिह्मा निर्दया मतिर्येन सः। यतो विरजा रजोरहितः। अत एव चरितैः कर्मभिर्मुनीनधरयन्त्यकुर्वन्। कियदेतत् गुणाः कमिव न मृगापेक्षया जडमपि रमयितुं तोषयितुं शक्ताः। रजयांचकारेति रन् जेर्णौ मृगरमण इति न लोपे लिट्यपि रूपम् ॥24 ॥

[14]अनुलोमपातिन[15]मजिह्मगतिं किरता सुगन्धिमभितः पवनम्।
अवधीरितार्तवगुणं सुखतां नयता रुचां निचयमंशुमतः ॥6.25 ॥

---

12. सहजेतारौ
13. शुचिभिः
14. अनुकूल
15. अचण्ड

नवपल्लवाञ्जलिभृतः प्रचये बृहतस्तरून्नमयतावनतिम्।
स्तृणता तृणैः प्रतिनिशं मृदुभिः शयनीयतामुपयतीं वसुधाम्॥6.26॥

पतितैरपेतजलदान्नभसः पृषतैरपां शमयता च रजः।
स दयालुनेव परिगाढकृषः परिचर्ययानुजगृहे तपसा॥6.27॥

परिगाढं कृत्वा कृशः। अत एव दयालुना करुणेन तपसा कर्त्रा परिचर्यया करणभूतया सोऽनुगृहीतः। अनुग्रहप्राप्त्यर्थमाराध्यानां नृपदेवतानामाराधनोपायेन तपसैवानुगृहीत इति तात्पर्यम्। अथवा परिचर्ययानुशुश्रूषया करणभूतया स्विदृहीतः विधेयीकृतः तपः। कृतां सेवां दृष्ट्वा किं तपश्चरणैकता नो जात इति योज्यम्। तामेव परिचर्यां विशेषणद्वारेणाह असंसुखवाहिनं मृदु सर्वतः सुगन्धिं वायुं क्षिपता, तथावधीरितस्त्यक्त आर्तवो ग्रीष्महेमन्तादिकृतो गुणोऽत्यौष्ण्यशैत्यरूपो येन तमंशुमतः सूर्यस्य रुचां निचयमंशुभरं सुखतां सुखावहत्वं नयता। तथावचये पुष्पग्रहणसमयेतरूनवनामं प्रापयता बृहतस्तुङ्गान् नवानपूर्वकृतान्पल्लवाञ्जलीन् बिभ्रता प्रणमतिं वः। स चाञ्जलिं बध्नाति। तथा शयनीयतां शय्याभावमुपयतीं प्राप्नुवतीं भूमिं निशायां रात्रौ कृतवान्। तत्कोमलैस्तृणैराच्छादयतेत्यर्थः। तथा मेघरहितादाकाशात्पतितैर्जलकणै रजो धूलिं शमयता तपोमाहात्म्यान्महाभूतानामेवं प्रायता सम्पत्तौ विषये दयालुनेवेति विषयित्वेन सम्भावितम्॥ 25, 26, 27॥ तिलकम्॥

महते फलाय तदवेक्ष्य शिवं विकसन्निमित्तकुसुमं स पुरः।
न जगाम विस्मयवशं वशिनां न [16]हि हन्ति धैर्यमनुभावगुणः॥6.28॥

तत्पूर्वोक्तं महाभूतपरिचर्यारूपं निमित्तमेव कुसुमं विकसत्पुरो महते फलायावेक्ष्य स विस्मयवशं स्वात्ममाहात्म्यसंभावनं न जगाम। अथवा तत्तपो महते फलायावेक्ष्य विकसन्ति निमित्तान्येव कुसुमानि यस्य तदिति योज्यम्। युक्तमेतत् अनुभावः प्रभाववृद्धिश्चासौ गुणः महतां धैर्यं नाल्पीकरोति। महाशयः प्रभावसिद्धिं दृष्ट्वा न दृप्यतीत्यर्थः॥28॥

तदभूरिवासरकृतां सुकृतैरुपलभ्य वैभवमनन्यभवम्।
उपतस्थरास्थितविषादधियः शतयज्वनो वनचरा वसतिम्॥6.29॥

वनचरा इन्द्रकीलपर्वतोद्यानपालकाः। वनेषुचराश्चारा वा शतयज्वनइन्द्रस्य वसतिमुपतस्थुः जग्मुः। आस्थितः प्राप्तो विषादो यथा साधीर्येषां। किं कृत्वा सुकृतैः

---

16. निहन्ति

कर्तृभूतैरभूरिभिरल्पैरेव वासरैः कृतमुत्पादितम् तद्वैभवं महाभूतमेवाकरणलक्षणमुपलभ्य। तथा नान्यस्मिन्नर्जुनव्यतिरिक्ते भव उत्पत्तिर्यस्य अल्पान्येव दिनानि उपम्यया। तावन्तं प्रभावं दृष्ट्वा जातशङ्का वनेचराः शकालयं जग्मुः ॥29॥

विदिताः प्रविश्य विहितानतयः शिथिलीकृतेऽधिकृतकृत्यविधौ।
अनपेतकालमभिरामकथाः कथयांबभूवुरिति गोत्रभिदे ॥6.30॥

ते वनेचराः प्रविश्य गोत्रभिदे इन्द्रायेति वक्ष्यमाणं कथयांबभूवुः। कथमनपेतनोऽनुलङ्घितः कालो यत्र अवसरमपहायेत्यर्थः। अधिकृतः प्रारब्धो यः कृत्यविधिस्तस्मिञ्शिथिलीकृते सम्पादिते सति विदितानि वेदिताः विहितानतयः कृतप्रणामाः अभिरामकथामधुरवाचः। विदेराख्यानर्थस्यानित्यण्यन्तत्वाद्विदिता इति रूपम् ॥30॥

शुचिवल्कवीततनुरन्यतमस्तिमिरच्छिदामिव गिरौ भवतः।
महते जयाय मघवन्ननघः पुरुषस्तपस्यति तप[17]ऋगती ॥6.31॥

भवते गिराविन्द्रकीले पुरुषः शुचि कृत्वा तपस्यति। कीदृशोऽनघोऽनुद्वेगः। वल्केन वीतं प्रावृतं पुर्यस्याऽत एव जगती जगद्द्वयं तपन्। अत्रोत्प्रेक्ष्यते। तिमिरच्छिदां द्वादशानां सूर्याणामन्यतम इव जगत्तपनमुत्प्रेक्षाबीजम्। यदि तपस्यति ततः किमित्याह महते जयाय त्रैलोक्यविजयार्थम् तपश्चरति तपस्यति। क्याचित्रूपम् ॥31॥

महते जयाय तपस्यतीति कथं भवद्भिर्निश्चितमित्याहुः॥

स बिभर्ति भीषणभुजङ्गभुजः पृथु विद्विषां भयविधापि धनुः।
अमलेन तस्य धृतसच्चरिताश्चरितेन चातिशयिता मुनयः ॥6.32॥

स पृथु धनुर्बिभर्ति विद्विषां भयङ्करम्। न चासमर्थ इत्याहुः। भीषणौ भुजङ्गवभ्दुजौ यस्य सः। तर्हि तपः सिद्धिः केत्याह निर्मलेन चरितेन तपोरूपेण कर्मणा मनुयोऽतिशयिता जिताः। धृतं निर्मलं चरितं यैस्ते महर्षयोऽपि जिता इत्यर्थः। ऋषयोऽपि जिता इति कथमवसितमित्याहुः ॥32॥

मरुतः शिवा नवतृणा जगती विमलं नभो रजसि वृष्टिरपाम्।
गुणसंपदानुगुणितां गमितः कुरुतेऽस्य भक्तिमिव भूतगणः ॥6.33॥

वायवोऽनुकूलाः समसृणतृणा भूमिः निर्मला द्यौः पांसौ सति वर्षमपां तदग्रे भवतीति शेषः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते अस्य गुणबाहुल्येन रञ्जितन्व प्रापितो महाभूतवर्गोऽस्य भक्तिमिव कुरुते। तपःसिद्धिरत्र विषयो भक्तेर्विषयित्वम् ॥33॥

---

17. जगतीम्

एतदाश्रमे ऊनस्याधिकेन सत्वेन बाधनादस्य तपःक्षयो भविष्यतीति न सम्भाव्यमित्याहुः॥

इतरेतरानभिभवेन मृगास्तमुपासते गुरुमिवान्तसदः।
विनमन्ति चास्य तरवः प्रचये परवान् स तेन भवतेव नगः॥6.34॥

अन्योऽन्योपासनेन शिष्या गुरुं यथोपासते सेवन्ते तथा तं मृगाः सेवन्ते। केनेतरेतरमन्योन्यस्याबाधनेन। वनप्राणिनां शाश्वतिकविरोधपरिहारेण मुनीनां हर्षोत्पत्तेः। उन्नतानां वृक्षाणां पुष्पावचयार्थमारोहणेन मुनीनां शाखाभङ्गादिना च नास्य तपःक्षय इत्याह – पुष्पोच्चये तरवो नमन्ति। शाखोच्चयार्थमिति भावः। किं बहुना स नगोऽद्रिः भवतेऽवतने करणभूतेन परवान् स स्वामिकः भवानिव। सोऽपि पर्वस्य स्वामीत्यर्थः॥34॥

शैलादिस्वाम्यप्राप्त्या स तपसो विरम्यतीतिनसम्भाव्यमित्याह॥॥

उरु सत्त्वमाह विपरिश्रमता परमं वपुः प्रथयतीव जयम्।
शमिनोऽपि तस्य नवसङ्गमने विभुतानुषङ्गि भयमेति जनः॥6.35॥

तावदपि तपःकुर्वतोऽस्य परिश्रमता श्रमप्राप्त्यभावो महत्सत्वमाह सत्त्ववानयमिति गम्यते। परमं तेजोविशेषिवपुः कर्तृजयं प्रथयति इव जिष्णुरयमिति गम्यते। अत्र श्रमाभावे तेजसि लक्षणे सत्त्वजयौ लक्ष्यौ। शान्तात्मनोऽपि तस्य नवे सङ्गमे सति जनो भयमेति प्राप्नोति। कीदृशं विभुनानुषङ्गि विभुतया राजत्वेनानुषजति। राज्ञो यथा तथास्माल्लोको बिभेति॥35॥

जात्यनुसारेण तपोभ्रंशोपायेषु प्रयोज्येषु तज्जातिप्रश्नमाशङ्क्याहुः॥

ऋषिवंशजः स यदि दैत्यकुले यदि वान्वये महति भूमि[18]भूजाम्।
चरतस्तपस्तव वनेषु सहा न वयं निरूपयितुमस्य गतिम्॥6.36॥

स ऋषिकुले किं जातो दैत्यवंशे किं जातः राज्ञां महतिकुले वा जातः। तव वनेषु तपश्चरतोऽस्य गतिं तत्त्वं निरूपयितुं निश्चेतुं वयं न सहाः समर्थाः। तत्त्वनिरूपणसामर्थ्याभावे निरूपितेऽपि ऋषिकुलादिजातत्वकथनेन प्राप्तं दोषप्रसङ्गं चरतस्तपस्तव वनेष्वित्यादिना परिहरन्ति। अन्यथा त्वेनं दृष्टुमपि कः शक्नुयादिति भावः॥36॥

परिहारान्तरमूचुः॥

विगणय्य करणमनेकगुणं निजयाऽथवा कथितमल्पतया।
असदप्यदः सहितुमर्हसि नः क्व वनेचरः क्व निपुणा [19]मतयः॥6.37॥

---

18. भृताम्
19. यतयः

असद् जातिनिश्चयाभावादुत्प्लवमानमदः पूर्वो कुवचनं नोऽस्माकं सहितुं सोढुं त्वमर्हसि। जातिविशेषमलब्ध्वाऽपि यदृषिवंशज इत्याद्युक्तं। तत्र क्षमाकार्येत्यर्थः। यतः नानागुणं कारणं मरुतः शिवा इत्यादिकं विगणय्य अथवा निजया स्वाभाविक्याऽल्पतया कथितम्। निपुणं कथं न निरूपितमित्याहुः वनेचराः क्व निपुणा मतयः। क्व वनेचरमतिभिर्स्वबोधो व्यवहारो बोद्धुं न शक्यत इत्यर्थं ॥37॥

अधिगम्य गुह्यक गणादिति तन्मनसः प्रियं प्रियसुतस्य तपः।
निजगोप हर्षमुदितं मघवा नयवर्त्मगाः प्रभवतां हि धियः ॥6.38॥

प्रियश्चासौ सुतस्तस्य सम्बन्धिचेतः प्रीतिकरं तपोगुह्यकगणाद्वनेचरवर्गाच्छ्रुत्वा मघवा जातं हर्षं गोपितवान्। यदि प्रियस्तदेन्द्रो हर्षं किमगोपयदित्याह प्रभवतां प्रभूणां धियो नीतिगामिन्यः। तदैव यदीन्द्रः पुत्रकृतेन तपसा हर्षं प्रकाशयेत्तदा तत्तूपमाराध्यमानेनेन्द्रेण करिष्यमाणं जयप्राप्त्युपायदर्शनरूपं प्रसादं पुत्रप्रीत्या कृतं लोको मन्येतेत्यर्थः ॥38॥

इन्द्रेण युक्त्या करिष्यमाणां तपःप्रसिद्धिमाह॥

प्रणिधाय चित्तमथ भक्तितया विदितेऽप्यपूर्व इव तत्र हरिः।
उपलब्धुमस्य [20]विनयस्थिरतां सुरसुन्दरीरिति वचोऽभिदधे ॥6.39॥

विनये स्थैर्यमुपलब्धुं प्रकाशयितुमिन्द्रोऽप्सरसो वचोऽवोचत्। किं कृत्वाऽर्जुनसम्बन्धिन्या भक्तितया हेतुभूतया। तत्रार्जुने चित्तं प्रणिधाय प्रणिधानेन तदीयां भक्तिं तुलयित्वा। विदितेऽपि पूर्वं बहुशोऽर्जुने व्रतैस्तुलितेऽपि। नार्जुनो नियमाच्चलतीति ज्ञातवानपीन्द्रो भक्तितया विदितेऽप्यपूर्व इवेति योज्यम् ॥39॥

दुष्करे कर्मणि विनियोगं करिष्यन्नुत्सहार्थं प्रशंसापूर्वमाह॥

सुकुमारमेकमणु मर्मभिदामतिदूरगं युतममोघतया।
अविपक्षमस्त्रमपरं कतमद्विजयाय यूयमिव चित्तभुवः ॥6.40॥

चित्तभुवः कामस्य यूयमिवान्यत्कतमदस्त्रं जगद्विजयाय भवति। यथा यूयं तथान्यदस्त्रमित्यर्थः। कीदृशं, सुकुमारमेकमतिकोमलम् मर्मभिदामन्येषामस्त्राणां मध्येऽणु सूक्ष्मम् तथा तेषामेव मध्येऽतिदूरगम् तथाऽमोघतया सफलत्वेन सहितं तथा विपक्षं प्रत्यस्त्ररहितम्। अन्यशस्त्राणि हि तीक्ष्णानि स्थुलानि अदूरगाणि क्वचिन्निष्फलानि स प्रत्यस्त्राणि च भवन्ति। यूयमस्त्र तु नैतद्दोषदूषितमित्यर्थः ॥40॥

---

20. नियम

पुत्रतपःप्रसिद्धावुत्कण्ठतया स्तुतिविस्तारं परिहर्तुकामः प्रकृतार्थयो जनरूपां स्तुतिमाह ॥ ॥

भववीतये हतबृहत्तमसामवबोधवारि रजसश्शमनम् ।
परिपीयमाणमिव वोऽसकलैरवसादमेति नयनाञ्जलिभिः ॥6.41 ॥

अवबोधो मोक्षप्राप्तिं संसुखत्वरूपं ज्ञानमेव वारिजलं कर्तृ अवसायं नाशं समाप्तिमेति। केषां भववीतये संसारच्छेदार्थं हतं बृहत्तमसो मोहो यैर्मुनिभिस्तेषां रजसो रजो गुणस्य शमनम्। कैः समाप्यते इत्याह वो युष्माकमसकलैस्त्र्यश्रैः नेत्राण्येव विस्तिर्णत्वादञ्जलयस्तैः। अतः सम्भाव्यते परिपीयमानमिव। यद्वा नेत्राञ्जलिभिः पीतमिव। जलं च धूलि शमनमञ्जलिभिः पीयमानं सत्समाप्यते ॥41 ॥

भुक्तिमुक्तिहेतोर्लोकस्तपस्यति तत्र मुक्तिकामा भवत्कटाक्षेपमात्रेण तपसो भ्रंशन्तीत्युक्तम्। भुक्तिकामास्तु भवतीरुद्दिश्य तपस्यन्तीत्याह ॥

बहुधा गतां जगति भूतसृजा कमनीयतां समभिहृत्य [21]पुनः ।
उपपादिता विदधता भवतीः सुरसद्मयानसुमुखी जनता ॥6.42 ॥

विधात्रा जनता जनसमूहः सुरसद्मनि स्वर्गे यद्यानं गमनं तत्र सुमुखी प्रवर्तमाना विहिता। विशेषणद्वारेण हेतुमुपन्यस्यति भवतीर्युष्मान्विदधतोत्पादयिता। किं कृत्वा, जगति बहुधागतां रमणीयतां समभिहृत्य सङ्गृह्य। चन्द्रपद्मादिस्थां कान्तिं प्रथमं समुच्छिद्य तयैव कान्त्या युष्मान्कुर्वन् विधिर्लोकं भवत्प्राप्तिलोभात् स्वर्गकाङ्क्षिणम-कार्षीदित्यर्थः ॥42 ॥

उपसंहरन्नाह ॥

तदुपेत्य विघ्नयत तस्य तपः कृतिभिः कलासु सहिताः सचिवैः ।
हृतवितरागमनसां ननु वः सुखसङ्गिनं प्रति सुखावजितिः ॥6.43 ॥

तत्तस्माद्धूयमुपेत्य तन्निकटं गत्वा तस्य वनचराख्यातस्य तपस्यतः पुरुषस्य तपो विघ्नयत विनाशयत। कलासु गीतवाद्यादिषु कुशलैः सचिवैः सहिताः। न चाशक्तिः शङ्क्येक्येत्यत्र दण्डापूपिकान्यायमाह हृतं तपसो भ्रंशितं वीतरागाणां मुमुक्षूणां मनो याभिस्तासां वो युष्माकं कर्तृकावजितिः। तपोभ्रंशः सुखसङ्गिनं सरागं प्रति सुखासुखसाध्या दण्डापूपिकान्यायात् ॥43 ॥

स सुखाभिलाषीति कथं निश्चितमित्याह ॥

---

21. पुरा

अविमृष्यमेतदभिलष्यति स द्विषतां वधेन [22]विषयातिशयम्।
भववितये न हि तथा स विधिः क्व शरासनं क्व च विमुक्तिपथः ॥6.44॥

एतत्तस्य सुखसङ्गित्वमस्ति वा न वेति न विचिन्त्यम्। यतः स शत्रून्हत्वा भोगानाकाङ्क्षति। अत्र हेतुमाह यतः स विधिस्तपश्चरणम्। तथा स धनुर्धारणादिः संसारोच्छेदाय न भवति कुत इत्याह क्व धनुर्हिंसासाधनं क्व मोक्षमार्गो हिंसारहितः ॥44॥

स्वविषयस्तस्य क्रोधो न शङ्कनीय इत्याह॥

पृथुधाम्नि तत्र परिबोधि च मा भवतीभिरन्यमुनिवद्विकृतिः।
स्वयशांसि विक्रमवतामवतां न वधूष्वघानि विमृषन्ति धियः ॥6.45॥

भवतीभिस्तत्र तस्मिन्विकृतिः कोपः मा परिबोधि न शङ्कनीयः। कथं न शङ्क्यत इत्याह पृथुधाम्नि महातेजसि अन्यमुनिवदन्यस्मिन्मुनौ विश्वामित्रादाविव। महातेजस्कत्वात्कथं न विक्रिया शङ्क्यत इत्याह विक्रमवतां पुरुषाणां धियोऽघानि दुष्टाचरणानि वधूषु स्त्रीविषये न परामृषन्ति। यतः स्वयशांस्यवतां रक्षताम्। तपार्जितस्य यशमोहानि भयात्स्त्रीषु कोपं महान्तो न कुर्वन्तीत्यर्थः ॥45॥

अशंसितापचितिचारु पुरः सुराणा –
मादेशमित्यभिमुखं समवाप्य [23]पत्युः।
लेभे परां द्युतिममर्त्यवधूसमूहः
संभावनाह्यधिकृतस्य तनोति तेजः ॥6.46॥

सुराणां पुरोऽग्रे आशंसिता स्तुता अपचितिः कर्मसामर्थ्यं तथा चारु कृत्वा स्वामिनः पूर्वोक्तामाज्ञां प्राप्याप्सरोवर्गः परां द्युतिमोजो वृद्धं लेभे युक्तमेतत्। सम्भावना गुणानामस्तित्वनिश्चयस्तेजस्तनोति वर्धयति। कस्याधिकृतस्य कर्मसु नियुक्तस्य ॥6॥

प्रणतिमथ विधाय प्रस्थिताः सद्मनस्ताः
स्तनभरनमिताङ्गीरङ्गनाः प्रीतिभाजः।
अचलनलिनलक्ष्मीहारि नालं बभूव
स्तिमितममरभर्तुर्द्रष्टुमक्ष्णां सहस्रम् ॥6.47॥

अमरभर्तुरक्ष्णां सहस्रं नालं बभूव न पर्याप्तम्। किं कर्तुमङ्गनाद्रष्टुं। यतः प्रणामं कृत्वा प्रस्थिताः प्रभूणामानेन भृत्येषु प्रसन्नत्वादितिभावः। कुचभरनमितगात्रीः आज्ञालाभात्प्रीतिं भजन्तीः स्तिमितं सुरस्त्रीरवेक्षमाणमित्यर्थः। स्तिमितमनिमेषमपीति वा व्याख्येयम्। अत एवाचलानां निःस्पन्दानां नलिनानां शोभां हरदिति भद्रम् ॥47॥

इति श्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां षष्ठः सर्गः ॥6॥

---

22. विषयाभिरतिम्
23. भर्तुः

॥सप्तमः सर्गः॥

श्रीमद्भिः सुरथगजैः सुरङ्गनानां गुप्तानामथ सचिवैस्त्रिलोकभर्तुः।
संमूर्च्छन्नलघुविमानरन्ध्रभिन्नः प्रस्थानं समभिदधे मृदङ्गनादः॥7.01॥

मृदङ्गानां नादः सुरस्त्रीणाम् प्रस्थानमसूचयत्। प्रस्थानोचितानि कारणानि श्रुत्वाप्सरसां प्रस्थानं लोकेन ज्ञातमित्यर्थः। दूरस्थो जनः कथमश्रोषीदित्याह संमूर्छन् सर्वदिशो व्याप्नुवन्। यतोऽलघुषु विमानरन्ध्रेषु भिन्नो द्विधाभूतः स प्रतिशब्द इत्यर्थः। स्त्रीत्वादुचितवैक्लव्यादप्यप्सरसः सटहशब्दं कथं प्रतिष्ठन्त इत्याह श्रीमद्भिस्तेजस्विभिरिन्द्रस्य सचिवै रक्षितानां तथा सरथद्विपैः॥01॥

सोत्कण्ठैरमरगणैरनुप्रकीर्णान्निर्याय ज्वलितरुचः पुरान्मघोन।
रामाणामुपरि विवस्वतः स्थितानां नासेदे चरितगुणत्वमातपत्रैः॥7.02॥

आतपत्रैश्छत्रैश्चरितगुणत्वं शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं गुणः। आतपत्राणां चातपवारणच्छायाकरणं गुणः स चरितो येन तत्त्वं नासेदे। निरर्थकैरभावि उपकारो न कृत इत्यर्थः। कासां रामाणामप्सरसां यतः सूर्यादुपरि स्थितानां सूर्यादधोभागस्थानां हि छत्राण्यातपं वारयन्ति। किं कृत्वापि मधोनः पुरादमरवत्यान्निर्यायोऽपि। इन्द्रपुरो हि इन्द्रादन्यस्य छत्रग्रहणानधिकारः। अनुमृदङ्गश्रवणादनन्तरं द्रष्टुमुत्कण्ठितैर्दैवैः पूरितात्। छत्राणां निरर्थकत्ववर्णनं कार्यसिद्ध्यभावसूचनार्थम्॥02॥

धूतानामभिमुखपातिभिः समीरैरायासादविषयदलोचनोत्पलानाम्।
आनिन्ये मदजनितां श्रियं वधूनामुष्णांशुद्युतिजनितः कपोलरागः॥7.03॥

कार्यसिद्धेरभावसूचकैः संमुखं पतद्भिः समीरैर्धूतानां कम्पितानाम्। तथा सौक्तमार्येणाल्पादेव क्लेशात्कलुषनेत्रोत्पलानां सतीनां वधूनां सूर्यतापकृतो गण्डरागो मदेन क्षीवत्वेन जनितां श्रियं शोभामजनयत्। यद्वा धूतत्वादिसहितानां वधूतां श्रियं कर्मभूतां मदजनितां कर्मभूतामानिन्ये इति सम्बन्धः। मदाज्जनिर्यस्य तभ्दावम्। क्षीवा हि पाटलनेत्राः कम्पन्तो लोहितमुखाश्च भवन्ति॥03॥

तिष्ठद्भिः कथमपि देवतानुभावादाकृष्टैः प्रजविभिरायतं तुरङ्गैः।
नेमीनामसति विवर्तने रथोघैरासेदे वियति विमानवत्प्रवृत्तिः॥7.04॥

आकाशस्य शून्यत्वादाधाराभावेन नेमीनां चक्राणां विवर्तनाभावे सति रथौघैर्विमानवत्प्रवृत्तिः प्राप्ता उन्नयनमिव कृतम्। यद्याधाराभावः कथं न पतिता इत्याह देवताप्रभावात् कथमपि शून्ये तिष्ठभ्दिः। यदि न विवृत्ता नेमयस्तर्हि कथं विमानवत्प्रवर्तनमित्याह कथमपिनिराधारात्वादुरुत्वोत्पत्त्या कथँचिदायतं दूरं वेगशालिभिरश्वैराकृष्टैः। अतो रथानां विमानवद्गमनं घटते। यद्वा देवताप्रभावात्खे तिष्ठभ्दिरपतभ्दिस्तुरङ्गैराकृष्टैः ॥04॥

कान्तानां कृतपुलकः [1]स्तनाङ्कुरागे वक्त्रेषु च्युततिलकेषु मौक्तिकाभः।
[2]आपेदे श्रमसलिलोद्गमो विभूषां रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति ॥7.05॥

श्रमसलिलस्य स्वेदजलस्योद्गम उभ्दवः कान्तानां भूषणत्वमापेदे प्रापत्। यतः स्तनाङ्कुरागेस्तनयोर्विषये अङ्कः सङ्केतमात्र यस्य न तु साकल्येनावस्थानं स्वेदजलक्षालनाम् तथोक्तो यो रागस्तस्मिन्कृतं पुलकमिव येन स्वेदकणानां पुलकस्य च सन्निवेशसारूप्यात्। तथा गलितविशेषकेषु मुखेषु। मुक्ताफलसन्निभः स्वेदवशान्नष्टाङ्गरागेषु स्तनेषु पलकवत्स्थितैः तिलकाहितेषु मुखेषु मुक्ताफलवदवस्थानाद् धर्मजलस्य भूषणत्वम्। स्वेदजलेनान्यस्त्रीणां शोभाहानिदर्शनात्कथं तासां भूषणं सम्पन्नमित्याह स्वभावतो, रमणीयानां विक्रियापि शोभां विस्तरयति। विभूषेति भावप्रधानो निर्देशः, द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचन (1/4/22 पा.) इति वत् ॥05॥

राजद्भिः पथि मरुतामभिन्नरूपै[3]रुल्काभिः स्फुटगतिभिर्ध्वजांशुकानाम्।
तेजोभिः कनकनिकाषराजिदीप्तैरायामः क्रियत इव स्म सातिरेकः ॥7.06॥

स्फुटा गतिर्निपतनं यासां ताभिरुल्काभिः कर्त्रीभिरात्मीयैस्तेजोभिः करणभूतैर्ध्वजांशुकानामायासो दैर्घ्यमिव क्रियते स्म कृतः। यतो ध्वजांशुकानामभिन्नरूपैः सदृशरूपैः। तथा मरुतां पथि राजद्भिः। तथा कनकस्य निकाषराजिः कषणरेखा तद्वद्दीप्तैः। कार्यसिद्धयभावसूचनार्थं प्रस्थानसमये निपतन्तीभिर्ज्वालाभिः स्वतेजोभिः करणभूतैः ध्वजपटानां सदृशत्वाद्दैर्घ्यमिव कृतम् ॥06॥

रामाणामवजितमाल्यसौकुमार्ये संप्राप्ते वपुषि सहत्वमातपस्य।
गन्धर्वैरधिगतविस्मयैः प्रतीये कल्याणी विधिषु विचित्रता विधातुः ॥7.07॥

विधातुर्विधिषु निर्मियमानवस्तुविषये विचित्रता वैचित्र्यं गन्धर्वैः प्रतीये निश्चितं

---

1. स्तनाङ्ग
2. संपेदे
3. उल्कार्चिः

अधिगतविस्मयैः प्राप्ताच्चर्यैः। कस्मिन् सति रामाणामप्सरसां वपुषि आतपस्य सहत्वं प्राप्ते सति। अवजितं माल्यानां सौकुमार्यं येन तस्मिन्। पुष्पेभ्योऽपि कोमले शरीरे आतपं सहमाने सति साश्चर्यैर्गन्धर्वैर्विचित्रः सर्गो निश्चितः। एवं गुणता यदि न विधातृनिर्मितानां वस्तूनां स्याद्रामाशरीराणि सुकुमाराण्यप्यातपं न सहेरन्नित्यर्थः॥07॥

सिन्दूरैः कृतरुचयः सहेमकक्ष्याः स्त्रोतोभिस्त्रीदशगजा मदं क्षरन्तः।
सादृश्यं ययुररुणांशुरागभिन्नैर्वर्षभ्दिः स्फुरितशतह्रदः॥7.08॥

अरुणस्यांशुभिर्दीप्तिभिः रागो रञ्जनं तेन भिन्नैः रक्तैः तथा स्फुरिता द्योतमानाः शतह्रदा विद्युतो येषां। तथा वर्षभ्दिः पयोदैः सादृश्यं साम्यं त्रिदशगजा ययुः प्राप्ताः। यतः सिन्दूरैः कृतमण्डनाः सहहेमकक्ष्याभिः सौवर्णबन्धनरज्जुभिर्वर्त्तमानाः स्त्रोतोभिर्गण्डाद्यैर्मदजलं स्रवन्तः। सिन्दूरस्यारुणरागो हेमकक्ष्याणां विद्युतः मदवृष्टेर्वर्षणं मेघानां हस्तिन उपमानम्॥08॥

अत्यर्थं दुरुपसदादुपेत्य दूरं पर्यन्तादहिममयूखमण्डलस्य।
आशानामुपरचितामिवैकवेणीं रम्योर्मिं त्रिदशनदीं ययुर्बलानि॥7.09॥

अत्यर्थं दुरुपसदात्सोढुमशक्यादुष्णाँशोर्निकटाद्दूरमेत्य बलानि रम्योर्मिं गङ्गां जग्मुः सन्तापांदिति भावः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते दिशामेकवेणीमिवोपचितां गुम्फिताम्। तस्याश्चोर्मयो गुम्फा॥09॥

आमत्तभ्रमरकुलाकुलानि धुन्वन्नुद्धूतग्रथितरजांसि पङ्कजानि।
कान्तानां गगननदीतरङ्गशीतः संतापं [4]परिहरति स्म मातरिश्वा॥7.10॥

आमत्तैरुन्मतैर्भ्रमरकुलैराकुलानि अत एव ग्रथितं नवत्वात्सम्बद्धं यद्रजः तदुद्धूतं चालितं येषां तानि पद्मानि कम्पयँस्तथा गङ्गालहरीशीतलो मातरीश्वावायुः स्त्रीणां सन्तापं न्यवारयत्॥10॥

संभिन्नैरिभतुरगावगाहनेन प्राप्योर्वीरनु पदवीं विमानपङ्क्तीः।
तत्पूर्वं प्रतिविदधे सुरापगाया वप्रान्त[5]स्खलनविवर्तनं पयोभिः॥7.11॥

द्युनद्यां जलैर्वप्रान्तेन तटान्तेन स्खलनं वेगनिरोधस्तेन विवर्तनं प्रतिपगमनं तत्पूर्वं प्रतिविदधे प्राप्तम्। अन्ये व्योमनि गङ्गाजलानां कथं क्षोभोऽभवदित्याह हस्त्यश्वावगाहनेन क्षोभितैः। विवर्तनं· कथं प्राप्तमित्याह उर्वीर्महतीर्विमानपङ्क्तीः प्राप्य। पदवीमनु मार्गो सुकृति विमानानि तटस्थानीयानि प्राप्य द्युनद्या जलैस्तदादितटस्खलितं प्राप्तम्॥11॥

---

4. विरमयति
5. स्खलित

क्रान्तानां ग्रहचरितात्पथो रथानामक्षाग्रक्षतसुरवेश्मवेदिकानाम्।
निःसङ्गं प्रधिभिरुपादधे प्रवृत्तिः संपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु॥7.12॥

प्रधिभिर्नेमिभिर्विवृत्तिभ्रमणमुपादधे निःसङ्गं निरुदघातम्। केषु संपीडनेन क्षुभितं जलं येषां तेषु मेघेषु। जलपूर्णत्वे सति हि मेघानां काठिन्यान्निःसङ्गं नेमयो भ्रमन्ति। ग्रहैश्चरितात्पथो द्युमार्गात्क्रान्तामवगूढानां रथानामक्षाग्रैरथकाष्ठविशेषैः क्षता भग्नाः सुरवेश्मवेदयो येषाम्॥12॥

तप्तानामुपदधिरे विषाणभिन्नाः प्रह्लादं सुरकरिणां घना क्षरन्तः।
युक्तानां खलु महतां परोपकारे कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्तिः॥7.13॥

मेघादेव हस्तिनामाह्लादमदुः। यतस्तप्तानामध्वातपादिना व्यथितानां सन्तापभाजाम् क्षरन्तो वर्षन्तः। यतो विषाणैर्दन्तैर्भिन्नाः पाटिताः। यदि हस्तिभिः पाटितास्तर्हि तानेव मेघाः कथमाह्लादयन्नित्याह परोपकारे समाहितानां प्रसक्तानां वा महतां प्रवृत्ति रुजत्सु बाधमानेष्वपि कल्याणी हिता भवति। बाधमानानामपि महान्त उपकारं कुर्वन्तीत्यर्थः॥13॥

संवाता मुहुरनिलेन नीयमाने दिव्यस्त्रीजघनवरांशुके विवृत्तिम्।
पयस्यत्यपृथूमणिमेखलांशुजालं संजज्ञे युतकमिवान्तरीयमूर्वोः॥7.14॥

संवाता वहता वायुना दिव्यस्त्रीजघनसम्बन्धिनि वराम्बरे विवृत्तिं चलनं नीते सति पर्यस्यत्प्रसरन् मणिमेखला रश्मिजालं युतकमपृथक् सिद्धं पृथक्सिद्धं वान्तरीयमुपसंव्यानं संजज्ञे जातम्। रत्नरशनारश्मिभिरेव जघनाच्छादकत्वात्स्वरकर्म कृतमित्यर्थः। अन्तर्भवमन्तरीयमुपसंख्यानम्॥14॥

प्रत्यार्द्रीकृततिलकास्तुषारपातैः प्रह्लादं शमितपरिश्रमा दिशन्तः।
कान्तानां [7]बहुमतमाययुः पयोदा [8]अल्पीयान्बहु सुकृतं [9]न हन्ति दोषः॥7.15॥

मेघाः स्त्रीणां बहुमतमाययुः। कान्ता मेघान् बह्वमन्तेत्यर्थः। माने हेतुमाह शमितः परिश्रमः खेदयोः अतः प्रह्लादं ददानः। किमत्र कौतुकमित्याह तुषारपातैर्जलकणैर्नासिततिलकः। यद्येवं कथं मेघा न मन्यन्त इत्याह अल्पीयानत्यल्पो दोषो बहु सुकृतं महान्तमुपकारं न तिरस्करोति॥15॥

---

6. आददे
7. हुमतिम्
8. नाल्पीयान्
9. हिनस्ती

यातस्य ग्रथिततरङ्गसैकताभे विच्छेदं विपयसि वारिवाहजाले।
आतेनुस्त्रीदशवधूजनाङ्गभाजां सन्धानं सुरधनुषः प्रभा मणीनाम्॥7.16॥

अमररमणीगात्रवर्तिनां रत्नानां प्रभा इन्द्रचापस्य सन्धानं पूर्णतां चक्रूः। ग्रथिततरङ्गबद्धोर्मि यत्सैकतं तत्सदृशे मेघपटले विच्छेदं यातस्य क्वचित्क्वचिदवस्थितस्येत्यर्थः। नानावर्णरत्नांशुसंङ्गमादिन्द्रचापं पूर्णं संपन्नमित्यर्थः॥16॥

संसिद्धाविति करणीयसन्निबद्धैरालापैः पिपतिषतां विलङ्घ्य वीथीम्।
आसेदे दशशतलोचनध्वजिन्या जिमूतैरपिहितसानुरिन्द्रकीलः॥7.17॥

मेघैराच्छादितशिखर इन्द्रकीलः इन्द्रसेनया प्राप्तः। संसिद्धौ कार्यसिद्धिविषये इतिकरणीयमेवं करणीयमिति सन्निबद्धैः सन्निविष्टैरालापैः कथाभिः पिपतिषतां पक्षिणां वीथीं मार्गं विलङ्घ्य। ततोऽवरुह्याश्रयणीयस्य गिरेर्मेघाच्छादनवर्णनं कार्यसिद्ध्य-भावसूचितार्थम्। तपःकरणयोगौन्नत्याख्यापनार्थं वासाभ्रर्वोक्तिः॥17॥

आकीर्णा मुखनलिनैर्विलासिनीनामुद्भूतस्फुटविशदातपत्रफेना।
सा तूर्यध्वनि गभीर[10]मानदन्ती भूभर्तुः शिरसि नभोनदीव रेजे॥7.18॥

विलासवतीनां मुखपद्मैः सङ्कुला तथातपत्राण्येव फेन उद्भूतः स्फुटो विशदच्छत्रफेनो वस्याः। तथा तूर्यशब्दैः गम्भीरं शब्दायमानामासेना गिरेः गङ्गेव शुशुभे। गङ्गा च मुखसदृशैःपद्मैः पद्मैराकीर्णा सफेना तूर्यवन्नदति॥18॥

सेतुत्वं दधति [11]पयोभृतां विताने संरम्भादभिपततो रथाङ्गवेन।
आनिन्युर्नियमितरश्मिभग्नघोणाः कृच्छ्रेण क्षितिमवेनामिनस्तुरङ्गाः॥7.19॥

तुरङ्गा रथान् क्षितिं कृच्छ्रेण कथमप्यानिन्युः। यतो जवेन तूर्णं पतितानधोगतान्। कस्मिन्सति मेघपटले सेतुभावं दधति सति। सेतुसकाशाद्धि रथास्तुर्णमधः पतन्ति। अत एव संरम्भान्नियमिता आकृष्टा रश्मयो वल्गास्ताभिरभुग्नाः कुटिलाः संपन्ना घोणा प्रोथो येषाम्। अवनामिनो नतमुखाः॥19॥

माहेन्द्रं नगमभितःकरेणुवर्याः पर्यन्तस्थितजलदा दिवः पतन्तः।
सादृश्यं निलयननिष्प्रकम्पपक्षैराजग्मुर्जलनिधिशायिभिर्नगेन्द्रैः॥7.20॥

निलयनेन निलीनतयावस्थानेन निष्प्रकम्पां पक्षा येषां तैः तथा समुद्रगामिभिः पर्वतराजैः करेणुवर्या हस्तिराजाः साम्यं जग्मुः। यतो माहेन्द्रं नरमिन्द्रकीलमभिपतन्तः।

---

10. आपतन्ती
11. पयोमुचाम्

अत एव पार्श्वस्थितमेघाः इन्द्रकीलस्य विस्तारश्यामत्वदुर्गाहत्वैः समुद्रो मेघानां पक्षाः हस्तिनां पर्वता उपमानम् ॥20॥

उत्सङ्गे समविषमे समं महाद्रेः क्रान्तानां वियदभिपातलाघवेन।
आमूलादुपनदि सैकतेषु लेभे सामग्रीं खुरपदवी तुरङ्गमाणाम्॥7.21॥

तुरङ्गमाणां खुरपदवी चरणमुद्रा आमूलात्सैकत। मूलादारभ्य सैकतेषु सिकतापुलिनेषु सामग्रीं पूर्णतां लेभे प्रापत्। नदीसैकतेष्वेव वाजिनां पादमुद्रा सम्पूर्णा दृष्टा नान्यत्रेत्यर्थः। अन्यत्र न कथं पादमुद्रा जातेत्याह वियति नभसि यदभिपातलाघवं गमनचातुर्यं तेन क्रान्तानां प्रक्रममाणानां। कुत्र महाद्रेरुत्सङ्गे क्वचित्समे क्वचिद्विषमे, द्रुतगामिनां कठिने विषमे च स्थाने पादमुद्रा न जायते। लाघवेनेति प्रकृत्यादित्वात्तृतीया ॥20॥

सध्वानं निपतितनिर्झरासु मन्द्रैः संमूर्च्छन्प्रतिनिनदैरधित्यकासु।
उद्ग्रीवैर्घनरवशङ्क्या मयूरैः [12]सोत्कण्ठैर्ध्वनिरुपशुश्रुवे रथानाम् ॥7.22॥

घनरव इति शङ्क्या भ्रान्त्या सोत्कण्ठैर्मयूरै रथानां शब्दः श्रुतः। गर्जितसंभावनायां हेतुमाह सशब्दं निपतिता निर्झरा याभ्यास्तास्वाधित्यकासु शैलोपरि भूमिषु मन्द्रैः संमूर्छन्बहुलीभवन् ॥22॥

संभिन्नामविरलपातिभिर्मयूखैर्नीलानां भृशमुपमेखलं मणीनाम्।
विच्छिन्नामिव वनिता नभोन्तराले वप्राम्भःस्रुतिमवलोकयांबभूवः॥7.23॥

वनिता वप्राम्भःस्रुति निर्झरं विच्छिन्नां विच्छेदवतीमिवाद्राक्षुः। कुत्र नभोऽन्तराले। ऊर्ध्वं च निर्झरो दृष्टोऽधश्च दृष्टो मध्ये तु न दृष्टोऽतो व्योममध्ये निर्झरविच्छेदो मुग्धत्वादप्सरोभिः शङ्कितः। उपमेखलं मेखलासमीपे भृशं नीलानां मणीनां रश्मिभिः संभिन्नां सङ्गतां श्यामीकृतामित्यर्थः। अविरलं घनं कृत्वा पतभ्दिः। अतो नीलाश्मरश्मिष्वाकाशसंभावनयाकाशमध्ये निर्झरविच्छेदः स्त्रीभिः शङ्कित इत्यर्थः ॥23॥

आसन्नद्विपपदवीमदानिलाय क्रुध्यन्तो धिय[13]मवधीर्य धूर्गतानाम्।
सव्याजं निजकरिणीभिरात्तचित्ताः प्रस्थानं सुरकरिणः कथञ्चिदीषुः॥7.24॥

नाककरिणः प्रस्थानं कथमपीषुः कृच्छ्रेण प्रस्थिता इत्यर्थः। धूर्गतानां हस्तिपकानां धियं क्रोधलक्षणामवमन्यागणयित्वा निकटहस्तिमदवायवे क्रुध्यन्तः गजानां जातिस्वभावेन

---

12. सोत्कण्ठम्
13. अवमत्य

गजान्तरगन्धमात्रासहनात्। तर्हि कथं प्रस्थिषतेत्याह स्वहस्तिनीभिः। सव्याजं कपटचारु पाटवं नाटयित्वा गृहीतहृदयाः ॥24॥

नीरन्ध्रं पथिषु रजो रथाङ्ग[14]धूतं पर्यस्यन्नवसलिलारुणं वहन्ती।
आतेने वनगहनानि वाहिनी सा घर्मान्तक्षुभितजलेव जह्नुकन्या ॥7.25॥

सा वाहिनी वनगहनान्यातेने व्यापथिषु रथाङ्गैश्चकैर्धूतं क्षोभितं। तथा नवसलिलवदाबिलं रजो वहन्ती। तथा घर्मान्ते वर्षारम्भे क्षुभितं जलं यस्याः सा जह्नुकन्या गङ्गा वनानि व्याप्नोति। सापि निरन्ध्रमरुणं नवसलिलं वहति ॥25॥

सम्भोगक्षमगहनामथोपगङ्गं बिभ्राणां ज्वलितमणीनि सैकतानि।
अध्युषुश्च्युतकुसुमाचितां सहाया वृत्रारेरविरलशाद्बलां धरित्रीम् ॥7.26॥

वृत्रारेः सहाया गन्धर्वा उपगङ्गं गङ्गासमीपे धरित्रीं भूमिमध्यूषः आश्रयन्। सम्भोगक्षमाणि भोगयोग्यानि यस्यास्ताम्। तथा ज्वलितरत्नानि सिकतिलानि धारयन्तीम्। च्युतैः कुसुमैराचितां संभृतां अविरलं निरन्तरं शाद्बलं यस्यास्ताम्। ज्वलितरत्नत्वात्स्वयं च्युतपुष्पत्वाच्छाद्बलाख्यतृणास्तरणत्वाद्गङ्गासमीप-स्थितत्वाच्च भूमेरतीव रतक्रीडाक्षम-त्वम् ॥26॥

भूभर्तुः समधिक[15]माददे तदोव्याः श्रीमत्तां हरिसखवाहिनीनिवेषः।
[16]संभक्तौ किमसुलभं महोदयानामुच्छ्रायं नयति यदृच्छयापि योगः ॥7.27॥

हरिसखा गन्धर्वास्तेषां वाहिन्याः सेनाया निवेश आस्थानं भूभर्तुरुर्व्या गिरिभूमेः शोभावत्तामत्यर्थमजनयत्! युक्तमेतत् यस्मान्महानुदयो विभवो येभ्यो वा तेषां तत्कर्तृकायां संभक्तौ सम्यग्भजने कार्यवशादाश्रायणे किं दुर्लभं, सुलभमित्यर्थः। यतो महोदयानां यदृच्छयापि काकतालीये वापि योगः सङ्गो युज्यमानानुच्छ्रायं शोभावत्वं नयति। क्षणमपि येषां सङ्गेनोच्छ्रायो जायते ते यदि चिरमाश्रयन्ति तत्रातिशोभाप्राप्तिर्न चित्रमित्यर्थः ॥27॥

सामोदाः कुसुमतरुश्रियो विविक्ताः संपत्तिः किसलयशालिनीलतानाम्।
साफल्यं ययुरमराङ्गनोपभुक्ताः सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् ॥7.28॥

कुसुमप्रधानास्तरवः कुसुमतरवस्तेषां श्रियः संपत्तयः तथा विवक्ता विजनप्रदेशास्तथा किसलयैः शालिनी शोभमाना लतानां संपत्तिरेते सर्वे सुरस्त्रीभुक्ताः

---

14. नुन्नम्
15. आदधे
16. संसक्तौ

सन्तः सफलतां प्रापुः। युक्तमेतत् यया लक्ष्म्या परेषां लक्ष्मीवानुपकुरुते सा लक्ष्मीर्भवति। परोपकारेणैव सफला लक्ष्मीरित्यर्थः॥28॥

क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः पुरस्ताल्लीनाहिश्वसितविलोलपल्लवानाम्।
सेव्यानां हतविनयैरिवावृतानां संपर्कं परिहरति स्म चन्दनानाम्॥7.29॥

क्लान्तोऽपि खिन्नोऽप्यप्सरो जनः पुरस्तादग्रेऽपि वर्तमानानां चन्दनानां सम्पर्कमाश्रयणं परिहरति स्मात्याजत्। कुत इत्याह लीनानां श्लिष्यतामहीनां सम्बन्धिभिः श्वसितैर्विलोलाः सकम्पाः पल्लवा येषाम्। यथा हतो विनयो यैर्दुर्जनैरावृतानामाक्रान्तानां दुर्जनवचनश्रवणपराणामित्यर्थः। सेव्यानामौदार्यादि गुणवत्त्वात्सेवनीयानां संपर्कं लोकस्त्यजति। चन्दनानां सेव्याः खलानां सर्पा उपमानम्॥29॥

उत्सृष्टध्वनकुथकङ्कटा धरित्रीमानीता विदितनयैः श्रमं विनेतुम्।
आक्षिप्तद्रुमगहना युगान्तवातैः पर्यस्ता गिरय इव द्विपा विरेजुः॥7.30॥

द्विपा गिरय इव विरेजुः। गिरयः कीदृशाः, युगान्ते वातास्तैः पर्यस्ताः पातिताः। अत एव क्षिप्तान्युन्मूलितानि द्रुमगहनानि येषाम्। हस्तिनां तथाविधपर्वतसाम्यं कथमिति विशेषणमुपन्यस्यति। ध्वजाः कुथा हस्तिकम्बलाः कङ्कटास्तनुत्राणि उत्सृष्टान्यवरो हितानि येषाम्। तथा धरित्रीमानीताः। कैर्विदितो नयो हस्तिशास्त्रं यैस्तैः श्रमं विनेतुं खेदापनोदार्थम्॥30॥

प्रस्थानश्रमजनितां विहाय निद्रामाभुक्ते गजपतिना सदानपङ्के।
शय्यान्ते कुलमलिनां क्षणं विलीनं संरम्भच्युतमिव शृङ्खलं चकाशे॥7.31॥

प्रस्थानेन श्रमस्तेन जनितां निद्रां तन्द्रां त्यक्त्वा हस्तिराजेन त्यक्तेऽत एव स मदजले शयनीये क्षणं श्लिष्टं भ्रमरकुलं चकाशे। अत्रोत्प्रेक्ष्यते। सुप्तोत्थितस्य सद्यश्चेतना नैर्मल्यानधिगमेन। प्रस्थानोचितं संरम्भसंस्कारवशाद्यः संरम्भः क्षोभस्तेन हेतुना च्युतं पतितं शृङ्खलामिव दैर्घ्यादिगुणैरुत्प्रेक्षणम्॥31॥

आयस्तः सुरसरिदोघरुद्धवर्त्मा संप्राप्तुं वनगजदानगन्धि रोधः।
मूर्धानं निहितशिताङ्कुशं विधून्वन् यन्तारं न विगणयाञ्चकार नागः॥7.32॥

नागो हस्तीयन्तारं हस्तिपकं नागण्यत्। कीदृशः वनगजस्य दानेन गन्धवत्तटं प्राप्तुमायस्तः आयासं कुर्वन्। यदि क्रुद्धस्तर्हि वनेभं किं नादलयदित्याह सुरसरितः सम्बन्धिनोघेन प्रवाहेण रुद्धं वर्त्म वनेभदलनमार्गो यस्य सः। अतः क्रोधशमाभावान्मूर्धानं विधुन्वन् कम्पयन्। निखाततीक्ष्णाङ्कुशं यन्तुर्वा विशेषणमेतत्॥32॥

आरोढुः समवनतस्य पीतशेषे साशङ्कं पयसि समीरिते करेण।
संमार्जन्नरुणमदस्रुती कपोलौ सस्यन्दे मद इव शीकरः करेणोः॥7.33॥

शीकरेण जलकणः सस्यन्दे स्रुतवान्। किं कुर्वन्नरुणा मदस्रुतिर्ययोस्तौ करेणोर्हस्तिनो गुण्यौ संमार्जयन् क्षालयन्। अत्रोत्प्रेक्ष्यते मद इव मदजलस्य गण्डोभ्दवात्। कपोलयोरुपरि हस्तिनः कुतो जलबिन्दुसन्दोह इत्याह करेण करणभूतेन पयसि समीरिते पृष्टोपरि कीर्णे सति सन्ताप प्रशमायेति भावः। हस्तिनो हि जातिस्वाभाव्यात्करेण पृष्टेषु जलं क्षरन्ति। कीदृशे पीताच्छेषे। कथं समीरिते आरोढुर्हस्तिपकात्साशङ्कम् हस्तिपकः कुपितो मा भूदित्याशङ्कनम्। आशङ्क्यैव समवनतस्य नतमुखस्य। नतमुखत्वादेव कपोलौ प्रतिकणस्रुतिः। आरोहतीत्यारोढा भीत्रार्थानामिति पंचमी ॥33॥

आघ्राराय क्षण[17]मनुतृष्यतापि रोषादुत्तीरं निहितविवृत्तलोचनेन।
संपृक्तं वनकरिणां मदाम्बुसेकैर्नाचेमे हिममपि वारि वारणेन ॥7.34॥

वारणेन हस्तिनां हिमं शीतलमपि वारि नाचेमे न पीतम्। यदि तस्य पिपासा न स्यात् किं पिबेदित्याह अनुतृष्यता तृषितेनापि। तर्हि किं जलं पीतमित्याह आघ्राय, शिङ्घित्वा। यतो गजमदेन मिश्रितमत आघ्राय त्यक्तम्। अतश्च रोषादुत्क्रान्तं तीरम्। यत्रैवं कृत्वा निहिते विवृत्ते भ्रान्ते लोचने येन हस्तिनं द्रष्टुं दूरक्षिप्तक्रुद्धदृष्टिनेत्यर्थः। यद्वा तीरे। तत्तीरमिति विभक्त्यर्थे समासः ॥34॥

प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि निम्नगायाः क्रीडन्तो गजपतयः पयांसि कृत्वा।
किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखैरुत्तेरुः सरसिजगन्धिभिः कपोलैः ॥7.35॥

क्रीडन्तः सन्तपशान्तये मज्जन्तः सन्तो गङ्गाया जलानि क्षरन्मदसुगन्धीनि कृत्वा गजपतय उत्तेरुरुदज्जयन्। किञ्जल्केन व्यवहिता ताम्रा तारुण्यादरुणा दानलेखा येषां तैः कपोलैः। अत एव पद्मगन्धवभ्दिरुपलक्षिताः स्वमदेन नदीः सुगन्धीकृत्य तत्पद्मकिञ्जल्केन स्वगण्डन्सुगन्धीनकार्षुरित्यर्थः। क्रीडायां च युवानोऽभीष्ट वस्तुविनिमयं कुर्वन्ति ॥35॥

आकीर्णां बलरजसां घनारुणेन प्रक्षोभैः सपदि तरङ्गितं तटेषु।
मातङ्गोन्मथितसरोजरेणुपिङ्गं [18]कौसुम्भं वसनमिवाम्बु निर्बभासे ॥7.36॥

अम्बुकर्तृकौसुम्भं कुसुम्भेनरक्तं वसनमिवाबभासे। कीदृक् घनेनारुणेन च कटकरेणुनाऽऽवृतम्। तथा मातङ्गैरुन्मथितानां सरोजानां रेणुना पिङ्गम्। तथा प्रक्षोभैर्गजक्रीडाक्षोभैस्तरङ्गितं तरङ्गवत्कृतम्। वसनं च तरङ्गितं कृतोर्मि भवति ॥36॥

---

17. अतितृष्यताम्
18. माञ्जिष्ठम्

घनानिकामं कुसुमानि बिभ्रतः करप्रचेयान्यपहाय शाखिनः।
पुरोऽभिसस्त्रे सुरसुन्दरीजनैर्ययोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः॥8.04॥

सुरस्त्रीजनैः पुरोऽग्रेऽभिसस्त्रेऽभिसृतगतम्। भावे कर्मणि वा लकारः। पुष्पावचयकामास्ताः कथं न गच्छेयुरित्याह शाखिनो वृक्षान्विहाय त्यक्त्वा। कदाचिदपुष्पाः परिमितदुरारोहा वाते स्युरित्याह करेण प्रचेयानि सरसशाखात्वात्पुष्पाणि बिभ्रतो घनानविरलान्। एवं चेत्ताः पुरः किं जग्मुरित्याह कामिनो गुणेषु। गुणविषयो यथोत्तरेच्छा योय उत्तरो यथोत्तरं तत्रेच्छा येषां तथाविधा भवन्ति। उत्तरमुत्तरमेव गुणं कामिन कामयन्त्य इत्यर्थः॥04॥

तनु'ररक्तारुणपाणिपल्लवाः स्फुरन्नखांशूत्करमञ्जरीभृतः।
विलासिनीबहुलता वनालयो विलोपनामोदहृताः सिषेविरे॥8.05॥

वनालयो वनभ्रमरा विलासिनीनां बाहुलताः सिषेविरे। सेवने हेतुमाह तनूः कृशाः अरक्ता अरञ्जिता एव स्वभावारुणा रक्ताः पाणिपल्लवाः यासाम्। तथा स्फुरन्तो ये नखांशवस्तेषामुत्करः समूहास्त एव मञ्जर्यः शिखास्ता बिभ्रति। वनालयः कीदृशाः विलेपनस्याङ्गरागस्यामोदेन हृताः अवर्जिताः। गुणसाम्याल्लताभ्रान्त्या वनभ्रमराः स्त्रीभुजलतासु सक्ता इत्यर्थः। वनभ्रमराणामदृष्टपूर्वेषु स्त्रीभुजेषु लताभ्रान्तिरुचितेति प्रतिपादनार्थं वनग्रहणम्॥05॥

निपीयमानस्तबकाः शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम्॥8.06॥

वधूजनैरशोकयष्टिर्ददृशेऽवीक्षित्। वीक्षणे हेतुमाह अमन्दं निर्मयं दष्टे ओष्ठे सति यत्करावधूननं तदनुकुर्वती। यतः शिलीमुखैर्भ्रमरैर्निपीयमानः स्तबको गुच्छो यस्याः। चलावालत्वात्पल्लवा यस्यास्तथाविधामशोकलतां दृष्ट्वा ताः पूर्वानुभूतमधरदं शोचितं हस्तधूननमस्मार्षुरिति भावः॥06॥

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम्।
उपेयुषी कल्पलताभिशङ्क्या कथं न्वितस्त्रस्यति षट्पदावलिः॥8.07॥

जाह्नीहि कोपं दयितो[2]ऽभिगम्यतां पुरानुशेते तव चञ्चलं मनः।
इति प्रियं काञ्चिदुपैतुमिच्छतीं पुरोनुनिन्ये निपुणः सखीजनः॥8.08॥

---

1. अलक्त
2. अनुगम्यताम्

प्रियमुपैतुं गन्तुमिच्छतीं काञ्चिन्मानिनीं सखीजनः पुरोऽभिलाष-वर्णनात्पूर्वमेवानुनिन्येऽनुनीतवान्। पुरः प्रियगमनात्पूर्वमेवेति केचित्। तदिच्छा सखीजनेन कथं ज्ञातेत्याह निपुणो भावज्ञः। कान्तं प्रति मानत्यागार्थं याचन्त्या मम प्रार्थनाभङ्गार्थं नवपल्लवरूपौ हस्तौ धुनाना त्वं परिश्रंसं मा कृथाः। यतो वृथा निष्फलम्। मतिसत्वव्यवच्छेदार्थं मानिनीत्यामन्त्रणम्। भूमनिन्देति भूम्नि निन्दायां वा मतुप्। श्रमवृथात्वं दृष्टान्तेन द्रढयति कल्पलतेयमस्तीत्युपेयुषी प्राप्ता। भ्रमरमालापत्रकम्पमात्रकृतयाभिशङ्क्या इतः कल्पलतायाः कथं नु त्रस्येत्। यद्वा कल्पलतेत्यभिशङ्क्या सम्भावनयां गतालिमाला कथं नु त्रस्येत्, इतः पत्रकम्पात्। तस्मान्मानत्यागार्थं प्रार्थनां कुर्वती त्वत्करधुननादवज्ञां न संभावयामीत्यप्रस्तुतप्रशंसा। प्रियानुरागं छादयितुं हस्तौ धुनानां काञ्चिभ्दावज्ञः सखीजनोऽनुनयोक्त्या रञ्जयित्वानुनिन्ये इति तात्पर्यम्। कोपं त्यज प्रियो भव त्यागस्य ताम् पुरानुशेते पश्चात्तापमनुभविष्यति। यतश्चञ्चलं स्वभावलोलम्॥7, 8॥ **युगलम्**

समुन्नतैः काश[3]दुगूलशालिभिः परिक्वणत्सारसपङ्क्तिमेखलैः।
प्रतीरदेशैः स्वकलत्रचारुभिर्विभूषिताः कुञ्जसमुद्रयोषितः॥8.09॥

उपेयुषीणामित्यन्तं वाक्यम्। बृहतीरुपत्यका गिरिभूमीः प्राप्नुवतीनामप्सरसामी पदार्था मनांसि जहुः। तानेवपदार्थान्दर्शयति। कुञ्जेषु समुद्रयोषितो नद्यः। कैः करणभूतैर्मनांसि जहुः तीरप्रदेशैः तटैः समुन्नतैः। एतेन समुद्रस्त्रीणां तनुत्वं तटस्य च नितम्बसदृशस्य पृथुत्वं दर्शयति। काशा एव दुगूलं तेन शोभमानैः परिक्वणान्ती सारसपङ्क्तिरेव मेखला येषां तैः। अत एव स्वस्त्रीसम्बन्धियत्कलत्रनितम्बं तदवच्चारुभिः। नितम्बं चोन्नतं क्वणाद्रशनं दुगूलं च भवति। कीदृश्यो विभूषिता विशिष्टायां भूवि अविशमे स्थाने उषिताः स्थिताः। स्त्रियश्च विभूषिता भवन्ति॥09॥

विदूरपातेन भिदामुपेयुषश्च्युताः प्रवाहादभितो [4]विसारिणः।
प्रियाङ्कशीताः शुचिमौक्तिकात्विषो वनप्रहासा इव वारिबिन्दवः॥8.10॥

विदूरात्पातेन भिदामुपेयुषः खण्डशो गतात्प्रवाहाच्च्युतात्फलिताः तथा भितः सर्वतः प्रसारिणः तथा शुचयो मौक्तिकत्विषश्च जलकणाः। ते कुतो मनोहारिण इत्याह प्रियस्याङ्कवच्छीताः तान्दृष्ट्वा ताः प्रियोत्सङ्गशय्यामस्मार्षुरित्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते वनस्य प्रहासा इव पुरुषा हि कान्ताग्रे तदाशयतुलनार्थं स्मितं कुर्वन्ति॥10॥

सखीजनंप्रेमगुरूकृतादरं निरीक्षमाणा इव नम्रमूर्तयः।
स्थितद्विरेफाञ्जनशारितोदरै[5]र्विकासिभिः पुष्पविलोचनैर्लताः॥8.11॥

---

3. दुकूल
4. प्रसारिणः
5. विसारिभिः

पुष्पाणि अवलोचनानीवेत्युपमा-समासः। तत्साधकस्य विकासाञ्जनादेरत्र सम्भावात् पुष्पनेत्रैः करणभूतैः लता मन जहु। अत उत्प्रेक्ष्यते सुरस्त्रीर्निरीक्ष्यमाणा इव कथं सखीजनवत् सखीवर्गसमं यत्प्रेम तेन गुरूकृत आदरः संभ्रमो यत्रैवम्। यथा सख्यः सखीः पश्यन्ति तथा ताः पश्यन्तीत्यर्थः। नम्रा पुष्पपत्रादिभरान्नता मूर्तिर्यासां ताः सस्नेहं पश्यंश्चावनतो भवति। स्थिता निविष्टा ये द्विरेफास्त एवाञ्जनं तेन शारितमुदरं सध्यं येषां तैः तथा सविकासैः॥11॥

उपेयुषीणां बृहतीरधित्यका मनांसि जहुः सुरराजयोषिताम्।
कपोलकाषैः करिणां मदारुणैरुपाहितश्यामरुचश्च चन्दनाः॥8.12॥

चन्दनाश्च मनांसि जहुः। मदजलारुणैर्हस्तिनां गण्डकण्डूयनैः कृता सितवर्णाः॥12॥ **कुलकम्॥**

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन [6]लम्बिता।
न किंचिदूचे चरणेन केवलं लिलेखबष्पाकुललोचना भुवम्॥8.13॥

काचित्प्रियं किंचिन्नावोचत् बाष्पसंभ्रान्तदृष्टिः सती सा पादेन केवलं भुवमलिखत्। अत्र हेतुमाह कुसुमानि उच्चैरनवाप्यानि प्रयच्छता ददता प्रियेण विपक्षगोत्रं लम्बिता सपत्नीनाम्नाहूता। किं न किंचिदवोचदित्याह मानिनी मानधना मत्प्रियस्याशयमन्योऽपि माज्ञासीदिति मानं रक्षितुं काचित्प्रियापराधप्रतिभेदं नाकोरत्। दयितेन मानिनीति च सात्कुतम्॥13॥

स्वगोचरे सत्यपि चित्तहारिणा विलोभ्यमानाः प्रसवेन शाखिनाम्।
नभश्चराणामुपकर्तुमिच्छतां प्रियाणि चक्रुः प्रणयेन योषितः॥8.14॥

योषितः प्रणयेन याञ्चया गन्धर्वाणां प्रियाणि चक्रुः। याञ्चया प्रियं कथं भवतीत्याह उपकर्तुमिच्छताम् यतः प्रसवेन विलोभ्यमानाः। किं वस्तुप्रार्थितमित्याह-स्वात्मविषये सत्यपि। करप्रचेयमपि पुष्पं ता दयितान्ययाच तस्तेषां चाटुसमयप्रतीक्षिणां हितं सम्पन्नम्॥14॥

प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोच्चया।
समादधे नांशुकमाहितं वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम्॥8.15॥

अपरा स्त्री अंशुकमधरीयं न समादधे न जग्रन्थे। कुतोऽधरस्य बन्धार्हतेत्याह शिथिलोऽत एव कुल उच्चयोनीविर्यस्य तत्। कदाचिद्व्यापारान्तरप्रवृत्तहस्तास्यादित्याह

---

6. लम्भिता

वृथा निरचयं पुष्पेषु हस्तं नाज्ञासीत्। नीविशैथिल्ये नीवेरबन्धने च हेतुमाह प्रिये वाचमिच्छति प्रेमपूर्वमालपति सति। अत एव तद्गतचित्तत्वादुत्पन्नपुलकत्वेन विश्रंसनात्पनं स्रस्तमप्यधरस्वनाबध्नान्न च पुष्पावचय रहितं हस्तमचेतयदित्यर्थः। उन्मुखी प्रिये निबद्धा सन्मुखी दृष्टिर्यस्याः॥15॥

सलीलमासक्तलतान्तभूषणं समासजन्त्या कुसुमावतंसकम्।
स्तनोपपीडं नुनुदे नितम्बिना घनेन काञ्चिज्जघनेन कान्तया॥8.16॥

कान्तया काञ्चिन्नुनुदे आहतः। केन नितम्बिना जघनेन। कथं स्तनाभ्यामुपपीड्य। स्तनोपपीडम्। सखीषु पश्यन्तीषु तत्कथं कृतमित्याह सलीलं लीलया। कुसुमावतंसकं माल्यं प्रियशिरसि समासजन्त्या बध्नन्त्या। लतान्तान्येव भूषणान्यासक्तानि यस्य तम्। सप्तम्यां चोपपद इति णुमुल्॥16॥

कलत्रभारेण विलोलनीविना गल[7]दुगूलस्तनशालिनोरसा।
वलिव्यापायस्फुटरोमराजिना निरायतत्वादुदरेण ताम्यता॥8.17॥

विलम्बमानाकुलकेशपाशया कयाचिदाविष्कृतबाहुमूलया।
तरुप्रसूनान्यपदिश्य सादरं मनोऽधिनाथस्य मनः [8]समादधे॥8.18॥

कयाचिन्मनोऽधिनाथस्य प्राणनाथस्य मनः समादधे गृहीतम् हृतम्। अत एव सादरम्। चित्तग्रहणे हेतुमाह तरुप्रसूनान्यपदिश्य पुष्पावचयव्याजेन विलोलनीविना शिथिलोच्चयेन कलत्रभारेण श्रोणिभारेव। तथा गलद्दुगूलौ चलत्संव्यानौ यौ स्तनौ ताभ्यां शोभमानेनोरसा। तथा निरायतत्वादुन्नतपुष्पप्राप्तिहेतोरूर्ध्वोत्थानादुदरस्यायत्वेन यो वलिव्यपायस्तेन स्फुटा क्वचिदप्यप्राप्तापह्नवारोमराजिर्यस्य तेन। तथा ताम्यताप्राप्तग्लानिना चोदरेण तथा पुष्पावचयादेव। हेतोर्विलम्बमग्नो व्यपेतबन्धत्वादाकुलः केशपाशो यस्यां तथाऽऽविष्कृते बाहुमूले यस्यां तथाविधया कयाचित्प्रियस्य गृहीतम् द्रष्टुमप्रापाणामङ्गानां दर्शनात्॥17, 18॥ युग्मम्॥

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी॥8.19॥

उन्नतो पीवरो स्तनो यस्याः सा काचिदुन्मना जातोत्कण्ठा सती पयोधरेण करणभूतेन प्रियं वक्षसि जघान। सखीनामग्रे तत्कथं कृतमित्याह लोचनतो नेत्रात्पुषजं रजो व्योपहितुं

---

7. दुकूल
8. समाददे

किलाऽपारयन्तुमऽनिपुणम्। कयाचिद् दृष्टौ केसरपातोऽभिनीतस्ततश्चादिष्टः सन्निष्टो निःश्वासैर्नेत्रात्केसरापसरणे प्रवृत्तः। तदसिद्धैः कुपितेव चलन्ती स्तनेन काचित्प्रियं जघानेत्यर्थः॥19॥

इमान्यमूनीत्यपवर्जिते शनैर्यथाभिरामं कुसुमाग्र[9]पल्लवे।
विहाय निःसारतयेव [10]भूरुहः पदं वनश्रीर्वनितासु सन्दधे॥8.20॥

भूरुहो विहाय लतास्त्यक्त्वा वनितासु वनश्रीरिव स्मितं सन्दधे। पुष्पैर्भूषितत्वाच्छोभाधिक्ये सन्त्युत्प्रेक्षेयम्। त्यागे हेतुमाह निस्सारतया। साराभावः कुत इत्याह इमानि रम्याणि। अमूनि रम्याणीति पुष्पाग्रपल्लवे शनैरखेदमपवर्जितेऽवचिते सति निःसारतयेवेत्युत्प्रेक्षा। निःसारं हि स्त्रियँस्त्यजन्ति। यद्वा निःसारतयेवेति सर्वत्र उत्प्रेक्ष्यम्। चेतनावद्भिर्हि समानो गृह्यते निःसारस्तु त्यज्यते। वनश्रीस्त्वचेतनेति निःसारतयेवेत्युत्प्रेक्षणम्॥20॥

प्रवालभङ्गारुणपाणिपल्लवः परागपाण्डूकृतपीवरस्तनः।
[11]महीभृतः पुष्पसुगन्धि[12]रादधे वपुर्गुणोच्छ्रायमिवाङ्गनाजनः॥8.21॥

अङ्गनाजनो वपुषो गुणानां पाणिपल्लवारुणत्वादीनामुच्छ्रायं वृद्धिं पर्वतादादद बुद्धिपूर्वकमिवाग्रहीत्। प्रवालानां भङ्गेन च्छेदेनारुणौ पाणिपल्लवौ यस्य। तथा परागेण पुष्परजसा पाण्डूकृतौ पीवरौ स्तनौ यस्य। तथा पुष्पैः सुगन्धिः शोभनगन्धः। यद्वा पर्वतादिव स्त्रीजनो वपुर्गुणानग्राहीत्। यतः प्रवालभङ्गवदरुणपाणिः। स्वाभाविके प्रवालभङ्ग-वदरुणपाणिपल्लवत्वे प्रवालभङ्गेनारुणपाणिपल्लवत्वं सम्भाव्यते। एवमन्यविशेषणयं व्याख्येयम्। उच्छ्रायो माहात्म्यम्॥21॥

वरोरुभिर्वारुणहस्तपीवरैश्चिराय खिन्नान्नवपल्लवश्रीयः।
समेऽपि यातुं चरणाननीश्वरान् मदादिव प्रस्खलतः पदे पदे॥8.22॥

विसारिकाञ्चीमणिरश्मिलब्धया [13]मनोरमोच्छ्रायनितम्बशोभया।
स्थिनानि जित्वा नवसैकतद्युतिं श्रमातिरिक्तैर्जघनानि गौरवैः॥8.23॥

समुच्छसत्पङ्कजकोशकोमलैरुपाहितश्रीण्युपनीवि नाभिभिः।
दधन्ति मध्येषु वलीविभङ्गिषु स्तनातिभारादुदराणि नम्रताम्॥8.24॥

---

9. पल्लवम्
10. भूरुहान्
11. महिरुहः
12. आददे
13. मनोहर

समानकान्तीनि तुषारभूषणैः सरोरुहैरस्फुटपत्रपङ्क्तिभिः।
चितानि घर्माम्बुकणैः समन्ततो सुखान्यनुत्फुल्लविलोचनानि च ॥8.25॥

विनिर्यतीनां [14]परिखेदमन्थरं सुराङ्गनानामनुसानु वत्मनः।
सविस्मयं रूपयतो नभश्चशन् विवेश तत्पूर्वमिवेक्षणादरः ॥8.26॥

ईक्षणे आलोकने आदरो नभश्चरान् गन्धर्वास्तत्पूर्वमिव विवेश प्रविष्टः। अद्य तावदन्यद् दृष्टुमादरो नाभूदित्यर्थः। यद्वा तत्पूर्वमिव पश्यत इति योज्यम्। अनुसानु प्रतिसानु संमुखं वा वर्त्मनो मार्गात्परिखेदेन मन्थरभलसं कृत्वा विनिर्यतीनां निर्गच्छन्तीनां सुराङ्गनानां चरणान् पादान् साश्चर्यं रूपयतो विक्षमाणान् चरणान् कीदृशान् वारणानां हस्तवत् पीवरैः, घनैः वरैरूरुभिः खिन्नान्सतः समे समस्थुलेऽपि गन्तुमसमर्थान्। यतो नवपल्लववच्छ्रीः सोक्तुमार्यं येषां तान्। अतः पदेपदे प्रस्खलतः लुठतः। अतोत्प्रेक्ष्यते मदादिव मत्तो हि स्खलति॥ अन्यच्च कीदृशान् जघनानि रूपयतः मनोहरोच्छ्रायस्य नितम्बस्य शोभया करणभूतया वनसैकतस्य द्युतिं जित्वा स्थितानि। तथा श्रमेणातिरिक्तैरधिकीकृतैः गौरवैरुपलक्षितानि॥ तथा समुच्छ्वसद्विकसन्यः पङ्कजकोशस्तद्वत्कोमलैः नाभिभिरुपाहितकृता श्रीर्येषां तानि। तथा स्तनयोरतिभरात्नम्रतां वलिभङ्गसहितेषु मध्यस्थानेषु दधत्युदराणि रूपयतः॥ तथा धर्माम्बुकणैः सर्वतो व्याप्तानि सङ्कुचितनेत्राणि च मुखानि रूपयतः। अतस्तुषारो हिमजललवो भूषणं येषामस्फुटाविकसिता पत्रपङ्क्तिर्येषां तैः पद्मैः सदृशशोभानि॥22, 23, 24, 25, 26॥ **कुलकम्॥**

अथ स्फुरन्मीनविधूतपङ्कजा विपङ्कतीरस्खलितोर्मिसंहतिः।
पयोऽवगाढुं कलहंसनादिनी समाजुहावेव वधूः सुरापगा ॥8.27॥

अथ पुष्पावटैचयादनन्तरं सुरापगा वधूः समाजुहावेवाह्वानमिवाकरोत् पयोऽवगाढुं जलनार्थम् स्फुरद्भिः संचरद्भिः मीनैर्विधूतानि पङ्कजानि हस्ताकाराणि यस्याः। कलहंसैर्नदति शब्दायमाना विपङ्कत्वेन हेतुना तीरात्तटात्स्खलिता ऊर्मिसंहतिर्यस्याः। यश्च दूरादाह्वानं करोति स ऊर्ध्वबाहुः सन् सम्भ्रमात् स्खलति॥28॥

प्रशान्तघर्माभिभवः शनैर्विवान् विलासिनीभ्यः परिमृष्टपङ्कजः।
ददौ भुजालम्बमिवात्तशीकरस्तरङ्गमालान्तरगोचरोऽनिलः ॥8.28॥

अनिलो विलासिनीभ्यो भुजालम्बमिव ददौ। वायुना स्वेदखेदो किंचिन्निवारिते

---

14. गुरुखेद

सति सञ्चरितुमुत्साहित्वं ताभिः प्राप्तमित्यर्थः। अनिलस्य गुणानाह तरङ्गमालानामन्तरं मध्यं गोचरो विषयो यस्य। आत्ता गृहीताः शीकरा येन। अतः प्रशान्तो घर्माभिभवो येन। तथा शनैर्मृदुविवान् वहन्। श्रान्तस्य च भूजालम्बनं लोको ददाति ॥28॥

गतैः सहावैः कलहंस[15]विभ्रमं कलत्रभारैः पुलिनं नितम्बिभिः।
मुखैः सरोजानि च दीर्घलोचनैः सुरस्त्रियः साम्यगुणान्निरासिरे ॥8.29॥

सुरस्त्रिय एव तान् मदार्थान् साम्यगुणान्सादृश्यान्निससिरे दूरे कुर्वन्, सदृशानप्यजयन्नित्यर्थः। कैः कानित्याहगतैर्गतिविलासैः। कलहंसानां विशिष्टं भ्रमं गमनम्। कलत्रभारैर्घनैः पुलिनं सैकतम् मुखैश्च पद्मानि सादृश्यनिरसननिमित्तं विशेषणमुखेनाह सहावैः। हायो हृदयाभिप्रायसूचकः कामचेष्टाविशेषःतत्सहितैः स्त्रीगतैः। हंसगत्या साम्यं प्रसिद्धावत्वान्निरस्तम्। एवमन्यविशेषणेष्वपि व्याख्येयम्। नितम्बवद्भिः दीर्घलोचनैः आयतनेत्रैः हंसगमनस्य हावासंभवात्पुलिनानां नितम्बाभावात् पद्मानां नेत्राभावान्नाकनारीगमनजगनमुखैः साम्यमपेतमित्यर्थः ॥29॥

विभिन्नपर्यन्तगमीनपङ्क्तयः [16]पुरोऽवगाढाः सखीभिर्मरुत्वतः।
कथंचिदापः सुरसुन्दरीजनैः सभीतिभिस्तत्प्रथमं प्रपेदिरे ॥8.30॥

सुरसुन्दरीजनैरापः कथञ्चित्प्रपेदिरे। कुतः सभीतिभिः। जलेषु का भीतिरित्याह – तत्प्रथमम्। यदि भीतास्तत्कथं जलेषु। कथं प्रविष्टा इत्याह पुरः पूर्वं गन्धर्वैरवगाढा आलोढिताः। अतः पर्यन्तं गामीन पङ्क्तयो विभिन्ना विशीर्णा यासाम्। नदीष्णत्वात्पूर्वं गन्धर्वेषु जलं प्रविष्टेषु गाधे तुलिते सति पश्चादपि बिभ्यतः। कथञ्चित्ताः प्रविष्टा इत्यर्थः ॥30॥

विगाढमात्रे रमणीभिरम्भसि प्रयत्नसंवाहितपीवरोरुभिः।
विभिद्यमाना विससार सारसानुदस्य तीरेषु तरङ्गसंहतिः ॥8.31॥

तीरेषु सारसानुत्क्षिप्य वीचिपङ्क्तिर्विससार। प्रयत्नेन संवाहिताः पीवरत्वादूरवो याभिस्ताभिरमणीभिर्जलेऽवगाढमात्रे विभिद्य शाखा इतस्ततो गच्छन्तीति विसरणे हेतुः। तरङ्गेभ्योऽधिकपीवरास्ता सामूरव इत्यर्थः। ये च संहतास्तेऽधिकगुणेन जिता विभिद्यन्ते ॥31॥

द्युतिं वहन्तो वनितावतंसका हृताः प्रलोभादिव वेगिभिर्जलैः।
उपप्लुतास्तत्क्षणशोचनीयतां च्युताधिकाराः सचिवा इवाययुः ॥8.32॥

---

15. विक्रमम्
16. पुरो विगाढाः

वनितानामवतंसका द्युतिं वहन्तोऽपि तत्क्षणं शोचनीयतां ययुः। कुतो वेगवद्भिर्जलैर्हृताः। यथा हताधिकाराः सचिवा अधिकारभ्रष्टाः सचिवास्तत्क्षण-शोचनीयतामायान्ति। ते च द्युतिमन्तः वेगवद्भिर्जडैर्हृताः, सोऽहं प्रापिताः उपप्लुताः राज्ञा हृतसर्वस्वाः ॥32 ॥

शिलाघनैर्नाकसदामुरःस्थलैर्बृहन्निवेशैश्च वधूपयोधरैः।
[17]तटान्तनीतेन विभिन्नवीचिना रुषेव भेजे कलुषत्वम्भसा ॥8.33 ॥

अम्भसा कलुषत्वमाबिलत्वं भेजे। कालुष्ये हेतुमाह शिलावद् घनैर्गन्धर्वाणां वक्षःस्थलैः। तथा बृहत्परिणाहैस्तरुणीस्तनैस्तटान्तनीतेनाऽतो विभिन्नलहरिणा। अत्रोत्प्रेक्ष्यते रुषेव रुषश्च वक्षो हननादिहेतुः। आगतशेषश्च बद्धभ्रकुटिः कलुषो भवति ॥33 ॥

विधूतकेशाः [18]परिलोडितस्रजः सुराङ्गनानां प्रविलुप्तचन्दनाः।
अतिप्रसङ्गाद्विहितागसो मुहुः प्रकम्पमीयुः सभया इवोर्मयः ॥8.34 ॥

ऊर्मयः प्रकम्पमीयुः अप्सरसामतिप्रसङ्गात्। अत उत्प्रेक्ष्यते सभया इव। ये हेतुमाह अतिप्रसङ्गाद्विहितागसः यश्च कृतापराधः स कम्पते। विशेषणमुखेनापराधान्दर्शयति। विधूतकेशाः कीर्णकचाः। परिलोडिता ग्लपिताः स्रजो यैः विलुप्तमादृष्टं चन्दनं यैः ॥34 ॥

विपक्षचित्तोन्मथना नखव्रणास्तिरोहिता [19]मण्डनविभ्रमेण ये।
हृतस्य शेषानिव कुङ्कुमस्य तान् विकत्थनीयान्दधुरन्यथा स्त्रियः ॥8.35 ॥

स्त्रियस्तानन्यथा दधुः। पूर्वावस्थाया अन्यथा त्वं नखव्रणाः प्रापुरित्यर्थः। पूर्वावस्था च नखक्षतानामङ्गरागाच्छादितत्वम्। प्रकटान्नपि घातान्दधुरित्यर्थः। अतो विकत्थनीयान्। नखक्षतदर्शनेन हि स्त्रीणां सौभाग्यं व्यज्यते।। जले हृतस्य कुङ्कुमस्य शेषानिव आर्द्रत्वेन रक्तत्वात् स्वरूपकथनमेतत्। तान् कान् विभ्रमार्थं मण्डनेनाङ्गरागेण ये स्नानात्पूर्वं तिरोहिताच्छादिताः। विपक्षस्य सपत्नीनां चित्तस्योन्मथनाः। यद्वा प्राग्ये नखव्रणा विलासाङ्गरागेणाच्छदितास्तान् प्रकटीभूतानतो विकत्थनीयान्। अन्यथाऽविकत्थनीयानेव स्त्रियो दधुः। यदि जलैरङ्गरागो हृतस्तत्कथमविकत्थनीयत्वं नखक्षतानामित्याह हृतस्य कुङ्कुमस्य शेषानिव। सपत्नीभिर्हि नखव्रणाः कुङ्कुमशेषरूपतया सम्भाविताः। अतो नखक्षतानामविकत्थनयोग्यत्वम् ॥35 ॥

---

17. तटाभिनीतेन
18. परिलोलित
19. विभ्रममण्डनेन

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥8.36॥

काचिज्जलाबिलामपि स्रजं नु जहौ नात्याक्षीत्। यदि जलेन क्लिन्ना किं न त्यक्तेत्याह प्रियेण सङ्ग्रथ्योऽम्भित्वा विपक्षसन्निधौ सपत्नीसमक्षं वक्षस्युपाहितां बद्धां। कुतः पीवरस्तने। युक्तमेतत् प्रेम्णि विषये गुणाः सन्ति, वस्तुनि तु न सन्ति। प्रेमवशादशोभनेऽपि शोभनत्वाभिमानात्। प्रेवर्जिते तु वस्तुनि शोभनेऽपि अनीदृशत्वावभासनात् ॥36॥

[20]असंशयन्यस्तमुपान्तरक्ततां [21]पदे [22]निरोद्धुं रमणीभिरञ्जनम्।
हृतेऽपि तस्मिन्सलिलेन शुक्लतां निरास रागो नयनेषु न श्रियम् ॥8.37॥

अञ्जनस्य पदे नेत्रे विषये रमणीभिरञ्जनं न्यस्तमर्पितम्। किं कर्तुमसंशयं निःसन्देहमुपान्तरक्ततां निरोद्धुम् स्थगयितुम्। स्त्रियो नेत्रस्य श्रियमुत्पादयितुमञ्जनेन नेत्रं रञ्जयन्तीति प्रसिद्धः। ताभिस्तूपान्तरक्तास्थगनार्थमेव न तु शोभोत्पादनार्थं। नेत्रेऽञ्जनं दत्तमिति कविना साध्यते। तदेवं साध्यं प्रत्यापयितुं साधनमाह जलमज्जनकृतो रागो दृष्टिस्थामज्जनकृतां शुक्लतां धवलतां निरासे न तु श्रियम्। तस्मिन्नञ्जनहृतेऽपि सति श्रीर्न व्यपेताऽतोऽनुमीयते शोभाजननार्थमञ्जनं न दत्तम्। यदि हि शोभार्थमञ्जनं दत्तं स्यात्तदा नेत्रशोभायाः कारणमञ्जनं स्यात्। ततश्च कारणाभावे कर्यभूतायाः शोभाया अप्यभावः स्यात्। उपान्तरक्तानिवारणेन कारणेन जनिताया मण्डलान्तधवलतायास्तु यस्यां कारणमञ्जनं। साञ्जनेन निरस्ते सति निरस्तकारणाभावे कार्याभावात् ॥37॥

विपत्रलेखा निरलक्तकाधरा [23]हताञ्जनाक्षीरपि बिभ्रतीः श्रियम्।
निरीक्ष्य रामा बुबुधे नभश्चरैरलङ्कृतं तद्वपुषैव मण्डनम् ॥8.38॥

नभश्चरैर्गन्धवैर्मण्डनं भूषणं तद्वपुषैव रामा शरीरेणैवालङ्कृतं भूषितं बुबुधे निश्चितम्। अप्सरोभिरेव हारादिकं भूषितं न पुनर्हारादिनाप्सरस इत्यर्थः। किं कृत्वा ज्ञातम् जलक्रीडावशाद्विगतपत्रलेखाः। तथा नीरक्ताधरा आमृष्टाञ्जनाक्षीगलिताञ्जनदूरपि रामाः शोभां बिभ्रतीर्दृष्ट्वा अयमर्थः। यदि हि भूषणान्यवता संशोभामुत्पादयेयुः तदा भूषणाभावे शोभाव्यपायः स्यात्। भूषणाभावे जातेऽपि शोभान्वये सत्येवं ज्ञातं तद् वपुषैव भूषणानि शोभ्यन्त इति। यद्वाप्सरसां शरीरेण भूषणस्यालङ्क्रयमाणत्वं विशेषणानां

20. असंशयम्
21. यदेव
22. रोद्धुम्
23. निराञ्जनाक्षी

समासार्थान्तराभ्यामाह विपत्रलेखा विकलपत्ररचनाः। निरलक्तकाश्च ता अधराहताक्ष्यश्च ताः। स्वकान्तेर्निर्गतमलक्तकं यासां ताः, अयमर्थः। यद्वा स्नानं कृतं तदा तच्छरीरात्पत्रलेखादिकं पतितं सन्निःशोभं जातमतोऽनुमीयते तच्छरीरेणैव पत्रलेखादिकं भूषणं भूषितमासीत् ॥38॥

तथा न पूर्वं कृतभूषणादरः प्रियानुरागेण विलासिनीजनः।
यथा जलार्द्रो नखमण्डनश्रिया ददाह [24]दृष्टीः प्रतिपक्षयोषिताम् ॥8.39॥

प्रियसम्बन्धिनानुरागेण हेतुना कृतो मण्डनेऽङ्गरागादावादरो येन स स्त्रीवर्गः। सपत्नीनां दृष्टीस्तथा नाऽदहत्। यथा जलेनार्द्रो गलिताङ्गरागो क्षतनखशोभया दृष्टीरदहत्। यतो नखक्षतशोभया। केन प्रियाङ्गरागेण, कार्यकारणरूपकमिदम्। मण्डनत्वे समेऽपि नखमण्डनैस्ताप इति चित्रम्। अयमर्थः विलसिनीर्दयितानुरागेण हेतुनात्मानं भूषयन्तीर्दृष्ट्वा सपत्न्यो दुःखं नावापुः। कदाचित्नायका एता भूषयन्तीरप्यस्मानिव न संभजन्ते इति चिन्तनात्। यदा तु सम्भोगलक्षणानि नखक्षतानि तासां सपत्न्योऽद्राक्षस्तदा दुःखमवापुः ॥39॥

शुभानना: साम्बुरुहेषु भीरवो विलोलहाराश्चलफेनपङ्क्तिषु।
नितान्तगौर्यो हृतकुङ्कुमेष्वलं न लेभिरे ताः परभागमूर्मिषु ॥8.40॥

ता ऊर्मिषु लहरीषु परो यो भागस्तं नावापुः। यतो भीरवः लहरयोऽस्मान् हरिष्यन्तीति भीताः। यद्वा परभागः स्वगुणप्रकाशनम् तं नावापुः। ऊर्मिणां सद्दशत्वात्। यतः शुभानना मनोहरमुखाः ऊर्मिषु सपद्मेषुता विलोलहाराः। ऊर्मिषु चलवोनपङ्क्तिषु ता नितान्तं गौर्य ऊर्मिषु हृतकुङ्कुमेषु एवं गुणसाम्यात्ता लहरीषु स्वगुणोत्कर्षं न प्रापुः ॥41॥

हृदाम्भसि [25]न्यस्तवधूकराहते रवं मृदङ्गध्वनिधीरमुज्झति।
मुहुः स्तनैस्तालसमं समाददे मनोरमं नृत्यमिव प्रवेपितम् ॥8.41॥

स्तनैः प्रवेपितं कम्पं समाददे गृहीतम्। कदा न्यस्तैर्वधूकरैराहते हृदाम्भसि मृदङ्गध्वनिवद्धीरं रवमुज्झति सति। लीलया स्त्रीभिर्जले क्षोभिते सति स्तनैः कम्पितमित्यर्थः। अत उत्प्रेक्ष्यते तालानां समनुगुणं नृत्तमिवोपमेयम्। सरुजे च शब्दायमाने तालसमं नाट्यं नाट्यज्ञैः क्रियते ॥41॥

श्रिया हसद्भिः कमलानि सस्मितैरलंकृताम्बुः प्रतिमागतैर्मुखैः।
[26]कृतानुकारा सुरराजयोषितां प्रसादसाफल्यमवाप जाह्नवी ॥8.42॥

24. दृष्टिश्च
25. व्यस्त
26. कृतानुकूल्या

जाह्नवी गङ्गा प्रसादस्य नैर्मल्यस्य साफल्यमवाप। कुत: प्रतिमागतै: प्रतिबिम्बितै: स्त्रीणां मुखैरलङ्कृताम्बु:। किं तेनेत्याह कृतोनुकारस्तुला यया सा पद्मैरेव भूषितजलत्वाद् गङ्गा स्त्रीणां सदृगासीत्म्। किं मुखप्रतिबिम्बेनेत्याह श्रिया करण भूतया कमलानि हसभ्दिर्जयद्भि:। यत: सस्मितै: नित्यस्मितै:। यदि न गङ्गाया: प्रसन्नता भवेत् तदा कमलाधिकमुखप्रतिबिम्बलाभाभावेन कथं स्त्रीणां समास्यादित्यर्थ: ॥42॥

परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरव: सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टय:।
उपाययु: कम्पितपाणिपल्लवा: सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥8.43॥

सुराङ्गना: सखीजनस्यापि विलोकनीयतां द्रष्टव्यतां ययु:। सखोऽपि सकुतूहलं सुरस्त्रीरद्राक्षुरित्यर्थ:। विलोकनीयत्वे कारणमाह परिस्फुरन्तो ये मीनास्तैर्विघट्टितार्थरवो यासां। अतस्त्रासेन दयितादन्येन केन स्विद्वयमूरुष्वाहता इत्येव रूपेण। यद्वा जलजन्तवो मा स्मस्यदशन्नित्येवं रूपेण विलोला दृष्टिर्यासाम्। अत: कम्पितौ पाणिपल्लवौ याभि: ॥43॥

भयादिवाश्लिष्य झषाहतेऽम्भसि प्रियं मुदानन्दयति स्म मानिनी।
अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामा: कृतकैरपीहितै: ॥8.44॥

काचिदाश्लिष्य प्रियमानन्दयत्। योषिदाश्लेषेण भर्तु: कथमानन्द: इत्याह मानिनी। यदि मानिनी; कथमालिङ्गादित्याह मुदा रागेण। मानिन्या रागेणाश्लेषो न युक्त इत्याह भयादिव। कुतो भयमित्याह झषैर्मीनैराहतेऽम्भसि सति।यदि तया भयमभिनीतं तर्हि पुरूषत्वाद्विदग्धस्य प्रियस्य कथं तोष इत्याह रामा:। कृतकै: साधितैरपीहितै-श्चेष्टितैर्मनोहरन्ति। कृत्रिमस्वभावसंपादितानि चेष्टितानि कथं मनोहरन्तीत्याह अकृत्रिमेन स्वाभाविकेन प्रेमरसेनाहितै: कृतै:। अत्राकृत्रिम: स्नेहरसस्तेन कणभूतेन मानिनी भयमभिनीयालिङ्ग्यातोषयत् ॥44॥

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकै: प्रसारिभि:।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितै: सरोरुहै: ॥8.45॥

अपां विगाहाज्जलक्रीडया आकुलै: प्रसरभ्दिरलकैस्तिरोहितान्तानि च्छादितरूपाणि वधूनां वदनानि तुल्यतां साम्यं ययु:। कै: सरोरुहै: द्विरेफाणां भ्रमराणां वृन्देनान्तरितै: ॥45॥

सरोजपत्रे [27]परिलीन षट्पदे [28]विशालदृष्टे: [29]स्विदिमे विलोचने।
शिरोरुहा: स्विन्नत[30]पक्षसन्ततिर्द्विरेकवृन्दं न [31]विशब्दनिश्चलम् ॥8.46॥

---

27. नु विलीन
28. विलोलदृष्टे:
29. स्विदम्
30. पक्ष्मसंतते:
31. निशब्द

अगूढहासस्फुटदन्तकेसरं मुखं स्विदेतद्विकसन्नु पङ्कजम्।
इति प्रलीनां नलिनीवने सखीं विदांबभूवुः सुचिरेण योषितः ॥8.47॥

नलिनीवने प्रलीनामाकण्ठं मग्नं सखीं योषितः सुचिरेण विदांबभूवुः निरचैषुः चिरं संशयमवहन्नित्यर्थः। इति हेतौ अमू कर्तृणी सरोजपत्रे स्विभ्दवतः परिलीनषट्पदे मकरन्दलोभादविचलभ्रमरे अमू दीर्घदृशो नेत्रे स्विभ्दवतः। एतदवगूढेन हासेन स्फुटा दन्ताः केसर इव यस्य तन्मुखं स्वित्। उतैतद्विकसत्पङ्कजं पद्मम्। शिरोरुहाः केशाः स्वित्। नता पक्षसन्ततिः पक्षतिः पङ्क्तिर्यस्य। तथाविधं तथा निःशब्दं निश्चलं च भ्रमरकुलं स्वित्। नेत्रे पद्मपत्रमिति संशयेन मुखे पद्ममिति भ्रान्त्या केशेषुं भ्रमरा इति भ्रमेण चिरकालमनिश्चितां सखीमसाधारणधर्मदर्शनेन सख्यो जज्ञुरित्यर्थः ॥46, 47॥**युग्मम्**॥

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती पयस्यगाधे किल जातसंभ्रमा।
सखीषु निर्वाच्यमधाष्ट्र्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप मानिनी ॥8.48॥

मानिनी प्रियसम्बन्धिनामङ्गानां संश्लेषमालिङ्गनं प्रापत्। कथं सखीषु सखीविषये निर्वाच्यं वाच्यमवादस्तस्मांन्निष्क्रान्तं निर्वाच्यम्। तथावधाष्ट्र्येन वैयात्येन दूषितम्। सखीषु सतीष्विति व्याख्येयम्। कुत इत्याह किलालीके जातसंभ्रममभिनयन्ती। कदा अगाधे अतलस्पर्शे पयसि। अत एव नवपल्लववदाकृतिर्ययोस्तौ करौ धुनाना कम्पयन्ती। भये सति मर्यादातिक्रमणं न दोष इति भयमभिनीय काचिन्मानिनी प्रियं सखीनामग्रे आलिङ्गदित्यर्थः। अथवा जलमज्जनभयभिनयन्ती प्रियाङ्गैर्मानिनी संश्लेषं प्रापत्। मज्जतीति मत्वा प्रियेणालिङ्गितेत्यर्थः ॥48॥

प्रियैः सलिलं करवारिवारितः प्रवृद्धनिःश्वासविकम्पितस्तनः।
सविभ्रमाधूतकराग्रपल्लवो यथार्थतामाप विलासिनीजनः ॥8.49॥

विलासिनीजनः यथार्थतां प्रापत्। अत्रार्थशब्दस्याभिधेयवाचिनो विलासिनी-शब्दाभिधेयस्य स्त्रैणस्य यथार्थत्वाभावसंभवात्। विलासिनीजनशब्देन स्वरूपं गृह्यते न त्वर्थः। ततश्चैतदुक्तं भवति स्त्रियो विलासान् प्रापुः। प्रियैः करवारिणा वारितः सिक्तः। अत एव प्रवृद्धैरनवरतैर्निश्वासैर्विकम्पिताः स्तना यस्य। तथा सविभ्रमं सविलासं आधूतः कराग्राण्येव पल्लवा येन, प्रियैः कृताञ्जलसेकाद्विलासान् स्त्रीजनोऽकरोदित्यर्थः ॥49॥

उदस्य धैर्यं दयितेन सादरं प्रसादितायाः करवारिवारितम्।
मुखं निमीलन्नयनं नतभ्रुवः श्रियं सपत्नी[32]नयनादिवाददे ॥8.50॥

मुखं श्रियं सपत्नीमुखादिवाददेऽग्रहीत्। यतः प्रसादितायाः। कथं प्रसादितेत्याह धैर्यं सादरमुदस्य त्यक्त्वा दयितेन सादरं करवारितं सिक्तम्। अत एव निमीलन्नयनं सङ्कुचद् दृक् प्रियकरवारिसेकात् प्राप्तायाः शोभायाः सपत्नीमुखाद्ग्रहणमुत्प्रेक्ष्यते। प्रियकृतसेकदर्शिन्या सपत्न्या मुखस्य विच्छायत्वादर्शनात् ॥50॥

---

32. वदनाद्

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम्॥8.51॥

कञ्ची अंशुकमधराम्बरं बभार यतो। वितो वलित तच्चयबन्धो नीविबन्धनं यस्य तत्। नीविच्छेदे हेतुमाह प्रियेण वध्वाः पाणौ विधृते सति। कररोधे हेतुमाह धृतं प्रियसेकार्थमम्भो येन तस्मिन्। तस्मान्नीविच्छेदः कथं जात इत्याह मदनेनार्द्र चेतो यस्याः। नीविधारणे कथं काञ्च्याः शक्यमित्याह। पयसा घनीकृता सरसत्वाद्धि सारवत्ता रज्ज्वादीनां भवति। नीविधरणादुत्प्रेक्ष्यते सखीव। सखी हि सख्याः सर्वथा लज्जारक्षां करोति। सखीवेत्युपमावेयम्॥51॥

निरञ्जने साचिविलोकितं दृशावयावकं वेपथुरोष्ठपल्लवम्।
नतभ्रुवो मण्डयति स्म विग्रहे वलिक्रिया चातिलकं तदास्पदम्॥8.52॥

विग्रहे प्रणयकलहे सति साचिविलोकितं तिरश्चीनं वीक्षितं कर्तृदृशावमण्डयत्। वेपथुः कम्पोधरपल्लवममण्डयत्। वलिक्रिया भ्रुकुटिस्तदास्पदं तिलकस्थानं ललाटममण्डयत्। स्वाभूषणानि क्व गतानीत्याह अवगाहवशान्निरञ्जने अयावकं गलितालक्तकम्। अतिलकमामृष्टविशेषकम्॥52॥

प्रियेण सिक्ता चरमं विपक्षतश्चुकोप काचिन्न तुतोष सान्त्वनैः।
जनस्य रूढप्रणयस्य चेतसः किमप्यमर्षोऽनुनये भृशायते॥8.53॥

काचित्सान्त्वनैः प्रसादनार्थं चाटुभिः पत्युतः चुकोप न तुतोष। प्रसादनमेव कुत इत्याह - विपक्षतः। सपत्न्याश्चरमं पश्चात् प्रियेण सिक्ता। यद्यनुनीता प्रत्युत कोपं कथ - .... मकार्षीदित्याह - रूढप्रणयस्य। नित्यकृतप्रेम्णो जनस्य सम्बन्धिनश्चेतसोऽमर्षोऽनुनये सान्त्वने सति किमपि भृशायते। अधिकीभवति। किमपीत्यवितर्कितम्॥53॥

निमीलदाकेकरलोलचक्षुषां प्रियोपकण्ठं कृतगात्रवेपथुः।
निमज्जतीनां श्वसितोद्धतस्तनः श्रमो नु तासां मदनो नु पप्रथे॥8.54॥

देवस्त्रीणां श्रमो नु पप्रथे, मदनो नु पप्रथे। श्रममदनयोर्हेतुमाह प्रियोपकण्ठं, दयितसमीपे निमज्जतीनां स्नातीनाम्। निमज्जनाच्छ्रमसंशयः, प्रियसमीपस्थित्या मदनसंशयः। अन्यदपि वितर्कबीजं साधारणधर्मत्वं विशेषणैराह निमीलन्मुक्तमज्ज-माकेककरं लोलं चक्षुर्यासां ताः। आकेकरवल्लोलं चक्षुर्वा यासाम्। आकेकराकग्विशेषः धृतो गात्राणां वेपथुर्यत्र। तथा श्वसितैरुद्धतौ स्तनौ यत्र सः। एतद्विशेषणद्वयं स्त्रीणां विशेषणतया सङ्गच्छते। कम्पमानानां निःश्वासोद्धत स्तनीनां मीलद्दृशां च तासां किं श्रमोऽभूदुत कामः। श्रमकामयोर्हि मीलनादयः साधारणा धर्मा इति श्रमकामयोर्वितर्को जातः। आकेकरो दग्विशेषः। यदुक्तम्। एषाधर्मपताकिनी तटरुहां मध्यावसन्नाकिनी पापाडम्बरडाकिनी गिरिसुतामाकेकरालोकिनी शुद्धिः पातकीनां भगीरथतपःसाफल्य-हेवाकिनी प्रेमारूढपिनाकिनी त्रिभुवनानन्दाय मन्दाकिनी गिरिसुतां पार्वतीमाकेकरं कुटिलं

यथा भवति तथालोलिनी पश्यन्तीत्यर्थः। पार्वतीमन्दाकिन्योः प्रसिद्धं सापत्न्यं। सपत्नीभावादाके करालोकिनी कुटिलं पश्यन्ती। दृक् प्रसङ्गादिदं लिखितम्॥54॥

इत्थं विहृत्य वनिताभिरुदस्यमानं पीनस्तनोरुजघनस्थलशालिनीभिः।
[33]उत्सञ्जितोर्मिचयलङ्घित[34]तीरलेखमौत्सुक्यनुन्नमिव वारि पुरः प्रतस्थे॥8.55॥

वारि जलं पुरस्तासामग्रे प्रतस्थे। यत उत्संजितः क्षोभितः। य ऊर्मिजय तेन लङ्घिता तीरलेखा तटमर्यादा येन तत्। एवं विहृत्य क्रीडित्वा वनिताभिरुदस्यमानमुत्क्षिप्यमाणं पीतं पीवरं यत्स्तनोरुजघनस्थलं तेन शोभमानाभिः। अत उत्प्रेक्ष्यते वनिताविषयेनौत्सुक्येनानुरागेण नुन्नं प्रेरितमिव। यश्च पुरुषः पीनस्तनोरुजघनाभिः स्त्रीभिः क्षोभ्यमानः सकामतरङ्गलङ्घितमर्यादः सन्नुत्कण्ठाकुलत्वात्पुरःसरीभवति ताभ्यः प्रस्तुतकामाभ्यः॥55॥

[35]तीरान्तरेषु मिथुनानि रथाङ्गनाम्नां
नीत्वा विलोलितसरोजवनश्रियस्ताः।
सरेजिरे सुरसरिज्जलधौतहारा-
स्तारा वितानतरला इव यामवत्यः॥8.56॥

सरेजिरे साम्राज्यं प्रापुः। तत्र हेतुः रथाङ्गनाम्नां मिथुनानि चक्रवाकद्वन्द्वानि जलक्षोभकरणात्तीरान्तरेषु नीत्वा। तथा विलोलिता सकम्पा कृता सरोजवनस्य श्रीर्याभिः ताः। स्तनानां चक्रवाकद्वन्द्वानि मुखहस्तनेत्रपादादीनां कमलानि स्पर्धां कुर्वन्ति। तेषामेव क्षोभमुत्पाद्य साम्राज्यं प्रापुरिति भावः। तासां च जलावगाहनात्क्षोभोऽभूदित्याह सुरसरितो जलेन धौता हारा यासां ताः। यथा यामवत्यो रात्रयः संराजन्ते तारा एव वितानस्तेन तरलाः कचकचायमानाः ताश्च चक्राह्वानां भेदिकाः सङ्कुचितपद्माश्च भवन्ति॥56॥

संक्रान्तचन्दनरसाहितवर्णभेदं
विच्छिन्नभूषणमणिप्रकरांशुचित्रम्।
बद्धोर्मि नाकवनितापरिभुक्तमुक्तं
सिन्धोर्बभारसलिलं शयनीयलक्ष्मीम्॥8.57॥

सिन्धो सलिलं शयनीयस्य लक्ष्मीं प्रापत्। नाकवनिताभिरादौ परिभुक्तं सेवितं पश्चान्मुक्तम्। अत एव सङ्क्रान्तः सङ्गतो यच्चन्दनरसस्तेनाहितः कृतो वर्णभेदो यस्य। तथा विच्छिन्नैर्भूषणमणि प्रकरैरवकीर्णं तथा बद्धा ऊर्मयो यस्य तत्। शयनमप्येवंविधं भवतीति भद्रम्॥57॥

इति श्री जोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायामष्टमः सर्गः॥

---

33. उत्सर्पितो.
34. तीरदेशम्
35. तीरान्तराणि

॥नवमः सर्गः॥

वीक्ष्य रन्तुमनसः सुरनारीरात्तचित्रपरिधानविभूषाः।
तत्प्रियप्रार्थमिव यातुमथास्तं भानुमानुपपयोधि ललम्बे॥9.01॥

अथ भानुमानादित्य उपपयोधि पश्चिमसमुद्रसमीपे ललम्बे लम्बमानोऽभूत। किं कर्तुमस्तमदर्शनं यातुम्। कालवशात्संपत्स्यमानेऽस्तगमने हेत्वन्तरमुत्प्रेक्ष्यते तत् प्रियार्थमिव तासां सुरस्त्रीणां प्रियार्थं प्रियं कर्तुमिव। सूर्यास्त समये न तासां प्रियं कथं भवतीत्याह सुरनारीरन्तुमनसो रमणैषिणीर्वीक्ष्य बुद्धवा। तासां सम्भोगेच्छा बुद्ध्वेत्याह आत्तां: परिहिताश्चित्रा:। परिधानविभूषा वसनभूषणानि याभिस्ता:। भोगोचितानि वस्त्राभरणानि बिभ्रतीर्दृष्ट्वा सुरतोत्सुका: स्त्रीर्लक्षयित्वा तद्धितार्थमिवार्कोऽस्ताद्रिमगादित्यर्थ:। प्रदोशसमये सम्भोगसाधनत्वात्॥01॥

मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ।
द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम्॥9.02॥

द्यौर्नभो वासरलक्ष्मीं दिनश्रियं परिवृत्यावसानेन विलोलां चलामुवाह। कदा भानावेकतोऽस्ताद्रिसंमुखं च्युतिमुपेयुषि। लम्बमाने सति मध्यमेखलस्य मध्यरत्नस्य निभे। यथा काचित् परिवृत्या तिर्यग्विक्षणादि जनितया विलोलं हारलतां वहति। हारलतायाश्च मध्यरत्नं नायक एकतो लम्बमानं भवति॥02॥

अंशुपाणिभि'रवीत पिपास: पद्मजं मधु भृशं रसयित्वा।
क्षीबतामिव गत: क्षितिमेष्यँल्लोहितं वपुरुवाह पतङ्ग:॥9.03॥

पतङ्ग: सूर्य: क्षतिमेष्यन्नस्तं गमिष्यन्वपुर्मण्डलं लोहितं रक्तमुवाह। अत उत्प्रेक्ष्यतेदऽक्षीबतामिव गत:। क्षबवत्वे हेतुमाह अंशव एव पाणयस्तै: करणभूतै: पद्मजं मधु मकरन्दं रमयित्वाऽऽस्वाद्य अवीता अनिवृत्तां पिपासा यस्यैवंविध: सन्। यद्वा निवृत्तिपिपासो भूत्वा मध्वञ्जलिभि: पिबति स क्षीब: सन् भूमौ स्खलन्नरुणमङ्गं वहति॥03॥

---

1. अतीव

गम्यतामुपगते नयनानां लोहितायति सहस्रमरीचौ।
आससाद विरहय्य धरित्रीं चक्रवाकहृदयान्यभितापः ॥9.04॥

धरित्रीं भूमिं विरहय्य त्यक्त्वाऽभितापः चक्रवाकहृदयानि प्रापत्। कदा सहस्रमरीचौ सूर्ये नयनानां गम्यतां वीक्षण्योग्यत्वमुपगते सति। यतो लोहितायति पाटलीभवति। सूर्येऽस्तं गच्छति भूमेस्तापो व्यपेतः चक्रवाकचेतस्सु प्राप्त इत्यर्थः। लोहितादिभ्यः क्यप् ॥04॥

मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्वः पश्चिमे नभसि सम्भृतसान्द्रः।
सामिमज्जति रवौ न विरेजे खिन्नजिह्म इव रश्मिसमूहः ॥9.05॥

रवौ सामि किंचिन्मज्जति सति तदीयो रश्मिसमूहो न विरेजे। कीदृक् मुक्तं मूलमुदयाद्रिर्येन। अतो लघु तथोज्झिता त्यक्ता पूर्वा दिग्येन। अतः पश्चिमे नभसि संभृतो राशीभूतः सान्द्रो घनः। अत उत्प्रेक्ष्यते खिन्नो जिह्मः सङ्कुचित इव अन्यश्च भृत्यादिः स्वामिनि विपत्प्रतिते न शोभते ॥05॥

कान्तदूत्य इव कुंकुमताम्राः सायमण्डलमभित्वरयन्त्यः।
सादरं ददृशिरे वनिताभिः सौधजालपतिता रविभासः ॥9.06॥

वनिताभिः सूर्यरीप्तयः सादरं ददृशिरे वीक्षिताः। दिनान्तसूचकत्वादिति भावः। तदेव विशेषणेन व्यनक्ति। कुङ्कुमवत्ताम्राः सौधजालैर्धवलगृहजालकैः पतिताः। अत एव साये दिनान्ते यन्मण्डनं रात्र्युचिभूषणमभित उद्दिश्य त्वरयन्त्यः कान्तदूत्यो वनिताभिदृष्टास्ताश्च कुङ्कुमेन ताम्राः रात्रिभूषणार्थं त्वरां कारयन्त्यः। सौधजालैश्च पतिताः राजपथेन जारदूतीनां सुपथा भावात् ॥06॥

अग्रसानुषु नितान्तपिशङ्गैर्भूधरान्मृदुकरैरवलम्ब्य।
अस्तशैल[2]गहनानि विवस्वानाविवेश जलधिं नु महीं नु ॥9.07॥

विवस्वानस्तशैलस्य गहनानि प्रविष्टः, समुद्रं न प्रविष्टः, भूमिं न प्रविष्टः। किं कृत्वा मृदु कृत्वा। भूधरान् पर्वतानवलम्ब्य। कैः करैः। केषु अग्रसानुषु। नितान्तं पिशङ्गैः कडारैः दिवसावमानादिति भावः। अद्रिशिखरेषु क्षणं दृष्टातपे ततो दृश्यत्वाभावात्। समुद्रादिप्रवेशरूपस्संशयः सूर्ये कृतः। यश्चान्यः कूपादिनिम्नमवरोहति। स किं चिच्छनैरालम्बते करश्च रक्तो भवति ॥07॥

आकुलश्चपतत्रिकुलानामारवैरनुदितौषसरागः।
आययावहरिदश्वविषाण्डुस्तुल्यतां दिनमुखेन दिनान्तः ॥9.08॥

---

2. गहनं नु

दिनान्तक्षणे दिनमुखेन प्रभातो न सादृश्यं प्रापत्। चलानां पतत्रिकुलानां पक्षिवर्गाणामारवैराकुलः अनुचितोऽनुत्पन्न औषसः सन्ध्याकृतो रागो यत्र। तथा विद्यमानो हरिदश्वः सूर्यो यत्राऽत एव विपाण्डुः। प्रभातक्षणेऽपि निवासवृक्षाद् गमनोन्मुखाः पक्षिणो भवन्ति। सन्ध्यारागश्च व्यक्तो न भवति। अनुदितार्कत्वात्पाण्डुश्च भवति ॥08॥

आस्थितः स्थगितवारिदपङ्क्त्या सन्ध्यया गगनपश्चिमभागः।
सोर्मिविद्रुमवितानविभासा रञ्जितस्य जलधेः श्रियमूहे॥9.09॥

गगनस्य पश्चिमभागो जलधेः श्रियमूहे समुद्रशोभां प्रापत्। स्थगिताच्छादिता वारिदपङ्क्तिर्मेघमाला यया तया सन्ध्यया आस्थित आश्रितः। सोर्मि सकलामूर्मुषु विद्रुमसमूहस्य विभासा दीप्त्या रञ्जितस्य लहरयो मेघानां विद्रुमाणां च सन्ध्या सदृशी। अव्ययं विभक्तीत्यव्ययीभावः ॥09॥

प्राञ्जलावपि जने नतमूर्ध्नि प्रेम तत्प्रवणचेतसि हित्वा।
सन्ध्ययानुविदधे विरमन्त्या चापलेन सुजनेतरमैत्री॥9.10॥

सन्ध्यया सुजनेतरेषां दुर्जनानां मैत्री अनुविदधे विडम्बिता चापलेन चपलत्वेन। तदेव चापलं दर्शयति। कीदृश्या विरमन्त्याऽवसानं यान्त्या। किं कृत्वा तस्यां सन्ध्यायां प्रवणमवहितं चेतो यस्याऽतः प्रबद्धाञ्जलावपि जने विषये प्रेम प्रीतिं त्यक्त्वा। खलश्च विनीते सेवापरे च प्रेमाणं क्षणेन त्यजति ॥10॥

औषसातपभयादपलीनं वासरच्छविविरामपटीयः।
सन्निपत्य शनकैरिव[3] निम्नादन्धकारमुदवाप समानि॥9.11॥

निम्नाद् गर्तादेरिवान्धकारं समानि प्रापत्। किं कृत्वा सन्निपत्य समूह्य निम्नेषु केन हेतुनासीदित्याह औषसः प्राभातिको य आतपः प्रकाशस्तभ्यदयादपलीनं स्वात्मगोपनार्थं पलायितम्। अनन्तरं वासरच्छवेर्दिवश्रियो विरामेण पटीयो लब्धसामर्थ्यम्। चौरादिश्च सकलं दिनं भयादपलीयमानो दिवावसाने प्राप्तबलो निम्नाद् गुहादेरुत्थाय समस्थलान्यायच्छति ॥11॥

एकतामिव गतस्य विवेकः कस्यचिन्न महतोऽप्युपलेभे।
भास्वता निदधिरे भुवनानामात्मनीव पतितने विशेषाः॥9.12॥

महतोऽपि महापरिणाहस्यापि कस्यचित् पर्वतादेर्विवेकः पृथग्भावः केनापि नोपलेभे। तमस उदयात्पर्वतादयो न दृष्टा इत्यर्थः। अत उत्प्रेक्ष्यते एकतामैक्यमिव गतस्य लोष्टादिना

3. अथ

सहैक्यमिव गतस्येत्यर्थः। एतमेवार्थं द्वितीयार्धेन भङ्ग्या प्रतिपादयति समुद्रादौ पतितेन मग्नेन भास्वता भुवनानां विशेषा घटोऽयं पटोऽयमित्येवंरूपा द्यौरियं भूरियमित्येवं-रूपावात्मनीव निदधिरे निहिताः। आदित्येनैव सह समुद्रे भुवनविशेषा मग्ना इवेत्यर्थः ॥12॥

इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम्।
आपुरेव मिथुनानि वियोगं लङ्घ्यते न खलु कालनियोगः॥9.13॥

यामिन्यां रात्रौ विरहयन्ति विश्लिष्यन्ति ये तेषां विहगानां पक्षिणां चक्रवाकानां मिथुनानि द्वन्द्वानि वियोगं विश्लेषं प्रापुरेव। कदाचित्तेषामनिष्टो न स्यादित्याह वधूभिश्चक्रवाकीभिः सहाभेदं वियोगाभावमिच्छताम्। तत्कथं वियोगस्तैः प्राप्त इत्याह काले निशादौ नियोगो विरहप्राप्तिलक्षणेन खलु लङ्घ्यते। यद्वा कालस्य नियोगो मर्यादा तामुल्लङ्घयितुं कश्चिन्न समर्थ इत्यर्थः ॥9.13॥

यच्छति प्रतिमुखं दयितायै वाचमन्तिकगतेऽपि 'शकुन्ते।
नीयते स्म नतिमुज्झीतहर्षं पङ्कजं मुखमिवाम्बुरुहिण्या॥9.14॥

अम्बुरुहिण्या पद्मिन्या मुखमिव मुखसमं पद्मं नतिं नीयते स्म नासितम्। उज्झितहर्षं त्यक्तविकासम्। कदा शकुन्ते पक्षिविशेषे चक्रवाके प्रतिमुखमन्तिकगतेऽपि सम्मुखं समीपस्थितेऽपि दयितायै चक्रवाक्यै वाचं यच्छति आह्वयति सति। अयं भावः तदैवार्काशा पद्मिन्याव्यपेतेति। अथवा मां त्यक्त्वा प्रियः सूर्यो गतः, एतांत्वहो कथं प्रियोऽन्विष्यतीति लज्जावशात् पद्ममुखं पद्मिन्या नासितम् ॥14॥

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु।
पूरिता नु विषमेषु धरित्रीं संहता नु ककुभस्तिमिरेण॥9.15॥

तिमिरेण कर्त्रा तरुशैला नु रञ्जिताः रागो द्रुमादीनां दत्तः स्वित्। तरवः पूर्वं विविधा नानावर्णा आसन्निदानीं श्यामैकवर्णा जाता। अतो वितर्कोऽयम्। तिमिरेण गगनं नामितं नु अवरोहितं स्वित्। दूरमाकाशदर्शनाभावाद्वितर्कोऽयम्। स्थगितं नु च्छादितं स्वित्। अदृश्यत्वाद्वितर्कः। विषमेषु कूपादिषु पूरिता भूमिस्तिमिरेण स्वित्। तिमिरेण ककुभे दिशः संहतानि शीर्णाः स्वित् विभागाभावाद्वितर्कः ॥15॥

'रात्रिरागमलिनानि विकासं पङ्कजानि रहयन्ति विहाय।
स्पष्टतारकमियाय नभः श्रीर्वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः॥9.16॥

श्रीर्लक्ष्मीर्नभो व्योमेयाय प्राप्ता। क्वासीदित्याह पङ्कजानि पद्मानि विहाय त्यक्त्वा।

4. शकुन्तौ

कुतः विकासं रहयन्ति त्यजन्ति। यतो रात्रिरागेण मलिनानि। रात्रेः स्त्रीलिङ्गत्वात् स्त्रीत्वेन रागशब्दस्याध्यवसानान्मालिन्योक्तोर्मनोहरत्वम्। कदाचिन्नभसो गुणा रम्या न स्युरित्याह - स्पष्टास्तारका यत्र। युक्तमेतत् निरापदि विपद्वर्जिते वस्तुं वसतिं कर्तुं सर्वो महानितरो वा काङ्क्षति। पद्मानि चापत्सहितानि। नभश्च संपत्सहितम्॥16॥

व्यानशे शशधरेण विमुक्तः केतकीकुसुमकेसरपाण्डुः।
चूर्णमुष्टिरिव [5]लम्बितकान्तिर्वासवस्य दिशमंशुसमूहः॥9.17॥

शशधरेण चन्द्रेण विमुक्त अंशूनां समूहो वासवस्यदिशं पूर्वां दिशं व्यनशे व्याप। कीदृक् लम्बिता प्रापिता कान्तिर्येन तिमिरनाशात्। यतः केतकीकुसुमानां केसरवत्पाण्डुः केतककेसरपाण्डुः। यथा चूर्णमुष्टिः कांचिद् व्याश्नुते नायकेनोत्सृष्टा जनितकान्तिश्च॥17॥

उज्झती शुचमिवाशु तमिस्त्रामन्तिकं व्रजति तारकराजे।
दिक्प्रसादगुणमण्डनमूहे रश्मिहासविशदं मुखमैन्द्री॥9.18॥

ऐन्द्री दिक् पूर्वाशा मुखं प्रसादगुणो मण्डनं भूषणं यस्य तदूहेऽधारयत्। कीदृक् शुचमिव शोकसमां तमिस्त्रां त्यजन्ती। कदा तारकराजे चन्द्रेऽन्तिकं व्रजति समीपं प्राप्ते अंशव एव हासास्तेन विशदम्। अन्यथा च कान्ते निकटमागते प्रसन्नं सहासं च मुखं वहति।॥18॥

नीलनीरजनिभे हिमगौरं शैलेरुद्धवपुषः सितरश्मेः।
खे रराज निपतत्करजालं वारिधेः पयसि गाङ्गमिवाम्भः॥9.19॥

निलोत्पलसमे खे व्योम्नि नितपच्चन्द्रस्य रश्मिजालं रराज। हिमवद्गौर शैलेन रुद्धमनुदितं वपुर्बिम्बं यस्यः। यथा वारिधेः समुद्रस्य पयसि निपतद्गाङ्गमम्भो राजति, अब्धिश्च नीलः॥19॥

द्यां निरुन्ध[6]दभिनीलघननाभं ध्वान्तमुद्यतकरेण पुरस्तात्।
क्षिप्यमाणमसितेतरभासा शम्भुनेव [7]गजचर्म चकासे॥9.20॥

असितात्कृष्णादितराः शुभ्राभासो यस्य। तेन चन्द्रेण पुरस्तात् पूर्वदिशः क्षिप्यमाणं निरस्यमानं ध्वान्तमन्धकारं चकासे। कीदृशं द्यां व्योमनि रुद्धत् रुन्धानम्। तथाभिनीला घनदाभा यस्य तत्। उद्यताः करा रश्मयो येन। तथा तस्मिन्नेव काले नृत्तार्थमुद्यताः करा

---

5. लम्भित
6. अतिनील
7. करिचर्म

हस्ता येन तेन शम्भुना बाहुवलनसिद्धये पुरस्तादग्रात् क्षिव्यमाणं हस्तिचर्म चकासे। तच्च द्यां छादयत् नीलविडाभं च भवति ॥20॥

अन्तिकान्तिकगतेन्दुविसृष्टे जिह्मतां जहति दीधितिजाले।
निःसृतस्तिमिरभारनिरोधा[8]न्निःश्वसन्निव रराज दिगन्तः ॥9.21॥

तिमिरस्य भारः स एव वा भारस्तेन निरोधान्निःसृतो निर्मुक्तो दिगन्तः पूर्वदिग्भाग उच्छ्वसन्निव रराज। कदाऽन्तिकात्पूर्व दिगन्तनिकटादन्तिकगतेनोद्गतेनेन्दुना विसृष्टे रश्मिसमूहे जिह्मतां जहति समग्रोदित इत्यर्थः। यश्चान्यदत्ते भुवाष्टम्भादौ भारान्मुच्यते स उच्छ्वसन्वायुं जहाति ॥21॥

लेखया विमलविद्रुमभासा सन्ततं तिमिरमिन्दुरुदासे।
दंष्ट्रया कनक[9]भङ्गपिशङ्ग्या मण्डलं भुव इवादिवराहः ॥9.22॥

इन्दुघनं तिमिरं लेखया करणभूतयोदासे च्चिक्षेप विमला विद्रुमसमा उदयरागेणारुणाभा यस्य। या दिवराहो भूमेर्मण्डलं दंष्ट्रयोदामे उच्चिक्षेप उत्क्षिप्तवान्। कनकभङ्गवत्पिशङ्ग्या। लेखया दंष्ट्रा तमसो भूमण्डलं चन्द्रस्यादिवराह उपमानम् ॥22॥

दीपयन्नथ नभः किरणौघैः कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः।
हेमकुम्भ इव पूर्वपयोदेरुन्मज्ज शनैकस्तुहिनांशुः ॥9.23॥

तुहिनांशुश्चन्द्रः पूर्वसमुद्राच्छनकैः क्रमेणोत्थितः किरणगणैराकाशं प्रकाशयन् कुङ्कुमेनारुणो यः पयोधरः पूर्वाशासम्बन्धी स्तनः स इव गौरः। अतोत्प्रेक्ष्यते हेमकुम्भ इव। स च पयोधेरुन्मज्जति सदा कुङ्कुमेनारुणं पयो धारयति। सुवर्णघटस्य पवित्रत्वेन देवानां वल्लभ्यात् ॥23॥

उद्गतेन्दुमविभिन्नतमिस्त्रां पश्यति स्म रजनीमवितृप्तः।
व्यंशुकस्फुटमुखी[10]मभिजिह्मां व्रीडया नववधूमिव लोकः ॥9.24॥

लोकोऽवितृप्तोऽतृप्ततया रजनीमपश्यत्। कौतुकवशादिति भावः। कौतुके हेतुमाह उद्गतेन्दुमुदितचन्द्राम्। न स्वल्पं विभिन्नं तमिस्रं यस्यास्ताम्। तथा विगतांशुकत्वात् प्रकटमुखीं लज्जयाऽभिजिह्मां तिरश्चिनां नवां वधूं लोकः पश्यति। चन्द्रस्य मुखं मुखाच्छादनवस्त्रस्य गलितस्य किंचिद् गलितं तिमिरमुपमानम्। रात्रिश्चाभिजिह्म पुरस्ताद्रश्मिभिस्तिमिरवारणात्तिरश्चीना ॥24॥

---

8. उच्छ्वसन्
9. टङ्क
10. अतिजिह्माम्

न प्रसादमुचितं गमिता द्यौर्नोद्धृतं तिमिरमद्रि[11]गुहाभ्यः।
दिङ्मुखेषु न च धाम विकीर्णं भूषिता [12]च रजनी हिमभासा ॥9.25॥

हिमभाशा किंचिदुदयवशाद् द्यौरुचितां युक्तं प्रसादं प्रसन्नभावं न गमिता न प्रापिता। अत एव पर्वतगहनेभ्योऽन्धकारं नोद्धृतम्। उद्धारणोक्त्या तमसः शल्यायमानता प्रतिपादनम्। तथा चन्द्रेण दिग्जयेषु तेजो न च यद्यपि विस्तारितं तथापि रात्रिर्भूषिता। कलामात्रेणैव रात्रेः भूषणसिद्धिः ॥25॥

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषा[13]नभिगृह्णन्।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः ॥9.26॥

शीता मयूखा यस्य स चन्द्रो मन्दमन्दं प्रथमं कला ततोऽर्धं ततो भागत्रयमित्येवं रूपेण क्रमेण खं प्रययावगमत्। अत उत्प्रेक्ष्यते भीतभीतोऽतिभीत इव कुतो भयमित्याह विरहे तापवशादुष्णेन तप्तेन बाष्पेण। कलुषान्मानिनीजनसम्बन्धिनो विलोचनपाताननुगृह्णन्। शीतस्योष्णाभ्दीतिरुचिता। मानिनीषु विरहसोकाद्बाष्पं स्रवन्तीषु विक्ष्यमाणासु सतीषु भीतैरिव मन्दमन्दमिन्दुरुदगात्। स्वाभाविकस्य शनैरुदयस्य भीतिर्हेत्वन्तरमुत्प्रक्षितम् ॥26॥

श्लिष्यतः प्रियवधूरुपकण्ठं तारकास्ततकरस्य हिमांशोः।
उद्गमन्नभिरराज समन्तादङ्गराग इव लोहितरागः ॥9.27॥

लोहितो नवोदयकृतोभिरराज। अत्र हेतुरुद्गसन् शिथिलीभवन्। शैथिल्ये हेतुमाह ततः कराः किरणा येना तथाविधस्य तारा आलिङ्गतः। अतः सितेषु रश्मिषु सरत्सु अल्पीभवन्नुदयरागः। शुशुभे र्वणान्तरसन्निधाने वर्णस्य शोभोत्कर्षात्। अन्योऽपि तरुणः प्रसारितहस्तः कण्ठसमीपे प्रिया वधूः श्लिष्यति। तस्याङ्गरागः शिथिलीभवति ॥27॥

प्रेरितः शशधरेण करौघः संहता[14]न्यपनुनोद तमांसि।
क्षीरसिन्धुरिव मन्दरभिन्नः काननान्यविरलोच्चतरूणि ॥9.28॥

शशधरेण चन्द्रेण प्रेरितः क्षिप्तः करौघः संहतानि निविडानि तपांस्यपनुनोद प्रेरितवान्। यथा मन्दरेण भिन्नो द्विधाकृतः क्षीरसमुद्रः काननान्यविरला घना उच्चास्तरवो येषु तान्यपनुन्नवान् चन्द्रस्य मन्दरो रश्मिजालस्य क्षीरसमुद्रस्तमसां काननान्युपमानम् ॥28॥

---

11. वनभ्यः
12. एव
13. प्रतिगृह्णन्
14. अपि

शारतां गमितया शशिपादैश्छायया विटपिनां प्रतिपेदे।
न्यस्तशुक्लबलिचित्रतलाभिस्तुल्यता वसति वेश्ममहीभिः ॥9.29॥

विटपिनां वृक्षाणां च्छायया कर्त्र्या वसत ये वेश्मनि तेषां महीभिरङ्गनैस्तुल्यता सम्यं प्रतिपेदे प्राप्तम्। तदेव साम्यं साधयितुम् विशिनष्टि। शशिनः पादैः रश्मिभिः शारतां सितासितत्त्वं गमितया प्रापितया न्यस्तः शुक्लो यो बलिर्गृहदेवतापूजोपकारणं तेन चित्रं शारं तलं येषां ताभिः ॥29॥

आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम् ॥9.30॥

यामिन्यां रात्रौ विरहिणा विहगेन पक्षिणा चक्रवाकेन हिमरश्मेरपि किरणा न सेहिरे न सोढाः। धैर्याभ्रमित्यर्थः। कदाचितस्य सस्वभावः स्यादित्याह आतपे धृतिमता धैर्यभाजा। यस्येन्दुरश्मिभिर्दुरवस्थाः स सूर्यातपे कथं धृतिमानित्याह वध्वा चक्रवाक्या समं स्थितेः। न वा चित्रमेतत्। दुःखिते सञ्जातदुःखे चित्ते सर्वं सुरवावहमप्यसह्यम्। अत्रेन्दुः सुखावहः चक्रनाम्नोः दुःखितत्वं रात्रौ विरहात् ॥30॥

गन्धमुद्धतरजः कणवाही विक्षिपन्विकसतां कुमुदानाम्।
आदुधाव परिलीनविहङ्गा यामिनीमरुदपां वनराजीः ॥9.31॥

यामिनीं मरुद्रात्रिवायुर्वनपक्षीरादुधाव अकम्पयत्। उद्धतमुद्धृतं रजः किञ्जल्को यत्रैवं कृत्वा कुमुदानां गन्धं विक्षिपत् विकिरन्। तथाऽपांसस्विनः कणान्वोढाः परिलीनाः सुखवशात्स्वपन्तो विहङ्गा यामुतः ॥31॥

संविधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः।
यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः ॥9.32॥

यामिनी एव वनिता। तया वनितयेन्दुश्चन्द्रो रजतमयः कुम्भ इवोदासे उक्षिप्तः। किं कर्तुं मन्मथस्य राज्याभिषेकं संविधातुं कर्तुम्। अंशवा एव जलौघोऽलसदन्यत्र सः। ततं चन्द्रस्य पूर्णत्वात् पृथुलं चिह्नं कलङ्को यस्य। रजतकुम्भः कीदृशः सोत्पलः। चन्द्रोऽभ्युदिते सति कामः साम्राज्यं प्रापदित्यर्थः ॥32॥

[15]तेजसापि खलु नूनमनूनं [16]सत्सहायमुपयाति जयश्रीः।
यद्विभुः शशिमयूखसखः सन्नाददे विजयि चापमनङ्गः ॥9.33॥

---

15. ओजसा
16. नासहायम्

तेजसाऽनूनं महातेजसमपि पुरुषं सत्सहायं सन्तं जयलक्ष्मीराश्रियते। अत्रोदाहरणम् विभुः समर्थोऽपि कामः शशिमयूखानां सखा सश्चापमग्रहीत्। विजयि विजयशंसिलं यदैव चन्द्रोऽभ्युदितस्तदैव कार्यसिद्धिं ज्ञात्वा कामो धनुरग्रहीत् ॥33॥

सद्मनां विरचनाहितशोभैरागतप्रियकथैरपि दूत्यम्।
सन्निकृष्टरतिभिः सुरदारैर्भूषितैरपि विभूषणमीषे ॥9.34॥

सन्निकृष्टा अदूरवर्तिनी गतिः सुरतक्रीडा येषां तथा भूतैः सभ्दिः सुरदारैरप्सरोभिः सद्मनां लीलागृहाणामाहितशोभैः कृतविरचनैरपि सद्मनां विरचना चित्रादिलेखनमीषे काङ्क्षितम्। आगता प्रियसम्बन्धिनी। कया आगमनमज्जता येषां तैरपि दूत्यां तत्सम्बन्धि वा दूतकृत्यमीषे। भूषितैः कृतभूषणैरपि विभूषणं काङ्क्षितम्। सुरतातितृष्णालुत्वादिति भावः ॥34॥

न स्रजो रुरुचिरे रमणीभ्यश्चन्दनानि विरहे मदिरा वा।
साधनेषु हि रतेरुपधत्ते रम्यतां प्रियसमागम एव ॥9.35॥

स्रजे मालाचन्दनानि मदिरा वा, एते पदार्थाः स्त्रीभ्यो न रुरुचिर मनोहराण्यपि मनो नाहरन्। कदा विरहे। युक्तमेतत् साधनेषु रति। साधनविषये रम्यतां प्रियसङ्गम एव करोति। प्रियसङ्गतानामेव स्त्रीणां मालाश्चन्दनादयो मनोहरन्तीत्यर्थः ॥35॥

प्रस्थिताभिरधिनाथनिवासं ध्वंसितप्रियसखीवचनाभिः।
मानिनीभिरपहस्तितधैर्यः सादयन्नपि मदोऽवललम्बे ॥9.36॥

मानिनीभिर्मदसादयन् गौरवहानिं जनयन्नप्यवललम्बे कार्यसाधनार्थमालम्बः कृतः। किं कार्यं साधनीयं तासामित्याह अधिनाथनिवासं प्रस्थिताभिः अस्माभिः प्रियगृहं गन्तव्यम् तत्र यदि मदं विना गम्यते तदास्मांल्लो निन्दतीति मद एव मानिनीभिः प्रियसमीपगमनार्थमुपायः कृतः। अत एव शंसितमवगणितं प्रियसखीनां वचनं मद्यपानरूपां याभिः। यद्वा पूर्वं ध्वंसितं लङ्घितं प्रियसखीनां वचनं मानत्यागरूपां याभिः, अपहस्तितं प्रतिक्षिप्तं धैर्यं मानो येन। पूर्वं यदाभिमद्यं पीतं तदा मानो नश्येदतस्ताभिर्मद्यमेव पीतमित्यर्थः ॥36॥

कान्तवेश्म बहु सन्दिशतीभिर्यातमेव रतये रमणीभिः।
मन्मथेन परिलुप्तमतीनां प्रायशः स्खलितमप्युपकारि ॥9.37॥

मन्मथेन परिलुप्तमतीनां प्रायशः स्खलितमप्युपकारि। बह्वत्यर्थं स्वगौरवरक्षार्थं दूतीनां सन्दिशतीभिः। एवं वा प्रियस्त्वया वाच्य इत्युपदिशतीभिः स्त्रीभिः सुरतार्थं कान्तगेहमेव गतम्। कामेन मोहितधियां यत्स्खलितमारब्धादुपायान्तरमेव न तत्प्रायशो

बाहुल्येनोपकारि प्रियो यथाऽस्मस्तमीपमागच्छति तथा। दूतीनां स्त्रीभिः प्रथमं सन्दिष्टं अनन्तरं स्वयमेव ताः प्रियगेहं गता इति स्खलितेनापिताभिः सुखं प्राप्तमित्यर्थः ॥37 ॥

आशु कान्तमभिसारिवत्या योषितः पुलकरुद्धकपोलम्।
निर्जिगाय मुखमिन्दुमखण्डं खण्डपत्रतिलकाकृति कान्त्या ॥9.38 ॥

सुखं कर्तृ आखण्डं सम्पूर्णं इन्दुं निर्जिगाय। निर्जये हेतुः पुलकेन कृद्धः कपोलो यस्य त एव पुलकोद्गमात्खण्डा खण्डिता पत्रतिलकस्याकृतिः सन्निवेशो यत्र तत्। पुलके हेतुमाह कान्तमभिसारिवत्या गच्छन्त्याः। व्यपेतपत्रतिलकं सन्मुखं पूर्णत्वात्सकलङ्कं चन्द्रमजैषीदित्यर्थः ॥38 ॥

उच्यता स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥9.39 ॥
किं गतेन न हि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुभगमानिनि मानः।
योषितामिति कथासु समेतैः कामिभिर्बहुरसा धृतिरूहे ॥9.40 ॥

इत्येवं प्रकारासु योषितां कथासु सतीषु समेतैः स्वयमेव कान्तासमीपमागतैः कामिभिर्बहुरसा बहुशृङ्गाररसा धृतिर्धैर्यमूहे प्राप्ता। तमेव प्रकारमाह काचित्कान्तां प्रति विसृज्यमानां सखीमेवं सन्दिशति मत्प्रियो समापराधकारः। सर्वं दोशं त्वया वाच्यः। सख्येवं प्रति कथयति हे सखि परुषतापराधोदीरणमीश्वरे प्राणनाथविषये न साध्वी नोपपन्ना। पुनः कान्ता कथयति प्राणेशे पारुषं यदि न युक्तं तदैनं मत्प्रियमनुनीयसान्त्वयित्वा आनय। सख्याह विप्रियाण्यपराधान्कुर्वन्स कथमिव मयानुनेयः। यद्वा त्वयैनमनुनीयेति सखीवाक्। कान्ताह आगस्कारः कथमिवानुनेयः। नायिकाह तर्हि गतेन तन्निकटगमनेन किम् त्वया न गन्तव्यमित्यर्थः। सख्याह उपैतुं न हि युक्तं काकुस्वरप्रयोगाद्गमनमुचितमेव। यद्वा न हि युक्तमुपैतुमिति नायिकाया एव वचनं सुभगमात्मानं मन्यमाने प्रिये मानः कः। यद्यपि नायिकया प्रियसमीपगमननिषेधः कृतः। तथापि कामिभिस्तच्छ्रुत्वा धृतिः प्राप्ता। सखीवचनानुरोधेनैव प्रियसमीपगमननिषेधस्य श्रवणात् ॥39, 40 ॥ **युग्मम्** ॥

योषितः पुलकरोधि दधत्या धर्मवारि नवसङ्गमजन्म।
कान्तवक्षसि बभूव [17]भवन्ती [18]भूषणं लुलित[19]भूषणतैव ॥9.41 ॥

लुलितं गलितं मण्डनमङ्गरागादि यस्य तभ्दाव एव योषितो भूषणं बभूव।

---

17. पतन्त्या
18. मण्डनम्
19. मण्डन

भूषणाभावोभूषणं कथं भवतीत्याह कान्तवक्षसि भवन्ती सुरतसंमर्दनवशात्संन्नत्वेन सफलत्वात्। तत्र कथमङ्गरागो गलित इत्याह पुलकं रुणद्धि प्राप्नोति। तथा नवो यः प्रियसङ्गमस्तज्जातं धर्मजलं दधत्याः॥41॥

शीधुपानविधुरासु निगृह्णन् मानमाशु शिथिलीकृतलज्जः।
सङ्गतासु दयितैरुपलेभे कामिनीषु मदनो नु मदो नु॥9.42॥

सखीभिः कामिनीषु विषये मदनः स्विदुपलेभे, मदः स्विदुपलेभे निश्चितः। वितर्कबीजं द्वयोरपि कारणमाह दयितै सङ्गता स्वतो मदनवितर्कः। शीधूनां पानेन विधुरासु निःसंज्ञा अतो मदवितर्कः। कार्यसाधारणतामाह मानं निगृह्णनिवारयन्। तथा शिथिलीकृता लज्जा येन सः। अतः कारणद्वयदर्शनात् समानकार्यदर्शनाच्च वितर्कः॥42॥

द्वारि चक्षुरधिपाणि [20]कपोलं जीवितं त्वयि कुतः कलहोऽस्याः।
कामिनामिति वचः पुनरुक्तं प्रीतये नवनवत्वमियाय॥9.43॥

इत्येवं प्रकारं वचो दूतीभिः पुनः पुनरुक्तमपि कामिनीनां प्रीतये हर्षार्थं न पुनरनवबोधार्थं नवनवत्वमगात्। प्रथममेव हि प्रियवाक्यश्रवणेन यथा हर्षो जायते तथा बहुशो दूतीभ्यः श्रुतेनापि प्रियोत्कण्ठा निवेदनेन कामिनां हर्षो जायतेत्यर्थः। तमेव प्रकारमाह द्वारि,द्वारे विषये तस्याश्चक्षुः क्रीडाशुकादिस्पन्दमात्रेऽपि जाते मत्प्रिय आगत इति द्वारे एव दृष्टिं न्यस्यतीत्यर्थः। करतले गण्डः त्वद्ध्यानचिन्तनादिति भावः। तस्यास्त्वदधीनाः प्राणाः कलहः कुतस्तस्या। यद्वा मानिनीसम्बन्धिनीः सखीरागच्छन्तीरिति दृष्ट्या प्रियाविरहव्यथागमात्। पुनरुक्तमपि संपद्यमानं सखीवचनं यूनां हर्षार्थमतिनवमभूत्॥43॥

साचि लोचनयुगं नमयन्ती रुन्धती दयितवक्षसि पातम्।
सुभ्रुवो जनयति स्म विभूषां सङ्गता[21]वपरराध च लज्जा॥9.44॥

लज्जा सुभ्रुवो भूषां जनयति स्म। अपरराध चापराधं चाकरोत्। कदा सङ्गतो, प्रियस्य नवसङ्गमे। भूषा जनने हेतुमाह साचि तिर्यग्लोचनयुगं नमयन्ती। लज्जावशात्तिरश्चीनं प्रियं पश्यन्तीं रामां लज्जाभूषयत्। अपराधे हेतुमाह दयितवक्षसि पातं रुन्धन्ती निषेधयन्ती लज्जावशात् पुरुषायितप्रवृत्त्याभावेन स्त्रियो लज्जापराधमकार्षीत्॥44॥

सव्यलीकमवधीरितखिन्नं प्रस्थितं सपदि कोपपदेन।
योषितः सुहृदिव स्म रुणद्धि प्राणनाथ[22]मधिबाष्पनिपातः॥9.45॥

---

20. कपेलौ
21. उपरराम
22. अभिबाष्प

प्रियायाः सम्बन्धी अपि को यो बाष्पनिपातः स प्राणनाथं रुणद्धि स्म प्रस्थानान्न्यषेधयम्त्। गन्तुं कारणमाह सव्यलिकं सापराधम्। अवधीरितं कृतोपलम्भमत एव खिन्नमुद्विग्नम्। सपदि उपालम्भानन्तरमेव कोपपदेन रोषव्याजेन प्रस्थितम्। प्रस्थानसमये रुदतीं कान्तां दृष्ट्वा कश्चित्प्रस्थानान्निवृत्तः। अत एवोत्प्रेक्ष्यते सुहृदिव सुहृच्चाशयज्ञोऽनीप्सितात्कर्तुमारब्धादपि निवर्तयति। उपमा वेयम्। यथा सुहृद्रुणद्धि तथारुणदित्यर्थः॥45॥

शङ्किताय कृतबाष्पनिपातामीर्ष्यया विमुखितां दयिताय।
मानिनीमभिमुख[23]स्थितचित्तां शंसति स्म घनरोमविभेदः॥9.46॥

घनो निरन्तरो यो रोमविभेदो रोमाञ्चो मानिनीं प्रणयकुपितां रामामभिमुखं कान्तं प्रति संमुखं स्थितं चित्तं यस्यास्तामसूचयत्। अनुरागेणैव रोमाञ्चोत्थानात्। कस्मै दयिताय शङ्किताय शङ्क्यते स्म शङ्कितः। अयं मत्सपत्न्या रमतेति शङ्कितः। तद्यया पराङ्मुखीकृतो बाष्पनिपातो यया तामं ददतीम्। कुपितामपि सरोमाञ्चां कान्तां दृष्ट्वा कान्तः प्रेममयीमेवाज्ञासीत् इत्यर्थः। यद्वा शङ्कते स्मेति कर्तरि क्तः॥46॥

लोलदृष्टि वदनं दयिताया श्चुम्बति प्रियतमे रभसेन।
व्रीडया सह विनीवि नितम्बादंशुकं शिथिलतामुपपेदे॥9.47॥

अंशुकमधरवासो व्रीडया सह विनीवि नितम्बाच्छिथिलतां शिथिलत्वमभिपेदे प्राप्तम्। कदा रभसेनोत्कण्ठया प्रियतमे वदनं चुम्बति। कीदृग्लोला दृष्टिर्यस्य तत्। या स्वित्कश्चिदद्राक्षीदिति दृशोर्लोलत्वम्। यद्वा प्रियदर्शनलोभाद्गलितोच्चयबद्धम्। चुम्बनमात्रेण पुलकोद्गमादुच्चयबन्धश्छिन्नस्त्रपापि तदा नष्टैव। ततः सुरतरसानुगुणाश्चेष्टाः कान्ताऽरचयदित्यर्थः॥47॥

ह्रीतया गलितनीवि निरस्यन्नन्तरीयमवलम्बितकाञ्चि।
मण्डलीकृतपृथुस्तनभारं सस्वजे दयितया हृदयेशः॥9.48॥

दयितया हृदयेशः श्रियः सस्वजे आलिङ्गितः। कथं मण्डलीकृतश्चक्रीकृतः पृथुः स्तनभारो यत्रैवम्। प्रियस्पर्शवशाच्छिन्नोच्चयमनन्तरमवलम्बिता आश्लिष्टा काञ्ची रशना येन तत्। अन्तरीयमधराम्बरं निरस्यन्निवारयन्। प्रियस्त्रपानिवृत्त्यर्थं कान्तयालिङ्गितः॥48॥

आदृता नखपदैः परिरम्भाच्चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः।
सौकुमार्यगुणसंभृतकीर्तिर्वाम एव सुरतेश्वपि कामः॥9.49॥

---

23. आहितचिताम्

न केवलं विरहेष्वेव कामो वामः प्रतिकूलः यावत्सुरतेष्वपि कामो वाम एव। तथा हि नखपदैर्नखक्षतैः परिरम्भा आलिङ्गनान्यादृताः। नखानां दन्तानां च निपातैश्चुम्बितानि परिचुम्बनान्यादृतानि निपातो गाढप्रहारः। आलिङ्गनचुम्बनानां नखदन्तक्षतैरनुयायित्वं कृतमिति प्रतिपादनार्थमादृता इत्युक्तम्। कदाचित्कामः कठोरेवेत्याह सौकुमार्यगुणेन हेतुना संभृता संचिता कीर्तिर्येन सः। यः कामः स वाम इति चित्रम्। यद्वा नखपदैर्नखक्षतैः घनदन्तनिपातैः सहेति योज्यम् ॥49॥

पातुमाहितरतीन्यभिलेषुस्तर्षयन्त्यपुनरुक्तरसानि।
सस्मितानि वदनानि वधूनां सोत्पलानि च मधूनि युवानः ॥9.50॥

युवानस्तरुणा वधूनां वदनानि मधूनि च पातुमभिलेषुः ईषुः, आहितोत्पादिता रतिः रमणं मुखं च यैः तानि। अत एव न पुनरुक्तः प्रतिचुम्बनं प्रतिचषकं च रसोभावः स्वादश्च येषु तानि नत एव तर्षयन्ति तृषमुत्पादयन्ति सस्मितानि सहासानि सोल्लासानि सोत्पलानि उत्पलसहितानि ॥50॥

पाणिपल्लवविधूननमन्तः सीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः।
योषितां रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य ॥9.51॥

पाणिपल्लवयोर्विधूननं नखदन्तक्षतावसरे कम्पनं तथान्तर्गूढं सीत्कृतानि रतिकूजितानि सुरतसुखेन नयनानामर्धं निमेषाः एतानि मदनस्य मानविषये स्त्रतां सारत्वं जग्मुः। गद्गदास्खलन्ती वाग्यासां योषिताम् ॥51॥

कुप्यताशु भवतानचित्ताः कोपिताँश्च वरिवस्यत यूनः।
इत्यनेक उपदेश इव स्म स्वाद्यते युवतिभिर्मधुवारः ॥9.52॥

युवतिभिरित्येवं प्रकारो नेको विचित्र उपदेश इव मधुवारः स्वाद्यते स्म। पीत इति प्रकारार्थः। तमेव प्रकारमाचष्टे यूयं कुप्यत प्रियान् प्रति मानं गृह्णीताशु सद्य एव यूयमानतं प्रीतिपरं चित्तं यासां ता भवत। तथा कोपितान्कुप्यतः कोपयुक्तान्यूनः प्रियान् वरिस्यत प्रसादयत अयं भावः। मधूनि पीतमात्रे सति ताः क्षणं कुपिताः क्षणं प्रसन्नाः क्षणं च प्रियप्रसादनपरा आसन्नित्यर्थः ॥52॥

भर्तृभिः प्रणयसंभ्रमदत्तां वारुणीमतिरसां रसयित्वा।
ह्रीविमोहविरहादुपलेभे पाटवं नु हृदयं नु वधूभिः ॥9.53॥

भर्तृभिर्वल्लभैः प्रणयेन प्रेम्णा हेतुना संभ्रमेण दत्तामत एवातिरसामतिस्वादुं वारुणीं सुरां रसयित्वा चर्वयित्वा जाताद्ध्रीविमोहविरहत्रपा मोहापगमाद्वधूभिः पाटवं पटुत्वं स्विद्धृदयं चित्तं स्विदुपलेभे लब्धम्। मधुपानेन त्रपावशात्कि प्रथममप्रगल्भाभिः प्रागल्भ्यं प्राप्तम्, उत प्रथममहृदयाभिर्हृदयमेव प्राप्तिमिति वितर्कः ॥53॥

स्वादित स्वयमथैधितमानं [24]लम्बित प्रियतमैः सह पीतः।
आसवः प्रतिपदं प्रमदानां नैकरूपरसतामिव भेजे ॥9.54॥

आसवः शीधुः प्रतिपदं प्रतिक्षणं नैकरूपोऽनेकरूपः बहुविधो रसो यस्य तभ्दावमिव भेजे प्रमदानां स्त्रीणाम्। कीदृशः स्वयं स्वादितः केवलतया चर्वितः तथैधितो वर्धितो मान आदरो यत्रैवं प्रियतमैर्लम्बितोऽर्पितः, ततः प्रियतमैः सह पीतः। प्रथममेकाकित्वेन यदा पीतस्तदा स्वादुः प्रियतमैर्यदा दत्तस्तदा स्वादतरः। सह यदा पीतस्तदामृतसम इति नानारसतामिव प्रत्यवस्थं शीधुः प्राप्त इत्यर्थः॥54॥

भ्रूविलाससुभगाननुकर्तुं विभ्रमानिव वधूनयनानाम्।
आददे मृदुविलोलपालाशैरुत्पलैश्चषकवीचिषु कम्पः ॥9.55॥

चषकानां मधुभाजनानां वीचिषूत्पलैः कम्प आददे गृहीतः। यतो मृदु मन्दं विलोलाः पलाशा दलानि येषां तैः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते वधूनयनानां सम्बन्धिनो विभ्रमाननुकर्तुं तुलयितुमिव भ्रूविलासेन सुभगान्। उत्पलेभ्यो वधूनेत्राणामेतावदेवाधिक्यं यद् भ्रूविलासवत्त्वम् तदा तु शीधुलहरिषु नीलोत्पलैः कम्पमानैस्तेषां तुला प्राप्तेत्यर्थः॥55॥

ओष्ठपल्लवविदंशरुचीनां हृद्यतामुपययौ रमणानाम्।
फुल्ललोचनविनीलसरोजैरङ्गनास्यचषकैर्मधुवारः ॥9.56॥

मधुवारो मधुपानपरम्परा हृद्यतां स्वादुत्वमुपययौ प्राप्तः। केषां रमणानां। कैरङ्गनास्यान्येव चषकास्तैः कान्तामुखान्मदिरारमणैः सरसं पीतेत्यर्थः। फुल्लानि लोचनान्येव विनीलसरोजानि नीलोत्पलानि येषां तैः। ओष्ठपल्लवस्य विदंशः दन्तखण्डनं तत्र रुचिर्येषाम्। तरुणानामधरपानेन रुचिरभूत् सा च कान्ताभिर्मुखमदिरायां दत्तायां सिद्धेति यूनां कान्तामुखान्मधुपानपरम्पराहृद्या जातेति भावः॥56॥

प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः।
तत्तथा हि दयिताननदत्तं व्यानशे मधु रसातिशयेन ॥9.57॥

गुणवता गुणशालिनापि गुणाना विशेषमाधिक्यमवश्यमाश्रयवशेन लभ्यते। गुणिनोऽप्याश्रयो यदि श्रेयांस्तदा गुणाधिक्यं जायते। तथा हि रसातिशयेन तन्मधु पूर्वपीता मदिरा व्यनशे व्याप्ता, दयितयाऽऽननेन दत्तं। प्रथमं यदेव मधु तरुणैः केवलतया पीतं तदेव। यदा स्त्रीभिर्मुखाद्दत्तं तदा रसान्तं तस्य जातमित्याश्रयगुणेन गुणाधिक्यमित्यर्थः। गुणवानत्रासवः आश्रयः स्त्रीमुखं गुणस्य रसस्य विशेषः॥57॥

---

24. लम्भित

वीक्ष्य रत्नचषकेष्वतिरिक्तां कान्तदन्तपदमण्डललक्ष्मीम्।
जज्ञिरे बहुमताः प्रमदानामोष्ठयावकनुदो मधुवाराः ॥9.58॥

औष्ठयावकमधरालक्तकं नुदन्ति ते मधुवाराः मधुपानपरम्पराः प्रमदानां बह्वत्यर्थं मता जज्ञिरे प्रमदाभिरत्यर्थं श्रद्दधिरे इत्यर्थः। बहुमाने हेतुमाह रत्नमयेषु चषकेषु प्रतिबिम्बितदन्तक्षतभूषणलक्ष्मीं दृष्ट्वा। यतोऽतिरिक्तामधिकामर्थाद्यावक कृतरागात्। सयावकेऽधरे वर्त्तमानानि दन्तक्षतानि रत्नचषकेषु प्रतिबिम्बितानि दृष्टानि न दृष्टानि यावकसमानवर्णत्वात्। बहुपानवशादलक्तके धौते तु प्रकटानि नखक्षतप्रतिबिम्बानि स्त्रीभिर्दृष्टानीति मधुपानेषु स्त्रीणां बहुमानः। मत इति बुद्ध्यादिना क्तः। क्तस्य च वर्तमानतेति। प्रमदानामिति कर्तरि षष्ठी तेन। क्षणमननयोरेककर्तृकत्वम् ॥58॥

कान्तसंगमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे।
मानिनीजन उपाहितसन्धौ सन्दधे धनुषि नेषुमनङ्गः ॥9.59॥

मानिनीजने स्वयमेवोपाहितः कृतः सन्धिः प्रियैः सह प्रीतिबन्धो येन तस्मिन् सति कामो धनुषि विषये इषुं शरं न सन्दधे नारोपयत्, सिद्धकार्यत्वात् कान्तसङ्गमेन हेतुना पराजितो मन्युर्येन। तथा वारुण्याः सुराया रसनेन चर्वणेन शान्तो विवादः कोलाहलो यस्य तस्मिन् ॥59॥

लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेषितगन्धा।
वारुणी परगुणात्मगुणानां व्यत्ययं विनिमयं नु वितेने ॥9.60॥

अन्यसम्बन्धिनां गुणानामन्यत्र प्रापणं व्यत्ययः स्ववस्तु दत्त्वा परवस्तुनो ग्रहणं विनिमयः। लोचनाधरशब्दयोः कृताहृतशब्दाभ्यां सम्बन्धः। वारुणी सुरासम्बन्धी अच्छभावः परगुणानां व्यत्ययं व्यतिहारं। ताथात्मगुणानां विनिमयं न वितेने चक्रे स्वित्। यथासंख्यं विशेषणद्वयेन तदेव दर्शयति लोचने चाधरो च तल्लोचनाधरं, कृतश्चासावाहृतश्च कृताहृतः लोचनयोः कृतः अधरविषयादाहृतः रागो यया सा सुरायां पीतायांमोष्ठद्यावकरागो गलितः। नेत्रविषये रागो रक्तत्वमुत्पन्नम्। अतोऽयं वितर्कः। नूनमधराद्धृत्वा स्त्रीणां दृष्टौ सुरया रागो न्यस्तः। तथा वासितं सुगन्धीकृतमाननं मुख यया विशेषितो विशेषवान्कृतो गन्धो यया सा। सुरायां गृहीतायां मुखमधिकसौरभ्यं सम्भावितम्। सा च मुखसुरा दयितैः पीता पूर्वसौरभ्यादधिकासौगन्ध्या संभाविता। अतोऽयं वितर्कः। वारुणी स्वगुणं सौगन्ध्यं किंचित्परस्य मुखस्य दत्त्वा स्वस्य तदधिवासमग्रहीत्। पूर्वत्र रागशब्दस्याध्यवसाने कृते वितर्कोत्थानम् ॥60॥

तुल्यरूपमसितोत्पल[25]मक्ष्णः कर्णगं निरूपकारि विदित्वा।
[26]योषितः सुहृदिव प्रविभेजे [27]लम्बितेक्षणरुचिर्मदरागः ॥9.61॥

मदेन रागः शोणत्वं प्रविभेजे नयनोत्पलयोर्विभेदं समपादयत्। लम्बिता प्रापिता ईक्षणयो रुचिर्येन लम्बिता प्रापिता ईक्षणेन दृष्ट्या रुचिः शोणत्वं यस्मात् सः। अक्ष्णो नेत्रस्य नीलत्वेन तुल्यरूपां नीलोत्पलं कर्णगमनुपकारकं विदित्वा। नेत्रे सितेतरवर्णे सत्युत्पलेन तत्समीपस्थापितेन किं फलमित्यवमत्वा नेत्रं रञ्जयित्वा नेत्रोत्पलविभागं मदरगोऽकरोदित्यर्थः ॥61॥

क्षीणयावकरसोऽप्यतिपानै[28]रार्द्रदन्तपद[29]लम्बितकान्तिः।
आययावतितरामिव वध्वाः सान्द्रतामधरपल्लवरागः ॥9.62॥

अधरपल्लवस्य रागः सान्द्रतामाधिक्यमिव ययौ प्राप्तः। कदाचिदलक्तकरक्तः स्यादित्याह अतिपानैः क्षीणयावकरसोऽपि यावकगलनाद् व्यक्तैरार्द्रैर्नूतनैर्दन्तपदैर्दन्त-क्षतैर्लम्बिता प्रापिता कान्तिः पटलत्वं यस्य सः प्रकटीभवद्भिर्दन्तक्षतैरतिलोहितोऽधरराग आसीदित्यर्थः ॥62॥

रागकान्तनयनेषु नितान्तं विद्रुमारुणकपोलतलेषु।
सर्वगापि ददृशे वनितानां दर्पणेष्विव मुखेषु मदश्रीः ॥9.63॥

सर्वं सर्वशरीरं गच्छति तथाभूतापि मदश्रीर्वनितानां मुखेषु जनेन ददृशे। यदि सर्वं शरीरं व्याप्नोति तन्मुखेष्वेव कथं दृष्टेत्याह रागेणारुणिम्ना कान्तानि नयनानि येषां। तथाविधद्रुमवदरुणानि कपोलतलानि येषां तेषु। केष्विव दर्पणेष्विव। यथा सर्वत्र प्रतिबिम्बमानमपि वस्तु दर्पणेषु दृश्यते। यद्वा यथा दर्पणेषु वस्तु दृश्यते तथा मुखेषु मदलक्ष्मीर्दृष्टेत्यर्थः ॥63॥

बद्धकोपविकृतीरपि रामाश्चारुताभिमततामुपनिन्ये।
वश्यतां मधुमदो दयितानामात्मवर्गहितमिच्छति सर्वः ॥9.64॥

बद्धा नियमिता कोपरूपा विकृतिर्याभिस्ताः कुप्यन्तीरपि रामाः चारुता सौन्दर्यमभिमततां वाल्लभ्यमुपनिन्ये नैषीत्। यद्वा बद्धा कोपेन विकृतिर्विकारो याभिः।

---

25. अक्ष्णोः
26. योषिताम्
27. लम्भित
28. कान्त
29. संभृतशोभ

कोपवशाद्विकृता अपि स्त्रियः सौन्दर्यवशाभ्दर्तृणां वल्लभा एवासन्। मधुमदः कुपिता अपि स्त्रियः भर्तृणां वश्यतामायत्तत्वमनैषीत्। प्रथमं कुपिताः पश्चात्स्वयमेव ता मदवशात् प्रियाणामायत्ताः संपन्नाः। विपर्ययः कस्मान्नभूदित्याह सर्वश्चेतनोऽप्यचेतनश्च स्वात्मवर्गस्य हितं काङ्क्षति। चारुता स्त्रीलिङ्गत्वात्स्त्री सा स्त्रीणामेव हितमकार्षीत्। मदस्तु पुंलिङ्गत्वात्पुमान् स पुंसामेव हितमकार्षीदित्यर्थः ॥64॥

वाससां शिथिलतामुपनाभि [30]ह्रीविराममपदे कुपितानि।
योषितां विदधती गुणपक्षे निर्ममार्ज मदिरा वचनीयम्॥9.65॥

मदिरा वचनीयं निन्दां निर्ममार्ज न्यवारयत्। उपनाभि नाभिसमीपे वाससामधराम्बराणां शिथिलतां शैथिभ्यं। ताथा ह्रीविरामं त्रपाव्यपगमम्। तथाऽपदेऽस्थाने कुपितानि। कोपादुणपक्षे गुणत्वे कुर्वती मदवशदधरवस्त्रशैथिल्यादयः। स्त्रीणां संपन्नाः तैर्दोषापत्तिरेव युक्ता। तदा तु ते गुणरुपाः सम्पन्नाः सुरतसाधनत्वात् ॥65॥

भर्तृषूपसखि निक्षिपतीनामात्मनः [31]स्फुटमदोद्यमितानाम्।
व्रीडया विफलया वनितानां न स्थितं न विगतं [32]हृदयेभ्यः॥9.66॥

व्रीडया वनितानां हृदयेषु न स्थितं स्थितिर्न कृता। तथा हृदयेऽन्यो न विगतम् न ययौ न तस्थो त्रपेत्यर्थः। यत उपसखि सखीसमक्षमेव भर्तृषु प्रियोत्सङ्गे आत्मनो निक्षिपतीनां देहं न्यस्यतीनाम्। तत्कथमित्याह स्फुटेन बलिनां मदेनोद्यमितानां प्रवर्तितानाम्। अतो विफलया निष्फलया। निष्फलस्य हि तिष्ठतोऽपि स्थित्यभाव एव। अतः स्त्रीणां त्रपा न गता न स्थितेत्यर्थः ॥66॥

रुन्धती नयनवाक्यविकासं सादितोभयकरा परिरम्भे।
व्रीडितस्य ललितं युवतीनां क्षीबता बहु गुणैरनुजह्रे॥9.67॥

क्षीबता मदोयुवतीनां व्रीडितस्य त्रपाया ललितं विलासं बहुभिर्गुणैरनुजह्रे व्यडम्बयत्। बह्विति क्रियाविशेषणं वा योज्यम्। यतो नयनानां वाक्यानां च विकासं रुन्धती निषेधन्ती, परिरम्भे आलिङ्गनकाले सादितौ निरुद्यमौ कृतौ करौ यया त्रपयापि हि दृष्टेः सङ्कोचो वाचोऽपाटवसङ्गानां सादो भवति ॥67॥

योषिदुद्धतमनोभवरागा मानवत्यपि ययौ दयिताङ्कम्।
कारयत्यनिभृता गुणदोषे वारुणी खलु रहस्यविभेदम्॥9.68॥

---

30. निरासम्
31. मधुमद
32. हृदयेषु

मानवत्यपि योषिद्दयिताङ्कं प्रियोत्सङ्गं ययौ। मानवती चेत्कथं गतेत्याह उद्धतो मनोभवरागो मदनाभिलषो यस्याः। मानिन्याः कामविधेयत्वं कथमित्याह वारुणी सुरारहस्यगोपनीयवस्तुनो विभेदमाविष्करणं कारयति। यतो गुणश्च दोषश्च तद्गुणदोषं तत्रानिभृता चपला। रहस्यास्य गोपनेन गौरवं प्रकाशनेऽत्र लाघवमिति विवेकस्य सुरापायिनामभावाद्रहस्यभूतं कामरागं प्रकाशवतीव काचिन्मानिन्यपि वल्लभोत्सङ्गमगा-दित्यर्थः ॥68 ॥

आहिते नु मधुना मधुरत्वे चेष्टितस्य गमिते नु विकासम्।
आबभौ नव इवोद्धतरागः कामिनी[33]ष्वविरतः [34]कुसुमेषुः ॥9.69 ॥

अविरतो निरन्तरं सेवितोऽपि कुसुमेषुः कामो नवोऽपूर्व इव स्त्रीष्वाबभौ यत उद्धतः प्रबलो रागो रसो यत्र सः। कदा चेष्टितस्य सोष्ठदेर्मधुरत्वे आहितेऽन्वपूर्वतया निर्मिते सति किं वासति चेष्टितस्य मधुरत्वे विकासमतिशयं गमिते प्रापिते स्वित्। विभ्रमा यदा मनो जहुस्तदा कामो नित्यसेवितोऽपि तत्कालमनुभवितुमारब्ध इवाबभौ ॥69 ॥

मा गमन्मदविमुढधियो न प्रोज्झय रन्तुमिति शङ्कितनाथाः।
योषितो न [35]मदिरां भृशमीषुः प्रेम पश्यति भयान्यदेऽपि ॥9.70 ॥

योषितो मदिरां भृशं यथा क्षीबा भवन्ति तथा नेष्ठः न पपुः। भृशं सुरापानाभावे हेतुमाह मदोऽनु विमूढा मोहिता धीर्यासां ता नोऽस्मान्प्रोज्झ्य त्यक्त्वास्मत्प्राणेशाः कामिन्यन्तरं मागमायान्मायासिषुरित्येवं शङ्किता नाथा याभिस्ताः। कान्ताभिरतिरागिणोऽपि प्रियाः शङ्कास्थानं कथं संभाविता इत्याह अपदे भयसंभावनानर्हस्थानेऽपि प्रेम भयानि पश्यति, प्रेमवशादस्थानेऽपि भयं संभाव्यते। अन्यथा तद् दृष्टिपाताधीनप्राणेषु भर्तृषु कथं शङ्का संभाव्यतेत्यर्थः ॥70 ॥

चित्तनिर्वृतिविधायि विविक्तं मन्मथो मधुमदः शशिभासः।
सङ्गमश्च दयितैः स्म नयन्ति प्रेम कामपि भुवं प्रमदानाम् ॥9.71 ॥

चित्तस्य निर्वृतिं निःशङ्कत्वं विदधाति तथा भूतं विविक्तं विजरस्थानम्, तथा मन्मथः तथा मधुना मदः, तथा शशिनो भासः, तथा दयितैः सङ्गमश्च एतानि प्रमदानां प्रेमकामरागं कामप्यवर्णनीयां भुवं नयन्ति स्माऽनैषुः। विजनादिपदार्थयोगात्स्त्रीणां कान्तेषु प्रेमवृद्धिमगादित्यर्थः ॥71 ॥

---

33. अवसरः
34. कुसुमेषोः
35. मदिरा

धाष्ठ्र्यलङ्घितयथोचितभूमौ निर्दयं विलुलितालकमाल्ये।
मानिनीरतिविधौ कुसुमेषुर्मत्तमत्त इव विभ्रमपाप ॥9.72॥

कुसुमेषुः कामो मानिनीं सुरतसमये मत्तमत्त इव विभ्रममायत् चिरसम्भृतमनोरथत्वान्मानिन्यः वैयात्यं बिभ्रति। अतः संभावनेयं कामो मत्त इव मानिनीसुरतेष्वासीत्। विशेषणाभ्यां कामस्य मत्तत्वं दर्शयति। धाष्ठ्र्येन त्रपानिवृत्या लङ्घिताऽतिक्रान्ता यथोचित्त योषिज्जनोपपन्ना वस्त्रत्यागादिभूमिर्यत्र तस्मिन्। तथा निर्दयं विलुलितान्याकृष्टानि अलकमाल्यानि यत्र तस्मिन्। मत्तो हि त्यक्तवस्त्रो विकीर्णालक्तकमाल्यश्च भवति ॥72॥

शीधुपानविधुरेषु वधूनां निघ्नतामुपगतेषु वपुष्षु।
ईहितं रतिरसाहितभावं वीत[36]लज्जमपि कामिषु रेजे ॥9.73॥

कामिषु वीतलज्जं त्रपावर्जितमपि स्त्रीणां सम्बन्धि ईहितं चेष्टितं रेजे शुशुभे। अन्यत्र दातुमुचितं नखदन्तक्षतादिकमन्यत्र दत्तमप्यशोभत। अन्यत्र कथं दत्तमित्याह - रतिरसेनाहितो पूर्वत्वेन कृतो भावो यस्य तत्। यदि नखदन्तक्षतानां उन्नस्थानं तत्कामिभिः किं न निषिद्धमित्याह शीधुपानेन विधुरेष्वचेतनेषु वपुष्षु निघ्नतां परायत्तत्वमुपगतेषु सत्सु। मत्तत्वाद्भ्रान्तमतित्वेन कामिनां प्रियाभिरति, रतेच्छ्याऽस्थानेऽपि दत्तं नखक्षतादिकमशोभत। अत्रापि मद एव हेतुः, गाढानुरागो वा ज्ञेयः ॥73॥

अन्योन्यरक्तमनसा[37]मपि बिभ्रतीनां
चेतोभुवः [38]सुरसखाप्सरसां निदेशम्।
वैबोधिकध्वनिविभावितपश्चिमार्धा
सा [39]संवृतेव परिवृत्तिमियाय रात्रिः ॥9.74॥

सा रात्रिः परिवृत्तिं परिवर्तनमियाय। कीदृशी वैबोधिका विबोधशिल्पा प्रभातशंसिनस्तेषां ध्वनिना विभावितं प्रकाशितं पश्चिमार्धमवसानं यस्याः। स्वयमेव निशासमाप्तिं किं नाजानन्नित्याह अन्योन्यं रक्तं सानुरागं मनो यासां अतश्चेतोभुवो निदेशं कामाज्ञां सुरतैकमनस्त्वं बिभ्रतीनां सुरसखीनामप्सरसाम्। अतः सुरतगतचित्तत्वात्स्वयमज्ञातं निशावमानं वैतालिकैरेव प्रकाशितमित्यर्थः। अत उत्प्रेक्ष्यते संवृतेव संवेष्ट्यमानेव। यश्च पटादिकं वस्तु संव्रियते तत्परिवृत्तिं पार्श्वैकदेशलभ्यत्वं प्राप्नोति ॥74॥

---

36. लक्ष्यम्
37. अथ
38. हरिसख
39. संहृतेव

निद्राविनोदितनितान्तरतिक्लमाना -
मायामिमङ्गलनिनादविबोधितानाम्।
रामासु भाविविरहाकुलितासु यूनां
तत्पूर्वतामिव समादधिरे रतानि ॥9.75॥

यूनां रतानि तत्पूर्वतां प्राथमिकतामिवागृह्णन्, यथा प्रथम सुरते सरसत्वं तथा पश्चिमसुरतेप्यासीदित्यर्थः। अत्र हेतुः रामासु भावी भविष्यन्नहन्यसामयिक-त्वाद्विरहस्तेनाकुलितासु सचिन्तासु सतीषु। यूनां कीदृशानां निद्रया विनोदितः खण्डितो नितान्तोऽतिशयवान्नतिक्लमो येषाम्। तथाऽऽयामी दीर्घो मङ्गलनिनादो माङ्गलिको स्तूर्यध्वनिस्तेन विबोधितानाम्। निद्रां विनेति पाठः प्रकृतानुगुणः, भाविविरहाकुलास्विति पाठे गन्धर्वाप्सरः साधारणत्वाच्छ्रेयान्। निद्रां विना सुरतरसवशान्निद्रानादरेणोदितो जातो नितान्तं सुरतक्लमो येषाम्। तथा मङ्गलनिनादेन विबोधितानां शंसिते निशासमाप्तीनां यूनां रामासु न तु स्त्रीमात्रे विरहेण विश्लेषेण कुलासु सतीषु रतानि तत्पूर्वतानि वागृह्णन् ॥75॥

कान्ताजनं सुरतखेदनिमीलिताक्षं
संवाहितुं समुपयानिव मन्दमन्दम्।
हर्म्येषु माल्यमदिरापरिभोगगन्धा-
नाविश्चकार रजनीपरिवृत्तिवायुः ॥9.76॥

रजनीपरिवृत्तौ प्रभाते वायुः हर्म्येषु हर्म्यान्तर्माल्यमदिराणां गन्धानाविश्चकार बहिः प्रकटानुकरोत्। प्रभातिके वायावागते मदिरादिगन्धा गन्धा बहिर्निः सृता इत्यर्थः। कीदृक् मन्दं मन्दं समुपयान् वहन् उ। अत्रोत्प्रेक्ष्यते सुरतखेदेन निमीलिताक्षं दृशं मीलयन्तं सन्तं कान्ताजनं संवाहितुं परिचरितुमिव। मन्दं वहता मरुता हि खेदो व्यपैति ॥76॥

आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु
निद्राकषायित विपाटललोचनेषु।
व्यामृष्टपत्रतिलकेषु विलासिनीनां
शोभां बबन्ध वदनेषु [40]मदस्य शेषः ॥9.77॥

मदस्य शेषो वधूनां वचनेषु शोभां बबन्ध। मदशेषेण स्त्रीसुखान्यशोभन्तेत्यर्थः। तासां भूषणं किं नासीदित्याह व्यामृष्टा रतक्षोभस्वेदादिनोत्पुंसिताः पत्रतिलका येषाम्। मदशेषं विशेषणाभ्यां प्रकाशयति। आमोदेनातिनिर्हारिणा मद्यगन्धेन वासिताः

---

40. मदावशेषः

सुरभीकृताश्चलाः संभोगस्मरणात्कम्पा अधरपल्लवा येषां। तथा निद्रया कषायितानि विपाटलानि लोचनानि येषां भूषणरहितान्यपि स्त्रीसुखानि मदशेषोऽभूषयदित्यर्थः॥77॥

गतवति नखलेखालक्ष्यतामङ्गरागे
समददयितपीताताम्र[41]बिम्बाधरोष्ठ्याः।
विरहविधुरमिष्टासत्सखी[42]वाङ्गनाया
हृदयमवललम्बे रात्रिसंभोगलक्ष्मीः॥9.78॥

रात्रौ सम्भोगः तेन कृताया लक्ष्मीः साङ्गनाया हृदयमवललम्बे हस्तावलम्बमकोत्। आलम्बापेक्षा कुत इत्याह विरहेण प्रियविश्लेषेण विधुरं निपतनसज्जम्। सुरतजनितां स्वस्य कान्ति दृष्ट्वा सौभाग्यावष्टम्भाद्धृदयं न पपातेत्यर्थः। अत उत्प्रेक्ष्यते इष्टा सत्सखीव। सापि हि विधुरं सखीहृदयमाश्वासयति। कदाचित् भूषणैरङ्गनाया लक्ष्मीः स्यादित्याह अङ्गरागे नखलेखासु नखक्षतेषु लक्ष्यतां दृष्यतां गतवति सति नखपदस्थानानां निम्नत्वेन सुरतसंमर्दयोगाभावत्तत्राङ्गरागस्य दृश्यत्वम्। समदेनापि दयितेन पीतस्ताम्रोऽधरौष्ठ्ये यस्याः। अतोऽङ्गरागादिभूषणव्यपगमेऽपि स्वस्य भवन्तीं कान्तिं संभोगजनितां निश्चित्याह नाथस्य प्रियतमेति स्वस्य सुभगत्वाभिमानात स्त्रियो हृदयं सालम्बमासीदिति भद्रम्॥78॥

इति श्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां नवमः सर्गः॥॥9॥

---

41. बिम्बाधराणाम्
42. अङ्गनानाम्

॥दशमः सर्गः॥

अथ परिमलजामवाप्य लक्ष्मीमवयवदीपितमण्डनश्रियस्ताः।
वसतिमभिविहाय रम्यहावाः सुरपतिसूनुविलोभनाय जग्मुः॥10.1॥

अथ लीलानन्तरं ताः सुरस्त्रियो वसतिं गन्धर्वनगरं लीलास्थानमभिविहाय त्यक्त्वा सुरपतिसूनोरिन्द्रस्य पुत्रस्यार्जुनस्य विलोभनाय स्वरूपं रोचयितुं जग्मुः। कथं ता लोभयन्तीत्याह परिमलः संभोगसुज्ञां लक्ष्मीमवाप्यावयवैर्दीपिता प्रत्युतभूषिता मण्डनश्रीर्भूषणसमृद्धिर्याभिस्त। तथा रम्यो हावो यासांताः॥1॥

द्रुतपदमभियातुमिच्छतीनां गगनपरिक्रमलाघवेन तासाम्।
अवनिषु चरणैः पृथुस्तनीनामलघुनितम्बतया चिरं निषेदे॥10.2॥

तासां चरणैरवनिषु निषेदे निषण्णम्, लाघवेन गन्तुं न पारितमित्यर्थः। अत्र हेतुः अलघु गुरु नितम्बं यस्य तभ्दावेन, तथा पृथुस्तनीनाम्। लाघवेन गमनस्य प्राप्तिः केत्याह गगने परिक्रमस्तत्र लाघवं शीघ्रता तेन भूमावपि द्रुतपदं त्वरितचरणं गन्तुमिच्छतीनाम्। यथा वयमाकाशे गच्छामः तथा भूमावपि गच्छाम इति सोद्यतानां तासां पदैर्भुवि चिरं स्थितम्। पृथुस्तनत्वादिकं वक्ष्यमाणमपि नूपुरादिरणितं पार्थविलोभनोक्तेरङ्गम्॥2॥

निहितसारसयावकैर्बभासे चरणतलैः कृतपद्धतिर्वधूनाम्।
[1]विरलमवततेव शक्रगोपैररुणितनीलतृणोलपा धरित्री॥10.3॥

धरित्री बभासे कुतः अरुणितं रञ्जितनीलं तृणोपलपं यस्याः यतो निहितार्द्रालक्तककैर्वधूनां चरणतलैः कृता पद्धवीः पदवी यस्याम्। अत्रोत्प्रेक्ष्यते शक्रगोपैरवततेव सज्योतिरिङ्गनेव विरलं किंचित्। उलपस्तृणविशेषः तृणो लपेति गोबलीवर्दवृन्दवत्समासः॥3॥

ध्वनिरगविवरेषु नूपुराणां पृथुरशनागुणशिञ्जितानुयातः।
प्रतिरवविततो वनानि चक्रे मुखरसमुत्सुकहंससारसानि॥10.4॥

---

1. अविरलविततेव

पृथु यद्रशनागुणङ्किशिञ्जितं मेखलाकिङ्किणीशब्दस्तेनानुयातः सहितो नूपुराणां ध्वनिर्मञ्जीरनादोऽगविवरेषु कन्दरासु विषये प्रतिरवेण प्रतिशब्देन विततो विस्तिर्णः सन् काननानि, मुखराः शब्दयमानाः समुत्सुका हंसान्तररुतभ्रान्त्या तत्सङ्गलोभिनः सारसा हंसाश्च येषु तथाविधान्यकार्षीत्। तन्नूपुरनादं श्रुत्वा हंसभ्रान्त्या वनहंसाः सोत्कण्ठाः संपन्ना इत्यर्थः ॥4॥

अवचयपरिभोगवन्ति हिंस्रैः सहचरितान्यमृगानि काननानि।
अभिदधुरभितो मुनिं वधूभ्यः समुदितसाध्वसविक्लवं च चेतः ॥10.5॥

काननानि ताभ्यः सुरस्त्रीभ्यो मुनिमभिदधुरसूचयन्। सूचने हेतुमाह अभितः सर्वतः अवचयः फलपुष्पग्रहणं परिभोगो वल्कलग्रहणं उद्वहन्ति। तथा हिंस्रैः सिंहादिः सहचभिरिता अन्ये अहिंस्रा मृगादयो येषु सत्वानां विरोधत्यागस्य वल्कलग्रहणादेश्च तपोवन एव संभवात्। समुदितं यत्साधु संपाटवाभावस्तेन विक्लवं सच्चेतश्च ताभ्यो मुनिमकथयत्। तथाविधानि वनानि दृष्ट्वा त्रासं चानिमित्तं प्राप्यताभिर्मुनिरत्र वसतीति निश्चितम्। एतेन भावी तासां कार्यसिद्ध्यभावः सूचितः, चेतसो प्रमादो हि दुर्निमित्तम् ॥5॥

नृपतिमुनिपरिग्रहेण सा भूः सुरसचिवाप्सरसां जहार तेजः।
उपहितपरमप्रभावधाम्नां न हि जयिनां तपसामलङ्घ्यमस्ति ॥10.6॥

नृपतिमुनिः राजर्षिः तत्परिग्रहेण हेतुना सा भूः सुरसचिवानामप्सरसां च तेजो हार्षीत्। युक्तमेतत् उपहिते उत्पादिते परमे प्रकर्षवती प्रभावो धामचयैस्तेषां जयिनां जयनशीलानां च तपसां नालङ्घ्यं किंचिदस्ति। सर्वमेव लङ्घयितुं शक्यमित्यर्थः ॥6॥

सचकितमिव विस्मयाकुलाभिः शुचिसिकतास्वतिमानुषाणि ताभिः।
क्षितिषु ददृशिरे पदानि जिष्णोरुपहितकेतुरथाङ्गलाञ्छनानि ॥10.07॥

ताभिः सचकितं सत्रासमिव जिष्णोरर्जुनस्य पदानि भूमिषु ददृशिरे। भूमौ कथं तत्पदवी रूढेत्याह शुचिसिकतासु। त्रासे हेतुमाह अतिमानुषाणि मनुष्याणां न सम्भवस्तेषाम्। कुतः केतवो ध्वजा रथाङ्गश्चक्राणि वाञ्छनानि छत्रादीनि चिह्नानि उपचितानि बहूनि येषु तानि। रेखाध्वजादिकं पदेषु दृष्ट्वा ताभिरनुमितं नायं मनुष्य इति। अतो विस्मयाकुलाभिः साश्चर्याभिः ॥7॥

अतिशयितवनान्तरद्युतीनां फलकुसुमावचेऽपि तद्विधानाम्।
ऋतुरिव तरुविरुधां समृद्ध्या युवतिजनैर्जगृहे मुनिप्रभावः ॥10.8॥

तरुणां विरुधां च समृद्ध्या शोभया हेतुभूतया युवातजनैर्मुनिप्रभवो जगृहे लक्षितः, ऋषिप्रभावं विना तथाविधायाः समृद्धेरभावात्। अतिशयिता जिता वनान्तरसम्बन्धिनी

द्युतिर्याभिः। तथा फलानां कुसुमानां चावचये ग्रहणेऽपि तद्धितानां सफलपुष्पाणाम्। यथा ऋतुर्वसन्तादिर्वृक्षलक्ष्म्या लक्ष्यते तया ताभिर्मुनिप्रभाव इत्यर्थः॥8॥

मृदितकिसलयः सुराङ्गनानां ससलिलवल्कलभारभुग्नशाखः।
बहुमतिमधिकां ययावशोकः परिजनतापि गुणाय सद्गुणानाम्॥10.9॥

अशोके वधूनामधिकां मतिं मानं बह्वत्यर्थमागतः। बहुमाने हेतुमाह सलिलसहितं यद्वल्कलं तेन भुग्ना नम्राः शाखा लता यस्य, अत एव मृदितानि किसलयानि यस्य सः। अयं धन्यो यत्र मुनिराजेऽपि शोषणार्थमार्द्रं वल्कलं न्यस्यतीति ताभिरशोकस्य बहुमानः कृतः। वल्कलोद्वहनेन को मान इत्याह सद्गुणानां गुणभाजां परिजनतापि गुणाय भवति। गुणोऽत्र बहुमानः। सद्गुणैरर्जुनः परिजनता वल्कलोद्वहनम्॥9॥

यमनियमकृशीकृतस्थिराङ्गः परिददृशे विवृतायुधः स ताभिः।
अनुपमशमदीप्ततागरीयान् कृतपदपङ्क्तिरथर्वणेव वेदः॥10.10॥

यमा अहिंसादयः नियमास्तपःप्रभृतयः देशकालावस्थाभिरनियताः पुरुषस्य शुद्धहेतवो यमाः अहिंसाब्रह्मचर्यास्तेयाः देशकालावस्थापेक्षिणः पुण्यहेतवः क्रियाविशेषा नियमादेव प्रदक्षिणसन्ध्योपासनजपादयस्तैः वशीकृतान्यपि स्थिराणि ससौष्ठवान्यङ्गानि यस्य सः। तथा विधृतान्यायुधानि येन सः। तथानुपमाभ्यामतुलाभ्यां शमदीप्ताभ्यां शान्तितेजोभ्यां गरीयान्,गुरुशम तेजा इत्यर्थः। कः केनेवाथर्वणा ऋषिणा वसिष्ठेन वेदो यथा दृश्यते। स चानुपमाभ्यां शमदीप्ताभ्यां गरीयान्, आभ्युदयिकेषु शान्तः, आभिचारिकेषु कर्मसु दीप्तः। कृतापदानां पदवीनां तीर्थगमनादौ सति पङ्क्तिर्येन। वेदपक्षे पदमवग्रहः॥10॥

कुत्र किंकुर्वन् कीदृक् न दृष्ट इत्याह॥

सुरसरिति परं तपोऽधिगच्छन् विधृतपिशङ्गबृहज्जटाकलापः।
हविरिव वितनः शिखासमूहैः समभिलषन्नुपवेदि जातवेदाः॥10.11॥

सुरसरिति गङ्गातटे परमुत्तमं तपोऽधिगच्छन् विधृतः पिशङ्गे बृहज्जटाकलापो येन सः। यथोपवेदि वेदसमीपे हविराज्यादिकं समभिलषञ्जातवेदा वह्निः शिखासमूहैर्वितनः ज्वाला माला कुलः। तपसो हविरुपमानतया तेजोवृद्धिर्द्योयतिता॥11॥

शशधर इव लोचनाभिरामैर्गगनविसारिभिरंशुभिः परीतः।
शिखरनिचयमेकसानुसद्मा सकलमि[2]वाधिवसन्महिधरस्य॥10.12॥

चन्द्र इव नेत्रसुखदैराकाशव्यापिभिः किरणैर्वलितः तवैकस्मिन्नेव सानौ सद्मनिवासो

---

2. अप्दिधन्

यस्य। तथापि गिरेः सकलमिव शिखरकुलमाशून्यन्, प्रभविष्णत्वादिति भावः। चन्द्रश्च नियतोद्देशस्थः सर्वं दीप्त्या व्याप्नोति ॥12 ॥

सदृशमतनुमाकृतेः प्रयत्नं तदनुगुणामपरैः क्रियामलङ्घ्याम्।
दध[3]दतनु तपः क्रियानुरूपं विजयवतीं च तपःसमां समृद्धिम् ॥10.13 ॥

आकृतेराकारस्य सदृशमतनुमनल्पं प्रयत्नं कुशसमिदाद्याहरणोद्यमं दधत्। तस्य प्रयत्नस्यानुरूपामन्यैरनवाप्यां क्रियां तीर्थगमनादिकां दधत्। अतनुक्रियानुगुणं तपो दधत् तपःसदृशीं विजयिनीं समृद्धमैश्वर्यं दधत् ॥13 ॥

[4]यमनियमकृशोऽपि शैलसारः शमनिरतोऽपि दुरासदः प्रकृत्या।
ससचिव इव निर्जनेऽपि तिष्ठन्मुनिरपि तुल्यरुचिस्त्रिलोकभर्तुः ॥10.14 ॥

यमनियमैः कृशो दुर्बलोऽपि प्रकृत्या शैलवत्सारो यस्य तथा शमे निरतः सक्तोऽपि प्रकृत्या दुरासदो दुर्निरीक्ष्यः। निर्जनेऽपि तिष्ठन्नैकान्येनापि संस्त्रिलोकभर्तुस्त्रि-जगत्स्वामिनस्तुल्यतेजाः ॥14 ॥

तनुमवजितलोकसारधाम्नि त्रिभुवनगुप्तसहां विलोकयन्त्यः।
अवययुरमरस्त्रियोऽस्य यत्नं विजय[5]फलं विफलं तपोधिकारे ॥10.15 ॥

अमरस्त्रियोऽर्जुनस्य यत्नं तपश्चरणं विजयफलमवययुः ज्ञातवत्यः। तप्मोधिकारो यत्रापवर्गादौ विफलं यत्नं ता अवययुः। अयं शत्रुपराभवार्थमेव तपस्यति न पुनर्मोक्षाद्यर्थमिति ता निश्चिक्युरित्यर्थः। निश्चये हेतुं विशेषणेनाह अवजिते लोकस्य सारधाम्नी बलतेजसी यया तां तथा त्रिभुवनस्य गुप्तिं रक्षां सहते तथाभूतामस्य तनुं वपुः पश्यन्त्यः ॥15 ॥

मुनिदनुतनयान् विलोभ्य सद्यः प्रतनुबलान्यधितिष्ठतस्तपांसि।
अलघुनि बहु मेनिरे च ताः स्वं कुलिशभृता [6]निहितं पदे नियोगम् ॥10.16 ॥

ताः सुरस्त्रियो निदेशमाज्ञां कुलिशभृता वज्रिणा अलघुनि महति पदे स्थाने दत्तं बह्वित्यर्थं मेनिरे। कदाचिदल्पाप्याज्ञा गुरुस्ताभिरकौशलाज्ज्ञातेत्याह अतनुबलानि महात्यपि तपांस्यधितिष्ठतः कुर्वतो मुनीन्मनुतनयांश्च सद्यो निरायासं विलोभ्य। अयमर्थः मुनिराजानपि लोभवन्त्यस्तास्तत्र भग्नोत्साहा इव जाताः॥ अन्यच्च अलघुनि पदे कुलिशभृता विहितं

---

3. अलघु
4. चिरनियम
5. फले
6. विहितम्

स्वं निदेशं ता बहु मेनिरे वरीयसि स्थाने वज्रिणा दत्तामाज्ञां ताः श्रद्दधुरित्यर्थः। स्वतनुबलानि स्वल्पतपांसि चरतो मुनिपुत्रान् मनुपुत्रांश्च सद्यो दर्शनमनन्तरमेव विलोभ्य बहु मेनिरे इति सम्बन्धः। एतदुक्तं भवति पूर्वमल्पेषु कृतेषु विनियुक्ता इदानीं गरीयसि कार्ये निदेशं बहुमानहेतुमसंमतसमुच्चये च शब्दः ता ददृशुः। नियोगं च बहु मेनिरे। बह्विति मनन क्रियाविशेषणम् ॥16॥

अथ कृतकविलोभनं विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन।
प्रसभमवततार चित्तजन्मा हरति मनो मधुरा हि यौवनश्रीः ॥10.17॥

युवतिजने चित्तजन्मा कामः प्रसभं बलादवततार उत्पन्नः। केन हरिसूनोरर्जुनस्य दर्शनेन। सूनुशब्दः प्रकृतानुगुणः। कीदृशो कृतकं विलोभनं विधित्सौ कर्तुकामे कृत्रिममनुरागमभिनीय वयमर्जुनं लोभयाम इत्युद्यतानां तासां सहजोऽनुरागस्तद्दर्शनेनोदभूत्। युक्तमेतत् मधुरा रम्या यौवनश्रीः मनोहरत्यावर्जयति ॥17॥

सपदि हरिसखैर्वधूनिदेशाद्ध्वनितमनोरमवल्लकीमृदङ्गैः।
युगपदृतुगणस्य सन्निधानं वियति वने च यथायथं वितेने ॥10.18॥

वधूनां निदेशादाज्ञया वीणामुरजांश्च वादयत ऋतुगणं च समं सन्निधापयतेत्येवं रूपयाज्ञया हरिसखैर्गन्धर्वैर्ऋतुगणस्य सन्निधानं सपदि वितेने, षण्णामृतूनां तत्क्षणं युगपदेव सन्निधानं कारितम्। कुत्र वियति खे वने च, यथायथं योयः स्वं यथायथं ध्वनिता वादिता मनोरमा वल्लकी मृदङ्गा वीणा मुरजा यैस्ते ॥18॥

सजलजलधरं नभो विरेजे विवृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम्।
व्यवहरितरतिविग्रहैर्वितेने जलगुरुभिः स्तनितैर्दिगन्तरेषु ॥10.19॥

सजला जलधरा मेघा यत्र तन्नभः खं विरेजे। तडिल्लतानां रुचिर्विवृतिं विद्योतनं प्राप्ता। स्तनितैर्दिगन्तरेषु वितेने विततम्, दिशो व्याप्ता इत्यर्थः। व्यहितो रतौ सुरतकाले विग्रहः प्रणयविरोधकलहो यैस्तैः। वितेने इति भावे लकारः। गर्जितेषु सत्सु रतिप्रणयकलहो न श्रुत इत्यर्थः। यतो जलेन गुरुभिर्महद्भिः। वसन्तस्य ऋतुनायकत्वान्मध्यस्थितेरौचित्येन प्रथमं कविना प्रथमं वर्षावर्णनमारब्धम्। अन्यच्च यद्यपि ऋतुनायकत्वाद्वसन्तवर्णनमुचितं तथापि कविनादौ नायकस्य कामोत्पादानार्थं गृहमार्जनलेंपनादिप्रसिद्धं तदनुपुष्पशय्यादि। यद्वा यत्र नाट्यज्ञैर्नाट्यमारभ्यते तत्राप्यादौ मार्जनजलसेचनादिकर्तव्यं तदर्थं वर्षावर्णनं कृतम्। तथा चाग्रिमश्लोके वक्ष्यति सरजसतामवनेरपां निपात इति विवेकः। यद्वा वर्षास्वेव विरहिणा विशेषेण कामोत्पत्तिस्तदर्थं वर्षावर्णनम्। तदुक्तं मेघदूते "मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथा वृत्तिचेतः कण्ठाश्लेषि प्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे" ॥19॥

परिसुरपतिसूनुधाम सद्यः समुपदधन्मुकुलानि मालतीनाम्।
विरलमपजहार बद्धबिन्दुः सरजसतामवनेरपां निपातः ॥10.20॥

अपां निपातो वर्षणमवनेर्भूमेः सरजसतां धूलिमत्वं जहार। विरलं सान्तरं बद्धबिन्दुः निरन्तरायां हि वृष्टौ कर्म ससंभवाद्विरलग्रहणम्। कीदृक् मालतीनां मुकुलानि सद्यः समुपदधञ्जनयन्। किं परिसुरपतिसूनोर्धामाश्रमं परि तदाश्रम इत्यर्थः। अवनिग्रहणं कुसुमव्यवच्छेदार्थम्। यद्वा सुरपतिसूनोर्धामेत्यनेनावनि विशेषयितव्या पंचम्यापाङ्ग-परिभिरिति पंजमी। विधौ वर्जनार्थेनापेन साहचर्याद्वर्जनार्थस्य परेः पंचमीविधानाद-त्रार्थन्तरवाचिना परिणा योगे धामशब्दस्य कर्मप्रवचनीययुक्ततेति द्वितीया ॥20॥

प्रतिदिशमभिगच्छताभिमृष्टः ककुभविकाससुगन्धिनानिलेन।
नव इव विबभौ सचित्तजन्मा [7]कृतधृतिराकुलितश्च जीवलोकः ॥10.21॥

कामो नवोऽपूर्व इवाबभासे कुतः प्रतिदिशं दिशोदिश आगच्छता, तथा ककुभानां पुष्पविशेषाणां कामस्तेन सुगन्धिनानिलेनाभिमृष्टः। तेनैव च कृतधृतिः सुरभेर्वायोः शृङ्गारोद्दीपकत्वात्। जीवलोकस्तु ककुभानिलेनाभिमृष्टः सन्नाकुलितो व्याकुलीकृतो नव इवाबभासे। निपातानामनेकार्थत्वाच्च शब्दः पक्षान्तरद्योतकः। यद्वा पवनेन स्पृष्टः सचित्तजन्मा सकामो व्याकुलितः सञ्जनो नव इवाबभौ। च शब्दः पूर्वश्लोकक्रियामपेक्ष्य योज्यः ॥21॥

व्यथितमपि भृशं मनो हरन्ती परिणत[8]जम्बुरसोपभोगहृष्टा।
परभृतयुवतिः स्वनं [9]विचक्रे नवनव[10]पोषितकण्ठरागरम्यम् ॥10.22॥

परभृतयुवतिः कोकिलस्त्री स्वनं विचक्रे। कोकिला विशेषेण चुकूजयतः परिणतः परिपक्वो यो जम्बुरसो जम्बुफलरसस्तदा स्वादेन हृष्टा तुष्टा। अत एव व्यथितमपि चित्तं भृशमावर्जयन्ती नवं नवं कृत्वा पोषितो यः कण्ठरागः कण्ठमाधुर्यं तेन रम्यम् ॥22॥

अभिभवति मनः कदम्बवायौ मदमधुरे च शिखण्डिनां निनादे।
[11]जिन इव न धृतेश्चचाल जिष्णुर्न हि महतां सुकरः समाधिभङ्गः ॥10.23॥

यथाजिनो धृतेर्न चचाल तथा जिष्णुरर्जुनो धैर्यान्न लुलोठ। कदा कदम्बवायावत्येषां

---

7. गत
8. जम्बुफल
9. वितेने
10. योजित
11. जन

मनोभिभवति निर्वैर्यं कुर्वति। तथा शिखण्डिनां निनादे मयूररुते चित्तं धृतिहीनं कुर्वति सति मदेन मधुरे। युक्तमेतत् महतां सत्वशालिनां समाधिभङ्गो धैर्यलुण्ठनं न सुकरः। इन इवेति पाठे न साधुः। जनवदर्जुनो धैयान्ताचलदिति व्याखायां सत्यां प्रस्तुतहानिप्रसङ्गः स्यात् ॥23॥

धृतबिसवलयावलिर्वहन्ती कुमुदवनैक[12]दुगूलमात्तबाणा।
शरदमलतले सरोजपाणौ घनसमयेन वधूरिवाललम्बे ॥ 10.24 ॥

घनानां समयेन प्रावृट्कालेन शरन्निर्मलतले पद्महस्ते आललम्बे। वर्षाणां शरदश्च संसर्गः संपन्न इत्यर्थः। धृतिबिसानां वलयानामिवावलिर्यया तथा कुमुदवनमेवैकं दुगूलमावहन्ती, तथात्तबाणा गृहीतबाणाख्यपुष्पा। यथा वधूर्जनी विवाहसमये केनचित् पाणौ विषये गृह्यते। सा च धृतबिससमावलयपङ्क्तिः कुमुदसदृषमेकमतुल्यं दुगूलं धारयन्ती। गृहीतशरा च शरश्च क्षत्रिय या गृह्य इति दृष्टौ ॥24॥

समदशिखिरुतानि हंसनादैः कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या।
श्रियमतिशयिनीं समेत्य जग्मुर्गुणमहतां महते गुणाय योगः ॥ 10.25 ॥

समदानां शिखिनां रुतानि हंसनादैः समेत्य मिलित्वाऽधिकां शोभां प्रापुः। युक्तमेतत् गुणैर्ये महन्तो महागुणास्तेषां योगे महते गुणाय गुणोत्कर्षाय भवति। गुणाढ्यानां सम्बन्धो गुणोत्कर्षजनक इत्यर्थः ॥25॥

सरजसमपहाय केतकीनां प्रसवमुपान्तिकनीपरेणुकीर्णम्।
प्रियमधुरसनानि षट्पदाली मलिनयति स्म विनीलबन्धनानि ॥ 10.26 ॥

तपान्तीके नीपानां रेणुना कीर्णं स्वयं च सरजसं सपरागं केतकीनां पुष्पं त्यक्त्वा षट्पदपङ्क्तिरसनान्यसनपुष्पाणि श्यामीचकार। यतः प्रियं मधुकिञ्जल्कं यस्याः वर्षान्ते जात इति तात्पर्यम्। विशेषेण नीलं बन्धनं वृत्तं येषां विनील वृत्तत्वेनासनानां रसावर्ता भवतीति विशेषणमेतदुपन्यस्तम्। मधुपायी च मालिन्यमाश्रयस्य करोतीत्युक्त्यन्तरम् ॥26॥

मुकुलितमतिशय्य बन्धुजीवं धृतजलबिन्दुषु शाद्वलस्थलीषु।
[13]अविचलपुषः सुरेन्द्रगोपा विकचपलाशचयश्रियं समीयुः ॥ 10.27 ॥

धृता जलबिन्दवो याभिस्तासु शाद्वलस्थलीषु अविचलं निषण्णं वपुर्येषां ते सुरेन्द्रगोपाः खद्योताः विकचो यः पलाशचयः पलाशपुष्पसमूहस्तस्य प्रियं समीयुः प्रापुः। प्रापेण

---

12. दूकूल
13. अविरल

जलप्राये देशे खद्योतानां निवाससम्भावाद् धृतजलबिन्दुग्रहणम्। मुकुलितमलब्धविकासं बन्धुजीवपुष्पमतिशय्य जित्वा। बन्धुजीवपराजयः खद्योतानामनूपनिवासजातेन सखित्वेन वर्णतेजसोः प्रकर्षद्योतनार्थमुक्तः ॥27॥

अविरलफलिनीवनप्रसूनः [14]कुमुदितकुन्दसुगन्धिगन्धवाहः।
गुणमसयजं चिराय लेभे [15]विधूततुषारकणस्तुषारकालः ॥10.28॥

तुषारकाले हेमनोऽसमयजमकाण्डजातं गुणं महिमत्वादिकं चिरेण लेभे। समये हिमन्तः सदा स्वगुणांल्लब्धवान्। तदात्वकाले हिमर्तुर्गुणमलब्धेत्यर्थः। अविरलानि घनानि फलिनी वनानां प्रियङ्गुगहनानां प्रमूदानि यत्र सः। कुसुमितैः कुन्दैस्सुगन्धिर्गन्धवाहो यत्र सः। तथा विधूतास्तुषारकणा येन सः ॥28॥

निचयिनि लवलीलताविकासे [16]विदधति [17]रोद्रसमीरणे च हर्षम्।
विकृतिमुपययौ न पाण्डुसूनुश्चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः ॥10.29॥

पाण्डुसूनुर्विकृतिं प्रकृतिभेदं नोपययौ। विकृतिहेतुमाह लवलीलतानां विकासे रोद्रपुष्पाणां समीरणे च हर्षं विदधति निचयिनि वृद्धभाजि। अर्थान्तरन्यासमाह नयो देशकालोचितावस्थारम्भः। जिगीषतां जेतुकामानां जेतो नयान्नचलति ॥29॥

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः ॥10.30॥

कतिपयैरल्पैः सहकारपुष्पैः रम्यः तनुना विरलेन तुहिनेन विनिद्राणि विकस्वराणि सिन्धुवाराणि यत्र तथा भूतः सन्। सुरभिसुखं वसन्तारम्भे हिमागमान्तो हिमर्तुसमाप्तिस्ते शंसति सूचयन्। तथा स्मरस्यैकोऽतुल्यो बन्धुः शिशिरः समाययौ प्राप्तः ॥30॥

कुसुमनगवनान्युपैतुकामा किसलयिनीमवलम्ब्य चूतयष्टिम्।
क्वणदलिकुल[18]नूपुरं निरासे नलिनवनेषु पदं वसन्तलक्ष्मीः ॥10.31॥

वसन्तलक्ष्मीर्नलिनवनेषु पदं निरासे स्थानं व्यदात्। क्वणदलिकुमेवपरितः स्थितित्वादागमनसूचकत्वाच्छेभावहत्वाच्च नूपुरो यत्रैवम् किसलयिनीं पल्लवशालिनीं

---

14. कुसुमित
15. विरल
16. विजनयति
17. लोध्र
18. नूपुरा

चूतलतामवलम्ब्याश्रित्य प्रथमं चूतपुष्पैस्तदनुपद्मैर्वसन्तागमो लक्षित इत्यर्थः। कुसुमयुक्तानि नगवनानि पर्वतवनानि प्राप्तुमिच्छः। काचिच्चोद्यानेषु विहर्तुमिच्छुः मृदुहस्तासखीमालम्ब्य क्वणन्नूपुरं सत्कृतमार्गेषु निरस्यति पदम् ॥31 ॥

विकासितकुसुमाधरं हसन्तीं कुरबकराजिवधूं विलोकयन्तम्।
ददृशुरिव सुराङ्गना निषण्णं सशरमनङ्गमशोकपल्लवेषु ॥ 10.32 ॥

सुराङ्गनाः सशरं काममशोकद्रुमपल्लवेषु निषण्णमुपविष्टमिव ददृशुः। तत्रोपविष्टः किमकार्षीदित्याह विकसितः कुसुममेवाधरो यत्रैवं कृत्वा हसन्तीं कुरबकाख्यवृक्षपङ्क्तिवधूं पश्यन्तम् अशोकं दृष्ट्वा सर्वे कामायत्ता बभूवुरित्यर्थः। नायिकां च विकसितः कुसुमसदृशो हासांशुधवलीकृतत्वान्मृदुत्वाद्वाधर ओष्ठे यत्रैवं कृत्वानुरागोभ्देदमन्तीं पश्यन्तं लीलार्थं गृहीतशरं कश्चिन्नायकं स्त्रिलोकः पश्यति ॥32 ॥

श्वसनचलित[19]पल्लवाधरोष्ठी [20]नवविहितेर्ष्यामवावधूनयन्ती।
मधुसुरभिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुचुम्बे ॥ 10.33 ॥

षट्पदेन शाललतेव वधूश्चुचुम्बे। कुत्र मधुसुरभिणि पुष्परससुगन्धौ मुखे एव पुष्पे। श्वसनेन वायुना चलितः सकम्पः पल्लव एवाधरोष्ठो यस्याः। अत उत्प्रेक्ष्यते नवं विहिता ईर्ष्या यत्र एवमिव भृङ्गं वारयन्ती। केनापि बलात् काचिन्निःश्वासचलत् पल्लवसदृशैष्ठी सेर्ष्यं प्रतिक्षिपन्ती शीधुसुगन्धौ मुखे चुम्ब्यते ॥33 ॥

मुहुरनुपतता विधूयमानं विरचितसंहति दक्षिणानिलेन।
अलिकुलमलकाकृतिं प्रपेदे नलिनमुखान्तविसर्पि पङ्कजिन्याः ॥ 10.34 ॥

नलिनमेव मुखं तम्यन्ते विसर्पति तथा भूतमलिकुलं पद्मिन्य अलकाकृतिं चूर्णकुन्तलसाम्यं प्रपेदे प्राप्तम्। अनुपतता संसुखं वहता दक्षिणानिलेन मलयपवनेन मुहुर्विधूयमानं कम्प्यमानम् विरचिता संहतिः पङ्क्तिर्येन तत् ॥34 ॥

प्रभवति न तदा परोऽ[21]वजेतुं भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा।
अवजितभुवनस्तथा हि लेभे सिततुरगे विजयं न पुष्पमासः ॥ 10.35 ॥

जितेन्द्रियता यदा भवति। का आत्मनो रक्षा। यद्वा जितेन्द्रियतात्मरक्षा यदा भवति तदा परो जेतुं न समर्थः, जितेन्द्रियाञ्जेतुं कश्चिन्न समर्थ इत्यर्थः। तथा हि एतदेवोदाहृियते

---

19. पल्लवाधरोष्ठे
20. नवनिहित
21. विजेतुम्

अवजितानि भुवनानि येन तथा विधोऽपि पुष्पमासो वसन्तोऽर्जुने विजयं न लब्धवान्। अर्जुनस्यात्रात्मरक्षा जितेन्द्रियत्वम् ॥35 ॥

कथमिव तव सम्मतिर्भवित्री सममृतुभिर्मुनिनावधीरितस्य।
इति विरचितमल्लिकाविकासः स्मयत इव स्म मधुं निदाघकालः ॥ 10.36 ॥

विरचितो मल्लिकानां विकासो येन स निदाघकालो ग्रीष्मो वसन्तमिति स्मयते स्मेव उपहसतीव। ऋतुभिरस्मदाद्यैः समं सदृशतया सह वा मुनिनावधीरितस्यावगणितस्य। ते संमतिः कथमिव भवित्री संमानः कथं स्यात् क्व शब्दो नव क्लृप्त्यर्थः केन गुणेन वयं त्वां मन्यामहे यस्माद्वयं च भवांश्च मुनेर्धैर्यभ्रंशमात्रं कर्तुं न शक्ताः इतीव मल्लिकान्याजाद्। ग्रीष्म ऋतुपतिमुपाहसत् ॥36 ॥

बलवदपि बलं मिथोविरोधि प्रभवति नव विपक्षनिर्जयाय।
भुवनपरिभवी न यत्तदानीं तमृतुगणः क्षणमुन्मनीचकार ॥ 10.37 ॥

बलवदपि बलं सैन्यं विपक्षणां निर्जयाय न प्रभवति न शक्तम्। यदि बलवत्तर्हि कथं न प्रभवति विपक्षान्विजेतुमित्याह मिथोविरोधि अन्योन्यं विरोधपरम्। यद्यत ऋतुगणस्तं क्षणमपि नोन्मनीचकार विषयाभिलाषिणं नाकार्षीत्। कदाचिदशक्तः स्यादित्याह भुवनानि परिभवति तथा भूतः ऋतवश्च मिथोविरोधिनः प्रसिद्धः ॥37 ॥

श्रुतिसुखमुपवीणितं सहायै[22]रविकललाञ्छनहारिणश्च कालः।
अविहितहरिसूनुविक्रियाणि त्रिदशवधूषु मनोभवं वितेनुः ॥ 10.38 ॥

एतानि वस्तूनि त्रिदशवधूष्वप्सरस्सु मनोभवं कामं वितेनुः। कदाचिदर्जुनस्यापि धैर्यभ्रंशमकार्षुरित्याह न विहिता हरिसूनोर्विक्रिया यैस्तानि। कान्येतानीत्याह श्रुतिसुखं कर्णसुखप्रदं सहायैर्गन्धर्वैरुपवीणितं वीणयोपगानं तथा विकलैर्लाञ्छनैर्लक्षणैर्हारिणः कालावमन्ताद्यृतवः ॥38 ॥

न दलति निचये तथोत्पलानां न च विषमच्छद[23]कुन्दयूथिकासु।
अभिरतिमुपलेभिरे यथासां हरितनयावयवेषु लोचनानि ॥ 10.39 ॥

दलति विकसन्त्युत्पलानां निचये समूहे विषयेऽप्सरसां लोचनानि अभिरतिं प्रीतिं नोपलेभिरे। तथा सप्तच्छदेषु कुन्देषु यूथिकासु च नाभिरतिं तथा प्राप्तः। यथा हरितनयस्याङ्गेषु अभिरतिं प्रापुः। अर्जुन एव सानुरागाः स्त्रीदृशो पतन्नित्यर्थः ॥39 ॥

---

22. अविरल
23. गुच्छ

मुनिमभिमुखतां निनीषवो याः समुपययुः कमनीयतागुणेन।
मदनमुपदधे स एव [24]ताभ्यो दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम्॥ 10.40॥

कमनियता सौन्दर्यं सैव गुणस्तेन करणभूतेन मुनिमभिमुखतामायत्त्वं नेतुकामायाः समुपययुः। ताभ्यः स एव कमनियतागुणेन मदनं काममुपदधेऽजनयत्। कथमिदं विपरीतं संपन्नमित्याह प्रयोजनानां कार्याणां गतिर्निष्पत्तिर्दुरधिगमा दुष्प्रापा दुर्ज्ञाना वा साधयितुं ज्ञातुं वा कार्याणि न शक्यन्त इत्यर्थः॥40॥

तमेवार्थं प्रपंचेऽनुदर्शयति॥

प्रकृति[25]मभिससार नाभिनेयं प्रविकसदङ्गुलि पाणिपल्लवं वा।
प्रथममुपहितं विलासि चक्षुः सतितुरगे न चचाल नर्तकीनाम्॥ 10.41॥

तासां चक्षुर्दृष्टिः प्रकृतं कर्तुं प्रारब्धमपि अभिनेयं नृत्तं नाभिससार नागमत्। तथा प्रविकसन्त्यः करणे प्रवृत्तमाना अङ्गुलयो यस्य तं पाणिपल्लवं वा नापश्यत्। अदर्शने हेतुमाह प्रथममाश्रमप्राप्तिसमकालं सिततुरगेऽर्जुने पातितं नर्तकीनां चक्षुर्न चचाल, अन्यत्र न पपात। अतो नाट्यं नाभिनिन्ये। नृत्तप्रवृत्तं हस्तं च नाद्राक्षीत्॥41॥

अभिनयमनसः सुराङ्गनाया निहितमलक्तकवर्तनाभिताम्रम्।
चरणमभिपपात षट्पदाली धृतनवलोहितपङ्कजाभिशङ्का॥ 10.42॥

षट्पदाली चरणमभिपपात भ्रमरमालापादे न्यषीदत् निमित्तं निक्षिप्तम्। कुत अभिनयो भावप्रकाशकोऽङ्गविक्षेपस्तत्र मनोऽभिप्रायो यस्याः। अभिनयेन हेतुना क्षिप्ते पादे भ्रमरपातस्य हेतुमाह धृता नवं लोहितपङ्कजं कोकनदमिति शङ्का यया। शङ्का हेतुमाह अलक्तकस्य वर्तनांगुलिका तयाभिताम्रं रक्तम्॥42॥

अविरलमलसेषु नर्तकीनां द्रुतपरिषिक्तमलक्तकं पदेषु।
सवपुषमिव चित्तरागमूहुर्नमितशिखानि कदम्बकेसराणि॥ 10.43॥

..दम्बानां केसराणि अलक्तकमूहुः अधारयन्। तेषामलक्तकं कुत इत्याह नर्तकीनां पदेषु पदवीषु द्रुतमनुरागस्रुतस्वेदतया विगलितमतः परिषिक्तं लग्नम्। अलसेष्वर्जुन-गतचित्तत्वात्। अत्रोत्प्रेक्ष्यते सवपुषं मूर्तं चित्तरागमिव। यद्ययं चित्तरागस्तद्बहिः कथं निःसृत इत्याह अविरलं बहुलम्। बहुलं हि वस्तू स्वस्थाने वर्तमाना-भावाद्बहिर्निःसरति॥43॥

---

24. तासाम्
25. अनुससार

नृपसुतमभितः समन्मथायाः परिजनगात्रतिरोहिताङ्ग्यष्टेः।
स्फुटमभिलषितं बभूव वध्वा वदति हि संवृतिरेव कामितानि ॥ 10.44 ॥

वध्वा नृपसुतमभितोऽर्जुनविषयमभिलषितमभिलाषः स्फुटं प्रकटं बभूव समन्मथायाः। यतोऽर्जुनदृष्टिं प्रति परिजनानां सखीनां गात्रेण तिरोहिता व्यवहिता गात्रयष्टिर्यया। अङ्गच्छदनेन कथमनङ्गरागो लक्षित इत्याह संवृतिः संवरणमेव कामितानि वदति प्रकाशयति। यस्मिन्नेव स्त्रीणां संभोगाभिलाषस्तं प्रत्येव ताः संवरणं नाटयन्ति ॥44 ॥

अभिमुनि सहसा हृते परस्या घनमरुता जघनांशुकैकदेशे।
चकितमवसनोरु सत्रपायाः प्रतियुवतीरपि विस्मयं निनाय ॥ 10.45 ॥

चकितं चकितत्वं सविलासत्रासः प्रतियुवती सपत्नीरपि विस्मयं निनाय साश्चर्यं व्यधात्। चकितत्वे हेतुमाह अवसनौ उद्धूतवस्त्रौ ऊरू यस्याः। अत एव सत्रपायाः। कदा मरुता जघनांशुकस्याधराम्बरस्यैकदेशे हृते सति। कुत्राभिमुनि मुनिसंमुखम्। अर्जुनेऽभिलाषवशात् कस्याश्चिद्वातोद्धूतवस्त्रत्वात्प्रकटोरुत्वेन सलज्जायाः सत्याश्चकितत्व-मभूदित्यर्थः ॥10.45 ॥

धृतविसवलये निधायपाणौ मुखमधिरूषितपाण्डुगण्डकलेखम्।
नृपसुतमपरा स्मराभितापादमधुमदालसलोच[26]नाभिदध्यौ ॥ 10.46 ॥

अपरा नृपसुतमभिदध्यौ वीक्ष्यमाणा तस्थौ। कथं मधुमदे मदरहिते एवालसे लोचने यत्र। किं कृत्वा कामतापाद्धृतबिसवलये पाणौ मुखं निधाय। अधिरूषिते चूर्णादिनेषद्विलप्ते पाण्डुगण्डलेखे यस्य तत्। स्मरतापशान्त्यर्थमधिरूषणम्। काचित् कामातुरा चित्तवशाद्धस्ते सखं न्यस्य मुनिमेव संभागमनोराज्यसुखार्थमाकुलितनेत्रा वीक्ष्यमाणासीदित्यर्थः ॥46 ॥

सखि दयितमिहानयेति सा मां प्रहितवती कुसुमेषु[27]णाभिपन्ना।
हृदयमहृदया न नाम पूर्वं भवदुपकण्ठमुपागतं विवेद ॥ 10.47 ॥

चिरमपि कलितान्यपारयन्त्या परिगदितुं परिशुष्यता मुखेन।
गतघृण गमितानि [28]तत्सखीनां नयनयुगैः सममार्द्रतां [29]वचांसि ॥ 10.48 ॥

---

26. निदध्यौ
27. अभितप्ता
28. सत्सखीनाम
29. मनांसि

अचकमत सपल्लवां धरित्रीं मृदुसुरभिं विरहय्य पुष्पशय्याम्।
भृशमरतिमवाप्य तत्र चास्यास्तव सुखशीतमुपैतुमङ्कमिच्छा॥10.49॥

तदनघ तनुरस्तु सा सकामा व्रजति पुरा हि परासुतां त्वदर्थे।
पुनरपि सुलभं तपोऽनुरागी युवतिजनः खलु नाप्यतेऽनुरूपः॥10.50॥

जहिहि कठिनतां प्रयच्छ वाचं ननु करुणामृदु मानसं मुनीनाम्।
[30]उपनतमवधीरयन्त्यभव्याः स निपुणमेत्य कयाचिदेवमूचे॥10.51॥

कयाचिदेत्य निपुणमेवं पूवोक्तस्वरूपमूचे निवेदितः। कुसुमेषुणा कामेणाभिपन्ना मोहिता मति सा मामित्यतो हेतोः प्रहितवती व्यसृजत्। हे सखि सर्वदा मद्धितपरे त्वं मम दयितमिह सत्समीपमानय। कामेन मोहोत्पादनादहृदया सती सा स्वहृदयं भवदुपकण्ठमुपागतं न नाम विवेद नाज्ञासीत्। यदि ह्यज्ञास्यन्मां न व्यस्त्रक्ष्यत् त्वदेकायत्तप्राणेत्यर्थः॥ तत्तस्मात्कामोत्पादनाध्देतोः हे गतघृण निर्घृण निर्दयतया सखीनां नयनयुगैः समं वचांसि आर्द्रतां स्वमरणनिवेदनेन दीनतां गमितानि प्रापितानि। तदीयेष्वार्द्रेषु वचस्सु श्रुतेषु सखो रुदन्तीत्यर्थः। कीदृश्या विरहसन्तापात् परिशुष्यता मुखेन हेतुना वचांसि परिगदितुं वक्तुं चिरमपारयन्त्या। अशक्नुवत्या त्वया तस्या वचांस्यार्द्रतां नीतानीत्यर्थः। तत्सशकीनामित्येकपदम्। अविमृष्टानि कथं वदेदित्याह कलितानि विमृष्टान्यपि। यद्वा चिरमपि विमृष्टानि वचांसि वक्तुमशक्ततया तया सखीनामेव वचांस्यार्द्रतां शोचनरसवर्तां प्रापितानीति व्याख्येयम्। विरहसन्तापजनिताऽरतिःसती सा सपल्लवां भूमिमकाङ्क्षत्। कदाचिदूषरस्था साकाङ्क्षदित्याह मृदुश्चासौ सुरभिश्च तथा भूतां पुष्पशय्यां त्यक्त्वा। अथ पल्लवाद्यायां भूमौ च भृशमरतिं रणरणिकां प्राप्याऽस्यास्त्वत्सम्बन्धिनं सुखं सुखप्रदं यतः शीतं तथा भूतमङ्कं प्राप्तुमिच्छा। इच्छाभावसाधनप्रत्ययान्तः तत्र युष्मदर्थः कर्मभूतः। अतोऽरत्यवाप्तित्वादङ्का-श्रयणेच्छयोरेककर्तृकत्वम्॥ तत्तस्माद्धेतोः हे अनघ अद्य यावदसंपन्नपापतनुः दुर्बला सा सकामा प्राप्ताभिलाषास्तु त्वयाऽनुग्राह्या सेत्यर्थः। हि यस्मादर्थे सा त्वदर्थे त्वापद्दिश्य परासुतां परागतप्राणत्वं परैष्यति प्राप्नोति त्वत्कृते। यस्मान्म्रियते ततस्त्वामाप्नोत्वित्यर्थः। चिरसञ्चितं तपोऽवधूय मया सा कथं स्वीक्रियत इत्याह पुनरपि तपः सुलभं भवति दृढानुरागः कुलवयोरूपैरनुरूपः स्त्रीजनस्तु न लभ्यते। यद्वा यदि तामुपेक्ष्यसे तदा सा मरिष्यति। तपः पुनरपि सुलभं काकुस्वरप्रयोगेण न सुलभं दुर्लभमेवेत्यर्थः। युवतिजनश्चानुरूपोऽनुरागी न लभ्यते। स्त्रीहत्यायां सम्पन्नायां कतमत्तपः को वा स्त्रीणां त्वयि विश्वासः॥ त्वं कठिनतां जहिहि त्यजु त्वं वाचमुत्तरूपां प्रयच्छ देहि। ननु मुनीनां

---

30. उपगत

मानसं चेतः करुणापेशलम्। यदि दयां न कुरुषे तर्हि त्वं दम्भेन तपस्यसीति भावः। अभव्या अभाग्यभाजः उपनतमग्रे प्राप्तमवधीरयन्त्यवगणयन्ति ॥ 47, 48, 49, 50, 51 ॥ **पंचभिः कुलकम् ॥**

सललित[31]वलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसंयमनाकुलैकपाणिः।
सुरपतितनये परा निरासे मनसिजजैत्रशरं विलोचनार्धम् ॥ 10.52 ॥

परासरपतितनयेऽर्जुने विलोचनार्धं किञ्चिद् दृष्टिं निरासेऽक्षिपत्। मनसिजस्य जैत्र शरं कामस्य शरवत्कार्यसाधकमित्यर्थः। कीदृशी सललितं सविलासं कृत्वा। वलियं यत्त्रिकं तेनाभिरामा तथाङ्गवलनेन विकीर्णानां शिरसिजानामलकानां संयमनं स्वस्थाने निवेशनं तेनाकुल एकः पाणिर्यस्याः ॥52 ॥

[32]सकुसममवलम्ब्य चूतमुच्चैस्तनुरिभकुम्भपृथुस्तनानताङ्गी।
तदभिमुखमनङ्गचापयष्टिर्विसृतगुणेव समुन्ननाम काचित् ॥ 10.53 ॥

काचित्तदभिमुखं समुन्ननाम अर्जुनसमुखं जजृम्भे। कथं सुकुसुममुच्चैरुन्नतं चूतमवलम्ब्यालम्ब्य तन्वी इभकुम्भवत् पृथुस्तनौ यस्याः। अत उत्प्रेक्ष्यते विसृतोऽवरोपितो गुणो मौर्वी यस्याः। तथा भूता शरचापलतेव सचोन्नमति इदमत्र तात्पर्यम्। चूतवत्वादालिङ्गितुं ममेच्छेति द्योतयितुं चूतमालम्ब्य कस्याश्चिदुन्नमनम् ॥53 ॥

सरभसमवलम्ब्य नीलमन्या विगलितनीवि विलोलमन्तरीयम्।
अभिपतितुमनाः ससाध्वसेव च्युतरशना[33]वलिसन्दितावतस्थे ॥ 10.54 ॥

सरभसं सोत्कण्ठं सत्वरं वाभिपतितुमनाः सती काचिदवतस्थे सध्वमार्गेऽस्थात्। अवस्थानहेतुमाह च्युतया रशनावल्या सन्दिता वेष्टितपादा। किं कृत्वावतस्थे अनुरागवशात्पुलकोद्गमेन विगलिताच्छिन्ना नीविर्यस्य तदन्तरीयमान्तरं शाकटमवलम्ब्य हस्तेन रुद्धवा। अत उत्प्रेक्ष्यते ससाध्वसेव साधुसंवाञ्च गन्तुं न शक्नोति कराभरणकिरणसंपर्कान्नीलम्। यद्वा नीलमिति स्वरूपकथनम् ॥54 ॥

यदि मनसि शमः किमङ्ग चापं शठ विषयास्तव वल्लभा न मुक्तिः।
भवतु दिशति नान्यकामिनीभ्यस्तव हृदये हृदयेश्वरावकाशम् ॥ 10.55 ॥

इति विषमितचक्षुषाभिधाय स्फुरदधरोष्ठमसूयया कयाचित्।
अगणितगुरुमानलज्जयासौ स्वयमुरसि श्रवणोत्पलेन जघ्ने ॥ 10.56 ॥

---

31. यलित
32. कुसुमितम्
33. गुण

कयाचित्सोऽर्जुनः श्रवणोत्पलेनोरसि जघ्ने हतः। कीदृश्या विषमं विधृतं चक्षुर्यया अगणिते गुरूमानलज्जे यया। अभिमानश्च लज्जा च न कथं गणितेत्याह असूयया ईर्ष्यया। किं कृत्वा स्फुरन्नधरौष्ठो यत्रैवं कृत्वा इत्यभिधाय। भवतश्चेतसि यदि शमस्तदाऽङ्गचापं किम्, धनुषो हिंसासाधनत्वात् धनुर्ग्रहणे सत्यस्माभिरिदं लक्षितम् हे शठ दाम्भिक विषयभोगास्तव वल्लभाः मुक्तिस्तु न वल्लभा भुक्तिकामस्त्वं तपस्यसीति भावः। भवत्विति निपातोऽङ्गीकारार्थे। एतद् भवतु तव हृदये कापि हृदयेश्वरा प्राणनाथावकाशं प्रवेशं न ददाति। अतो वयं न रोचामह इत्यर्थः। अन्याः कामिन्यस्त्वां कामयन्ते। त्वं च तासु न सस्पृहः, कापि त्वद्धृदयं सद्ध्वा परकामिनीभ्यः प्रवेशं न ददातीत्युक्त्वा अतः सा हन्तव्येत्यभिप्रायं कृत्वा हृदयस्थितां तां कर्णोत्पलेन हतवती काचिदित्याशयः ॥55, 56 ॥ **युगलकम् ॥**

सविनयमपरा[34]विवृत्यं साचि स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मीः।
श्रवणनियमितेन तं निदध्यौ सकलमिवासकलेन लोचनेन ॥ 10.57 ॥

अपरा सविनयं स्वदुरवस्थानिवेदनपूर्वं साचि तिर्यग्विवृत्य वल्गित्वा तमसकलेन लोचनेन ऋजुश्रेण कटाक्षेण सकलमिव संपूर्णतयेव निरुध्यौ प्रेक्षामास। असकलेन सकलध्यानोक्तेर्विरोधाभासः। भाववशाद्विलोकनस्यासाकल्ये हेत्वन्तरमुत्प्रेक्ष्यते श्रवणेन नियमित निरुद्धप्रसरं स्मितेन किञ्चिद्धसितेन सुभगा एकस्मिल्लसन्ती कपोललक्ष्मीर्यस्याः सा ॥57 ॥

करुणमभिहितं त्रपा निरस्ता तदभिमुखं च विमुक्तमश्रु ताभिः।
[35]आकुपितमभिसारणेऽनुनेतुं प्रियमियती ह्यबलाजनस्य भूमिः ॥ 10.58 ॥

ताभिः करुणं दीनमभिहितम् यथा सखि दयितमिहानयेत्यादित्रपा ताभिस्त्यक्ता, यथा स्वयमुरसि श्रवणोत्पलेन जघ्न इत्यादि। तथा तदग्रे बाष्पं च मुक्तम्। तथानुनेतुमनुनयार्थिमभिसारणे समीपगमने अकुपितमनवलेपो नाटितः। यद्येतावता विधेयो न संपन्नस्तर्ह्यन्यदन्यदुपायान्तरे किं न कृत मित्याह प्रियमनुनेतुमबलालोकस्येयती शक्तिरेतावती शक्तिः ॥58 ॥

असकलनयनेक्षितानि लज्जा गतमलसं परिपाण्डुता विषादः।
इति विविधमियाय तासु भूषां प्रजावति मण्डयितुं वधूरनङ्गः ॥ 10.59 ॥

इत्येतत्कामविकारकदम्बकं तासु विषये भूषामियाय भूषणं संपन्नम्। विविधं किञ्चिद्दर्शनलज्जादिसरूपत्वात्। असकलैर्नयनैरीक्षितानि वीक्षणानि। तथा लज्जा तथालसं गतं गमनं तथा परिपाण्डुता तथा विषादो विषण्णता। कथं अनेकप्रकारं विषादादिकं

---

34. अभिसृत्यम्
35. पुकुपितम्

तासां भूषणं संपन्नमित्याह वधूर्मण्डयितुं भूषयितुं कामः शक्तः विषादादीनां काम जनितत्वाद्भूषणत्वमित्यर्थः ॥59 ॥

अलसपदमनोरमं प्रकृत्या जितकलहंसवधूगति प्रयातम् ।
स्थितमुरुजघनस्थलातिभारादुदितपरिश्रमजिह्मितेक्षणं वा ॥ 10.60 ॥

भृशकुसुमशरेषुपातमोहादनवसितार्थपदाकुलोऽभिलापः ।
अधिकविततलोचनं वधूनामयुगपदुन्नमितभ्रू वीक्षितं [36]वा ॥ 10.61 ॥

रुचिकरमपि नार्थवद्बभूव स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे ।
ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः ॥ 10.62 ॥

अलसपदैर्मनोरमं प्रकृत्या स्वभावेन जिता कलहंसवधूनां गतिर्गमनं येन तथाविधं प्रयातं सञ्चरणम्। तथोरुबृहज्जघनस्थलं तेनातिभारादुदितेन जातेन परिश्रमेण जिह्मिते ईक्षणे यत्र तत्स्थितम्॥ तथा भृशं कुसुमशरसम्बन्धिनामिषूणां पातेन मोहादनवसितो बोद्धुमशक्यो येषां तैः पदैराकुलोऽभिलाषः स्वावस्था निवेदनकथाः। तथाधिके विततते लोचने यत्र। अयुगपत्पृथक्पृथगुन्नमिते भ्रुवो यत्र तद्वीक्षितं वीक्षणं च वा शब्दः समुच्चयार्थः। एतच्चेष्टितमन्यासाम्॥ रुचिकरमभिलाषोत्पादकमपि अर्थवत्सप्रयोजनं पार्थे विषयेन बभूव। व्यक्तत्वापादने हेतुमाह स्तिमितेन निष्कम्पेन समाधिना चित्तग्रहणेन शुचौ काम्यवस्तूनि तृणवद्गणयतीत्यर्थः। एतं विशेषं सामान्येन समर्थयितुमाह अमर्षे शत्रुकृतपराभवजातरोषे मनांसि ज्वलयति सति महतां हृदये सुखाभिलाषोऽवसरं न लभ्यते **त्रिभिर्विशेषकम् ॥60, 61, 62 ॥**

स्वयं संराध्यैवं शतमखमण्डेन तपसा
परोच्छित्त्या लभ्यामभिलषति लक्ष्मीं हरिसुते ।
मनोभिः सोद्वेगैः प्रणयविहतिध्वस्तरुचयः
सगन्धर्वा धाम त्रिदशवनिताः स्वं प्रतिययुः ॥ 10.63 ॥

त्रिदशानां वनिताः स्वं धाम स्वर्गं सावेगैः सोद्वेगैर्मनोभिः सगन्धर्वाः प्रतिययुः। कदा खण्डेन तपसा करणभूतेन शतसखमिन्द्रं संराध्याराध्य हरिसुतेऽर्जुने लक्ष्मीमभिलषति सति। कीदृशीं परोच्छित्या शत्रुध्वंसेन लभ्याम्। प्रणयस्याभिलाषस्य विहतिरनिष्पत्तिस्तया ध्वस्ता रुचिः कान्तिर्यासाम्। यद्वा प्रणयस्याभिलाषस्य विहतिरनिष्पत्तिस्तया ध्वस्ता रुचिः कान्तिरर्जुनलोभनरूपा यासां ताः। शत्रुनिर्मलनावधिविषयत्यागनियमपरेऽर्जुने सति ताः स्वर्गं सोद्वेगं जग्मुरिति भद्रम् ॥63 ॥

इति श्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां दशमः सर्गः ॥

---

36. च

॥एकादशः सर्गः॥

अथामर्षान्निसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तया।
आजगामाश्रमं जिष्णोः प्रतीतः पाकशासनः॥11.1॥

अथाप्सरसां मनोरथभङ्गानन्तरं पाकशासन इन्द्रः जिष्णोरर्जुनस्याश्रममाजगाम। अगमने हेतुमाह प्रतीतः हृष्टः। प्रतीतौ हेतुमाह तया पूर्वोक्तया प्रसिद्धया वार्जुनसम्बन्धिन्या जितेन्द्रियतया तस्या हेतुमाह अमर्षाद्वैरिषु रोषात् निसर्गात्स्वभावतश्च। यद्वा दुर्योधनादिष्वमर्षादसहत्वेन निसर्गाद् भूवनप्रत्यवेक्षाकारणैकशीलत्वादर्जुनस्य सम्बन्धिन्या जितेन्द्रियतया तपःकरणेन हेतुनाऽऽश्रममिन्द्रोऽभ्यगात्। अस्यां व्याख्यायां च शब्दो भिन्नक्रमः। यद्वा जितेन्द्रियतया प्रतीत इति योज्यसम्॥1॥

मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः।
द्राघीयसा वयोतीतः परिक्लन्तः किलाध्वना॥11.2॥

सूनुनार्जुनेन इन्द्रः पुरोऽग्रे ददृशे पुर इत्येतदर्जुनस्य तपसि सावधानत्वद्योतनार्थम्। कदाचिद्वेगेनेन्द्र आगत इत्याह किल वयोतीतः। वयोतीतस्य दर्शनादिक्रिया सम्भवाद्वयोऽत्र व्यवस्थारूपवयोः ग्रहणार्थम्। तेन वर्षी या नित्यर्थो जातः। अत एव द्राघीयसा दूरतरेणाध्वना किल परिक्रान्तः मुनिवद्रूपं यस्य सः। अनुरूपेणेन्द्रसमगुणेनेत्यर्थः॥2॥

एतामेव वयोतीतां ता दर्शयति॥

जटानां कीर्णया केशैः संहत्या परितः सितैः।
पृक्तयेन्दुकरैरह्नः पर्यन्त इव सन्ध्यया॥11.3॥

सितैः कशैः परितः कीर्णया जटानां संहत्योपलक्षितः। इन्दुकरैः पृक्तया क्वचिद्व्याप्तया सन्ध्ययोपलक्षित अह्नः पर्यन्त इव। अतिवृद्धत्वादिन्द्रस्य दिनान्तोजटापङ्क्तेः सन्ध्या सितकेशानामिन्दुरुपमानम्॥3॥

विषदभ्रूयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचनः।
प्रालेयावततिम्बलानपलाशाब्ज इव ह्रदः॥11.04॥

तथा विषदेनं सितेन लम्बमानेन भ्रूयुगलेन च्छन्नेऽपिहिते वलितापाङ्गो वलिमदन्ते

लोचने यस्य सः। अत एव प्रालेयावत तुषारसंहत्या म्लानानि सङ्कुचितानि पलाशानिं पत्राणि येषां तथा भूतान्यब्जानि यस्य तादृशो यो ह्रदः स इव तत्सदृश इवेत्यर्थः। वलयत्वक्संकोचा विद्यन्ते ययास्तौ वलिनौपमादित्वान्नः। वृद्धानां हि सङ्कुचितानि चक्षूंषि भवन्ति। भ्रूयुगं च लम्बते। भ्रुवोर्हि समपाङ्गस्य पलाशं लोचनस्याब्जमुपमानं इन्द्रस्य गभ्भीर्यस्वच्छत्वाभ्यां ह्रदं उपमानम् ॥4 ॥

आसक्तभरनीकाशैरङ्गैः परिकृशैरपि।
आद्यूनः सद्गृहिण्येव प्रायो यष्ट्यावलम्बितः ॥11.5 ॥

परिकृशैर्दुर्बलैरपि आसक्तो भरो येषां तेषां नीकाशैः सदृशैरङ्गैरुपलक्षितः दुर्बलः कथं भारं गृह्णातीत्यपि शब्दार्थः। अत एव यष्ट्या प्रायः प्राचुर्येणावलम्बितः कृतालम्बः वार्धकवशजातेन निःसारत्वेनाङ्गानि स्वधारणासामर्थ्येन नम्राणि भवन्ति। कः कयेव सती प्रतिव्रताया गृहिणी पत्नीतया यथाऽऽद्यून औदारिक आललम्बयते। सद्वधूर्हि स्वात्मानमपि वाञ्छयित्वा पतिमेव पुष्णाति। दिवो विजिगीषायामिति नत्वम्। 'अद्यूनः स्यादौदरिको विजिगीषा विवर्जित' इत्यमरः ॥5 ॥

गूढोऽपि वपुषा राजन् धाम्ना लोकाभिभाविना।
अंशुमानिव तन्व[1]भ्रमण्डलच्छन्नमण्डलः ॥11.6 ॥

वपुषा गूढोऽपि वृद्धब्राह्मणरूपेण गोपितात्मापि लोकाभिभाविनाऽलौकिकेन धाम्ना तेजसा राजन् कोऽप्ययममानुष इति लक्ष्यमाणः यथांशुमानादित्यस्तनु विरलं यदभ्रमण्डलं तेन च्छन्नो मण्डलो यस्य सः। आदित्योऽपि तेजसा राजते ॥6 ॥

जरतीमपि बिभ्राणस्तनुमप्राकृताकृतिः।
चकाराक्रान्त[2]लक्ष्मीकं ससाध्वसमिवाश्रमम् ॥11.7 ॥

जीर्णामपि तनुं धारयन्न प्राकृता तेजो मयी अकृतिर्यस्य तथाविधः स आश्रमं ससाध्वसं सभयमिव चकार। यतः आक्रान्ता लक्ष्मीरोजोऽयम्। तदीयशमवृद्धत्वादि-दर्शनादाश्रमवासिनां तपोऽभिमानो भग्न इत्यर्थः ॥7 ॥ **कुलकम्** ॥

अभितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः ॥11.8 ॥

पृथासूनुरर्जुनस्तमिन्द्रमभितः स्नेहेन परितस्तरे छादितवान्। अतिप्रीतिभाजा दृष्ट्या

---

1. अभ्रपटलच्छन्नविग्रहः
2. लक्ष्मीकः

तमैक्षिष्टेत्यर्थः। एतदीयोऽहं पुत्र इति सम्बन्धमजानन्नेव कथमर्जुनस्तस्मिन्प्रीतिं भेजे इत्याह अविज्ञातेऽपि बन्धौ। बन्धुरयं ममेत्यज्ञातेऽपि बलान्मनः प्रह्लादते प्रीतिं प्राप्नोति ॥8॥

आतिथेयीमथासाद्य सुतादपचितिं हरिः।
विश्रम्य विष्टरे नाम व्याजहारेति भारतीम्॥11.9॥

हरिरिन्द्रो वक्ष्यमाणं भारतीमवदत्, आतिथेयीयमतिथेरुचितामपचितुं पूजामासाद्य। तथाविष्टरे आसने विश्रम्य नाम। नामशब्दोऽलीकार्थः न हि देवेन्द्रः श्राम्यति केवलं तत्त्वजिज्ञासाहेतोः खेदाभिनयः कृतः ॥9॥

त्वया साधु [3]समारब्धं नवे वयसि यत्तपः।
ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः॥11.10॥

तत्साधु मनोहरं भवति। भवता नवे वयसि तारुण्ये तपो यत्समारब्धं सम्यगारब्धम्। तरुणानां तपःकरणं कथमाश्चर्यमित्याह विषयैः शब्दादिभिर्मादृशो वर्षीयानपि मत्सदृशो जरढतरोऽपि ह्रियते विधेयी क्रियते। वार्धक्येऽपि परिहर्तुमशक्यां भोगवासनां जित्वा तरुणेनापि त्वया यत्तप आरब्धं तन्महदाश्चर्यम् ॥10॥

दौर्भाग्यनिर्गुणत्वादिकं तारुण्ये विप्रव्रज्यानिमित्तं तत्तव नास्तीति भङ्ग्या प्रतिपादयितुमाह॥

[4]श्रेयसीवत सम्प्राप्ता गुणसम्पदमाकृतिः।
सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं [5]तु गुणार्जनम्॥11.11॥

श्रेयसी प्रशस्यतरा तवाकृतिः शरीरं गुणानां संपदं समृद्धिं वत चित्रं संप्राप्ता। सौन्दर्यं विस्मयरहितस्य गुणार्जने कथमाश्चर्यमित्याह लोके रम्यता सौन्दर्यं सुलभा गुणार्जनं पुनर्दुर्लभम्। सौन्दर्यं प्रायो भवेत्, गुणास्तु विरलाः। त्वयि पुनः सौन्दर्यं च गुणाश्चेति चित्रम् ॥11॥

वृद्धानामपि भोगेच्छादर्शनेन भोगानेव सारतरान्मत्वा भोगेषु स्पृहन्ति। त्वया भोगेषु न स्पृहणीयमित्युपदेशं मुक्तिकामानां स्तुतिद्वारेणाह॥

शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः॥11.12॥

---

3. समारम्भि
4. श्रेयसीं तव
5. हि

अन्तकः पर्यवस्थाता जन्मिनः संततापदः।
इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जनः॥11.13॥

इत्यतो हेतोर्भावे जन्मन्येव त्याज्ये परिहर्तव्ये भव्यो जनः सचेतनः पुरुषो मुक्तौ विषये उत्तिष्ठते व्यापारं करोति। त्यागे हेतुमाह यौवनेन श्रियः शोभाः शरदम्बुधराणां छया तद्वद् गत्वर्यो लोला भवन्ति। तथा विषया भोगा आपातरम्या आरम्भमधुराः पर्यन्ते परितापदायिनः भोगे रोगभयात्। सततं नित्यमापदो व्याधयो दुःखा निचयस्य। तथाविधस्यापि शरीरिणोऽन्तको यमः पर्यवस्थाता शत्रुः॥ एवं मुक्तिकामानां सामान्येन स्तुतिं कृत्वा प्रकृते करोति॥13॥ **युग्मम्॥**

चित्तवानसि कल्याणी यत्त्वां मतिरुपस्थिता।
विरुद्धः केवलं वेषः सन्देहयति मे मनः॥11.14॥

कल्याणी मतिर्मुक्तिषया बुद्धिस्त्वां यदुपस्थिता प्राप्ता तत्वं चित्तवांश्चेतवान्भवसि मतिमतामेव मोक्षोन्मुखत्वात्। मुक्तिपाप्तेर्विरुद्धो बाणतूणधारणरूपो वेशो मम मनः सन्देहवत् करोति यदि मोक्षमभिलष्यसि। अतः कथं मोक्षविरुद्धमायुधधराणं करोष्यतो मम संशयो जात इत्यर्थः॥14॥

तमेव मुक्तिविरुद्धं वेशं प्रतिपादयति॥

युयुत्सुनेव कवचं किमामुक्तमिदं त्वया।
तपस्विनो हि वसते [6]केवलं वल्कलाजिने॥11.15॥

त्वयेदं कवचं किमामुक्तं कस्माद्धेतोः परिहितम्। अत उत्प्रेक्ष्यते युयुत्सुनेव योद्धुकामेनेव भटानां स्वरक्षार्थं कवचधारणात्। उपमावेयम्। कदाचित्तपस्विनोऽपि कङ्कटं परिदधतीत्याह तपस्विनः केवलं वल्कलंमजिनं च वसनम्। अजिनं हरिणादिचर्मवल्कलं भूर्जः॥15॥

गहनेषु सर्पादिदंशभयाद्धृतेन कवचेन न दोष इति निरसितुमाह॥

प्रपित्सोः किं च ते मुक्तिं निःस्पृहस्य कलेवरे।
महेषुधी धनुर्भीमं भूतानामनभिद्रुहः॥11.16॥

महान्ताविषुधीनिषङ्गौ यस्य तत्। अतो भीमं भीषणं धनुस्तव किम्। यतो मुक्तिं प्रापित्सोः प्राप्तुकामस्यातः कलेवरे शरीरे निःस्पृहस्य तथा भूतानामनभिद्रुहः हिंसावासनारहितस्य धनुषाहि कार्यद्वयं साध्यते स्वरक्षा प्राणिहिंसा वा। तच्च तव

---

6. केवलाजिनवल्कले

मुक्तिकामस्य न संभवतीत्यतो धनुः किमर्थम्। क्रुधद्रुहोरनुपसृष्टोः कर्मेति भूतानामिति कर्मणि षष्ठी ॥16 ॥

भयङ्करः प्राणभृतां मृत्योर्भुज इवापरः।
असिस्तव तपःस्थस्य न समर्थयते शमम् ॥11.17 ॥

प्राणभूतां प्राणिनां भीतिप्रदो भयो यस्यान्योऽन्यरूपो भुज इव खड्गस्तपसि तिष्ठतः शमं विषयनिवृत्तिं न समर्थयते, न प्रतिपादयति ॥17 ॥

तर्हि तपस्यतः किमर्थमायुधधारणमित्याह ॥

जयमत्रभवान्नूनमरातिष्वभिलाषुकः।
क्रोधलक्ष्म क्षमावन्तः क्वायुधं क्व तपोधनाः ॥11.18 ॥

अतो नूनमायुधधारणात्संभावयामि। अत्र भवानरातिषु जयं पराभवमभिलाषुकः। क्रोधचिह्नमायुधं क्व, क्षमावन्तः क्षमाशीलाः कोपवर्जितास्तपोधनाः क्व। अतस्त्वं शत्रुषु क्रोधात्तदूलनार्थं तपस्यसीत्यर्थः ॥18 ॥

जयप्राप्तिहिंसामूलेति तां दूषयितुमाह ॥

यः करोति वधोदर्का निःश्रेयसकरीः क्रिया।
ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पङ्क्यत्यपः ॥11.19 ॥

स मूढो निर्विवेकः अपो जलं पङ्क्यति पङ्कं करोति। कीदृशीः ग्लानिरोजः क्षयः स एव दोषस्तं भिन्दतीः शरीरौजो वर्धनीरित्यर्थः स्वच्छाः। स कः योनिः श्रेयमकरीर्मोक्षसाधनभूताः क्रियास्तपश्चणादिकाः वधो हिंसा उदर्कः कलं यासां ताः करोति। अयमर्थः मोक्षदानां कर्मणां हिंसासाधनत्वसंपादनं शीतलनिर्मलानां जलानां पङ्करणभिति वाक्यार्थो वाक्यार्थारोपः ॥19 ॥

विजयेन लक्ष्मीर्लभ्यते। तस्यां च लब्धायां धर्मार्थकामसेवासिद्ध्यती-त्याशङ्क्यार्थकामौ दूषयितुमाह ॥

मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः।
तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥11.20 ॥

मोक्षे नादरं कुर्वतस्तवकेव धर्मवार्ता। त्वमर्थकामौ मा स्म पुषः सावीवृधः, यतो हिंसादेर्दोषस्य मूलम्। अर्थलोभाद्धि धनी पापिभिर्हन्यते। कामयत्ताश्च रागवशाद्धिंसया न बिभ्यति। अर्थकामयोर्हिंसामूलत्वे पोषणाभावे हेतुमाह तवार्थकामौ तत्त्वावबोधस्य सारविवेकस्य दुरुच्छेदो दुर्निवारावुपप्लवौ। अर्थकामपरो हि न सारासारविवेकं करोति ॥20 ॥

न केवलं धनार्जनेन परहिंसा पातकं यावत्स्वस्यापि दुःखमिति दर्शयितुमाह ॥

अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन् गत्वरीः श्रियः।
उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम्॥ 11.21॥

गत्वरीरस्थिरा लक्ष्मीर्भूतानां द्रोहेणार्जयन्पुरुषो विपदां पात्रतां स्नानत्वमेति, यथा नदीनां समुद्रः। यद्वा भूतानामनभिद्रोहेण भवन्तीरिति श्रियां स्वरूपवर्णनमुखेन विपदागमस्य हेतुर्योज्यः॥21॥

या गम्यास्सत्सहायानां यासु खेदो भयं यतः।
तासां किं यन्न दुःखाय विपदामिव संपदाम्॥ 11.22॥

संपदां सम्बन्धि यद्दुःखाय न भवति तत्किं दुःखायैव सर्वमित्यर्थः। तदेव दुःखदायित्वं दर्शयति। सन्तः सहाया येषां कर्तृणां या गम्याः प्राप्याः सहाय बलात्प्राप्यन्त इत्यर्थः। यासु मतिषु खेदः रक्षादिचिन्तनात्। यतो धनहरणार्थीमां सा कश्चिद्वधेति याभ्यो भीतः। यथा विपदां तत्किं यद्दुःखदं न भवति। ताश्च चतुरसहायैरुङ्ध्यन्ते यासु सतीषु खेदः। यतो विपद्भ्यो भयम्। खेद भये विपत्सु प्रसिद्धे। एतेन विपदां संपदां च साम्यं दर्शितम्॥22॥

[7]दुरादानानरीनुग्रान् धृतेर्विश्वासजन्मनः।
भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुर्लभा॥ 11.23॥

भोगानध्यास्य सेवित्वाऽऽपद्दुर्लभा न भवति यतो दुरादानान्दुरापान् तथा विश्वासाज्जन्म यस्या धृतेः सुखस्योग्रानरीन्, ईश्वराणां पुत्रादपि भयसंभवात्। यथाऽऽहेयानहिसम्बन्धिनो भोगान्कायानाश्रित्यापन्न दुर्लभा भवति तेऽपि दुष्टमादानं ग्रहणं येषां सम्बन्धि तान् विश्वासस्य शत्रून् सर्पाणां सविषत्वात्॥23॥

नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः॥ 11.24॥

श्रियः अन्तरं गुणवानयमाश्रयणीयो निर्गुणोऽयं त्याज्य इत्येवं रूपं न जानन्ति गुणिनां दारिद्रयस्य मूर्खाणां च विभवस्य दर्शनात्। आसां लक्ष्मीणां पुरुषैः प्रियैर्न भूयते अनेनाहं प्रयत्नेनार्जितातोऽमुं न त्यजामीति न लक्ष्मीणां स्थैर्यम्। अमी जनास्तासु स्त्रीष्वासक्ता अनुरक्ताः। अविशेषज्ञास्वचलासु च लक्ष्मीषु कथं जनाः सक्ता इत्याह मूढत्वाज्जन्तवो वासमस्निग्धं शीलयन्ते सेवन्ते इति वामशीलाः॥24॥

कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः।
साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव संपदः॥ 11.25॥

---

7. दुरासदान्

अशीलेषु दुराचारेषु पुरुषेषु विषये श्रियश्चञ्चला यद्भवन्ति, अतश्चञ्चलत्वे स्तुतिपदे स्तुतेः स्थाने तासामपवादोऽपयशः कः। दुःशीलत्यागेन लक्ष्मीणां न निन्दा किन्तु स्तुतिरेवेत्यर्थः, दुःशीलानां सर्वैर्वर्जनीयत्वात्। कस्तर्हि तासामपवाद इत्याह संपदः साधुवृत्तान्दुःशीलानपि विक्षिपन्ति त्यजन्ति। त्यागे हेतुमाह क्षुद्रा दुराशयः। दुःशीलत्यागः स्तुतिर्नतु श्रीणां सा निन्दा, इयं तु निन्दा यत्साधूनपि त्यजन्ति। लक्ष्म्यः सर्वेष्वेव लोला इति तात्पर्यम्॥25॥

हिंसायावश्यंभाविनो विप्रयोगस्य दोषोदीरणद्वारेण हिंसां दूषयितुमाह॥

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च विधुरं मनः।
अप्रियैरिव संयोगो विप्रयोगः प्रियैः सह॥11.26॥

शून्य[8]मापूर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः।
विप्रलम्भोऽपि [9]लाभस्तु सति प्रियसमागमे॥11.27॥

तदा रम्याण्यरम्याणि प्रियाः शल्यं तदासवः।
तदैकाकी सबन्धुः सन्निष्टेन रहितो यदा॥11.28॥

युक्तः प्रमाद्यसि हितादपेतः परितप्यसे।
यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्जि भवता जने॥11.29॥

परपीडार्थमेव भवान् प्रवृत्तः। आयुधानामनन्यकार्यत्वात् तत्र भवतः स्वात्मनः पीडा यदि नेष्टा यस्मादात्मनः पीडां विप्रियां मन्यसे ततो हेतोर्भवता जने विषये पीडा मा सञ्जि अन्यस्मिञ्जने हिंसा न कार्येत्यर्थः। तदेवार्जुनस्य स्वात्मविषयपीडानामनिष्टत्वं दर्शयति। त्वं वक्तो हितेन प्रियेण प्राप्तयोगः प्रकर्षेण सद्यसि तुष्यसि हितात्प्रियादपेतो विष्लिष्टः परितप्यसे सन्तापं व्रजसि। न केवलं तवैव स्वपीडानामनिष्टत्वं यावदन्येषामपीति दर्शयितुमाह॥ प्रियैः हितैः सह विप्रयोगोऽन्यदेहेषु भाविषु वा जन्मान्तरेषु मनोविधुरं ससन्तापं कृतवान् अकार्षीत्। कर्ता करिष्यति च। यथाऽप्रियैरस्निग्धैः सह संयोगो भूतेषु भाविषु च देहान्तरेषु सन्तापदः प्रियसङ्गमादुत्पन्नस्य सुखस्य स्तुतिद्वारेण तत्प्रतिपक्षभूतां हिंसामेव दूषयितुमाह॥ शून्यमरण्यमपि आकीर्णस्य जनाकीर्णस्य नगरादेर्भावमेति। तथा व्यसनं दुःखादिकमप्युत्सवैः सदृशम्। तथा विप्रलम्भो वञ्चनापि लाभः। कदा प्रियाणां सङ्गमे समागमे सति प्रियसङ्गमे दुःखान्यपि सुखायन्तु इत्यर्थः।

---

8. आकीर्णताम्
9. लाभाय

व्यतिरेकमुखेन प्रियसङ्गमेव स्तोतुमाह यदा पुरुष इष्टेन रहितः प्रियविश्लिष्टः तदा रम्याण्यरम्याणि भवन्ति। तदासवः प्राणा अपि शल्यं भवन्ति, तदा सबन्धुनापि सन्नेकाकी भवति।। 26, 27, 28, 29 **॥कलापकम्॥**

[10]जन्मनोऽस्य स्थितिं विद्वाँल्लक्ष्मीमिव चलाचलाम्।
भवान्मा स्म वधीन्न्याय्यं [11]न्यायाचारा हि साधवः॥ 11.30॥

भवन्न्याय्यं सदाचारं मा स्म वधीमात्याक्षीत्। त्यागाभावे हेतुमाह अस्य जन्मनो देहस्य स्थितिं लक्ष्मीमिव चलाचलामतिचलां विद्वाञ्जानन्। यथा लक्ष्मीस्तथा प्राणा अप्यस्थिरा इति जानन् यदर्थं हिंसादि कृत्वा धनमर्ज्यते त प्राणा न स्थिरा इत्यतः परपीडा न कार्येत्यर्थः। अस्थिरेऽपि जीविते सर्वेषु हिंसैकलभ्यं धनमर्जयस्वहं कथं निषिद्ध इत्याह हि यस्माद्धे साधवस्ते न्यायमाचरन्ति॥30॥

विजहीहि रणोत्साहं मा तपः साधु नीनशः।
उच्छेदं जन्मनः कर्तुमेधि शान्तस्तपोधन॥ 11.31॥

अतो हेतोस्त्वं रणोत्साहं सङ्ग्रामोद्यमं त्यज, त्वं साधु मोक्षलाभयोग्यं तपो मा नीनशः। येन मोक्ष प्राप्यते तत्तपः शत्रुहिंसार्थं मा व्ययी कृषाः। एतदेव प्रपंचयति त्वं जन्मनः संसारस्योच्छेदं निवृत्तिं कर्तुं शान्त एधि निवृत्तरागो भव॥31॥

एवमुक्तेऽप्यदि तव जिगीषा न निवर्तते तत्तामेव सेवस्वेत्याह॥

जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः।
जितेषु [12]तेषु लोकोऽयं [13]ननु कृत्स्नस्त्वया जितः॥ 11.32॥

देहेऽपि तिष्ठन्तो दुर्जया नेत्रादयः शत्रवस्त्वया जेतव्याः। तैर्जितैः किं फलमित्याह तेष्विन्द्रियेषु जितेषु सत्सु यस्मात्सर्वो लोकस्त्वया जितः कृतस्न इति दवीयसो नेदीयश्च लोकस्य ग्रहणार्थम्॥32॥

इन्द्रियजयमेव प्रशंसितुं व्यतिरेकमुखेनाह॥

परवानर्थसंसिद्धौ [14]नीचैर्वृत्तिरपत्रपः।
अविधेयेन्द्रियः पुंसां गौरवैति विधेयताम्॥ 11.33॥

---

10. जन्मिनः
11. न्यायधारा
12. ननु
13. तेषु
14. नीचवृत्तिः

अविधेयान्यनायत्तानीन्द्रि ाणी यस्य सः पुंसां विधेयतामायत्ततामेति। यतोऽर्त-कार्यस्य संसिद्धौ परवान्स्वामि हतः तथा नीचैर्वृत्तिर्यस्य तथाऽपत्रयो निर्लज्जः यथा गौः पुंसामायत्तत्वमेति स चाकुस्य भोज्यस्य संसिद्धौ परवान्। अन्यदत्तेनैव तृणादिना जीवन् नीचस्थितिर्निर्लज्जश्च ॥33॥

यदि सुखानि शाश्वतानि स्युस्तन्नीचत्वमप्यालम्बनीयमित्याह॥

श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाधुनातनी।
इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मा गास्तदङ्गताम्॥11.34॥

त्वयाऽधुना भवाऽधुनातनी सुखसंवित्तिर्भोगानुभवः श्वोऽन्ये द्युं स्मरणीया अद्य भक्तान्भोगाञ्श्वः स्मरस्येव न पुनस्ताननुभवसीत्यतो हेतोः। कामान्सुखानुभवान्स्वप्न-समाञ्ज्ञात्वा त्वं तदङ्गतां भोगपरतां मा गाः॥34॥

अन्यं च भोगत्यागे हेतुमाह॥

श्रद्धेया विप्रलब्धारः प्रिया विप्रियकारिणः।
सुदुस्त्यजास्त्यजन्तोऽपि कामाः कष्टा हि शत्रवः॥11.35॥

हि यस्मादर्थे कामाः कष्टा विषमाः शत्रवः श्रद्धेयाः श्रद्धातव्याः स्पृहणीयाः विप्लब्धारो वञ्चकाः शत्रुस्तावन्न स्पृह्यते। यच्च स्पृहते स वञ्चको न भवति। कामाः पुनः स्पृहणीया वञ्चकाश्चेति कष्टा शत्रवः एवमग्रेऽप्यूह्यम्। तथा प्रिया अपि विप्रियं कुर्वन्ति। तच्छीलाः त्यजन्तोऽपि सुष्टुदुःखेन त्यज्यन्ते सर्वथासुखान्यहितानीत्यर्थः॥35॥

इदं च स्थानं मुक्तिसाधनमतस्त्वयि मुक्तिः सुलभेति दर्शयितुमाह॥

विविक्तेऽस्मिन्नगे भूयः [15]पाविते जह्नुकन्यया।
प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वां पुरा मा भूरुदायुधः॥11.36॥

विविक्ते विजने। तथा गङ्गया पवित्रतां जनयन्त्यस्मिन्देशे त्वां मुक्तिः प्रत्यासीदति अचिरेणैष्यति। त्वमुदा युधः सङ्ग्रामसज्जो मा भूः। हस्ते प्राप्तं मोक्षं मा त्याक्षीरित्यर्थः॥36॥

व्याहृत्य मरुतां पत्याविति [16]जोषमवस्थिते।
वचः [17]प्रश्रितगम्भीरमथोवाच कपिध्वजः॥11.37॥

---

15. प्लाविते
16. वाचम्
17. पुश्रय

कपिध्वजोऽर्जुनो वच उवाच प्रश्रितं विनीतं गम्भीरं च तत्। कदा इत्येवं व्याहृत्योक्त्वा मरुतां पत्यौ देवेन्द्रे जोषमवस्थिते रूष्णीभूते सति ॥37॥

प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम्।
साकाङ्क्षमनुपस्कारं विष्वग्गति निराकुलम्॥11.38॥

न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे।
अप्रकम्प्यतयान्येषामाम्नायवचनोपमम्॥11.39॥

अलङ्घ्यत्वाज्जनैरन्यैः क्षुभितोदन्वदूर्जितम्।
औदार्यादर्थसंपत्तेः शान्तं चित्तमृषेरिव॥11.40॥

इदमीदृ[18]ग्गुणं देशे लब्ध्वावसरसाधनम्।
व्याकुर्यात्कः प्रियं वाक्यं यो वक्ता नेदृगाशयः॥11.41॥

ईदृक् प्रसादरम्यत्वादिगुणयुक्तः न ईदृगाशयो हृदयं यस्य स इदं वाक्यं व्याकुर्याद्वक्तुं शक्नुयात्, आशयानुसारेणैवोक्तिस्मरणात्। त्वमेवाशेषवक्तुविलक्षणाशयो वक्तुं शक्त इत्यर्थः। तानेव वाक्यस्य गुणानाह प्रसादः सुबोधता तेन रम्यम्। ओजस्वि अदीनम्। यच्च प्रसन्नं तदोजस्वि कथं भवति, प्रसादो हि समासरहितवृत्तिविषयः। ओजस्तु दीर्घसमासवृत्ति विषमम्। तथा गरीयो महार्थमपि लाघवान्वितं सङ्क्षिप्तम्। यश्च गरीयस्तत्कथं लघु भवति, गौरवलाघवयोः परस्परविरुद्धत्वात्। सहाकाङ्क्षया दर्शनान्तरमव्यपेक्षत्वेन वर्तते तत्। विमर्दमहमित्यर्थः। अनुपस्कारमध्याहाररहितम्। सोपस्कारतैव साकाङ्क्षतेऽति विरोधप्रतिभा सा विश्वग्गति सर्वविषयं सर्वेषामुपदेशरूपेण ममैव निराकुलं सङ्कुलमनालूनं विशीर्णं न भवति। यच्च विश्वग्गति तदाकुलं प्रायो न भवति। तथा न्यायो युक्तिस्तेन निर्णीतसारं निश्चिततत्त्वम् ततश्च न्यायनिर्णीतसारत्वादागमे निरपेक्षमेव न पुनरागमबाह्यमन्येषां प्रतिवादिनां प्रकम्पयितुमशक्यत्वात्। आम्नायवचनतुल्यम् न हि वेदवाक्यं केनचिद्वादिना चालयितुं शक्यते। अन्यैर्जनैर्लङ्घयितुभशक्यत्वात्। क्षुभितोदन्वदूर्जितं क्षुभितस्योद्वन्वत इवोर्जितमूलमहिमा यस्य तत्। औदार्यमग्राम्यतादि अर्थसंपत्तिभिधेया विशेषयोगः। अत औदार्यार्थसंपत्तियोगाच्छान्तमुनिचित्तसदृशमुपशमयुक्तं मुनेश्चेत उदारमहेच्छं स्वाधीनसर्वार्थ-समृद्धिकं भवति। एवं विधे शान्ते देशे लब्धोऽवसरःकालः साधनं येन तल्लब्धावसर-साधनमस्मिन्देशेऽस्मिन्काले च यद्वक्तुमित्यर्थः। इदं वाक्यमीदृग्गुणमेवंविधं पूर्वोक्तगुणविशिष्टं को वक्तुं व्याहर्तुं शक्नुयात्, त्वां विनेत्यर्थः। सर्वोपदेशमनाकुल-मनालूनविशीर्णं न्यायेनोपपत्या निश्चितसारत्वादनपेक्षतागमम् उपपत्तिप्रमाणेन सिद्धत्वान्न

---

18. गुणोपेतम्

तु दूषितागमवाद्यन्तराप्रकम्प्यत्वाद्वेदवचनतुल्यम् सामान्यजनागम्यत्वादब्धितुल्यम् औदार्यमग्राम्यतादिः अर्थसंपत्तिरभिधेयविशेषयोगः। अत एव हेतोः शान्तमुनिचित्त मिवेदृग्गुणं वाक्यं देशकालौ समीक्ष्य को वक्ता व्याकुर्यात्प्रपंचयेत् ॥38, 39, 40, 41॥ **चक्कलकम्॥**

न ज्ञातं तात यत्नस्य पौर्वापर्यममुष्य ते।
शासितुं येन मां धर्मं मुनिभिस्तुल्यमिच्छसि॥ 11.42॥

हे तात पूज्य त्वया मे मत्सम्बन्धिनोऽस्य यत्नस्य तपसः पौर्वापर्यं हेतुहेतुमद्भावो न ज्ञातम्। यद्यतो मुनिभिस्तुल्यं धर्मं मोक्षोऽद्य सरूपं मां शासितुमुपदेष्टुमिच्छसि। अयमनेन हेतुना एतदर्थं तपसि प्रवृत्त इति भवान्यद्यज्ञास्यन्मां मुक्तिमार्गेनैव प्रायोक्ष्यतेत्यर्थः॥42॥

यदि पौर्वापर्यं न ज्ञातं तत्किमित्याह॥

अविज्ञातप्रबन्धस्य वचो [19]वाचामधीशितुः।
व्रजत्यफलतामेव नयद्वुह इवेहितम्॥ 11.43॥

वचो जल्पनमफलतां निष्फलत्वमेव व्रजति। कस्य वाचामधीशितुः बृहस्पतेरपि, किं पुनरन्येषाम्। अविज्ञातः प्रबन्धः पौर्वापर्यं हेतुहेतुमद्भावो येन। कस्य किमिव नयं, यो द्वह्यति नीत्यतीतस्येहितं चेष्टितं यथा निष्फलतां व्रजति॥ एतदेव निष्फलत्वं दर्शयति॥43॥

श्रेयसोऽप्यस्य ते तात वचसो नास्मि भाजनम्।
नभसः स्फुटतारस्य रात्रेरिव विपर्ययः॥ 11.44॥

ते त्वत्सम्बन्धिनः श्रेयसो गुणमस्यापि वचसोऽहं भाजनं पात्रं नास्मि। त्वदुपदेशं न शृणोमीत्यर्थः। यथा रात्रेर्विपर्ययो वासरः स्कुटा तारा यस्य तस्य नभसो न भाजनम्॥44॥

एवमतिथिकृतायाः प्रार्थनाया भङ्गमाशक्य तत्र हेतुं दर्शयितुमाह॥

क्षत्रियस्तनयः पाण्डोरहं पार्थो धनञ्जयः।
स्थितः प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने॥ 11.45॥

अहं क्षत्रियो भवामि एतेन मोक्षोपदेशभाजनभूता ब्राह्मणजातिर्मम नास्तीति दर्शपति पाण्डोस्तनयः। एतेन मम क्षत्रियजातिमात्रं किन्तु प्रसिद्धवंशतेति दर्शयति। स च पार्थो न तु माद्रेयः। पृथा हि पृथुवंशजा। स च धनञ्जयः। अर्जुनादिषु बहुषु नामान्तरेषु संभवत्स्वपि धनुञ्जय इति नामग्रहणं मोक्षोपदेशानर्हत्वप्रतिपादनार्थम्। यदीदृशो भवांस्तत्कि तपश्चरसीत्याह

---

19. वाचस्पतेरपि

दायादैर्गोत्रजैः प्रास्तस्य तिरस्कृतस्य ज्येष्ठस्य भातुः शासने निदेशे स्थितः भ्रातुराज्ञया तपस्यामीत्यर्थः ॥45 ॥

यदि भ्रातुस्तिरस्कारनिवृत्तये तपस्यसि तदेदृशः कथं वेश इत्याह ॥

कृष्णद्वैपायनादेशादिबभर्मि व्रतमीदृशम् ।
भृशमाराधने यत्तः स्वाराध्यस्य मरुत्वतः ॥ 11.46 ॥

कृष्णद्वैपायनस्य व्यासस्यादेशादहमीदृशं सायुधं व्रतं बिभर्मि, न तु मया स्वेच्छया परिकल्पितमित्यर्थः । तेन चेदृशं व्रतं कथमादिष्टमितयाह मरुत्वत इन्द्रस्याराधने भृशं यत्तो यतते स्म यत्तो यत्नवान् । विजयदेवताह्युग्रा अतस्तेनोपदिष्टमिति भावः । भृशमिति वचनात्स्वस्य तपश्चरणविस्मयेन निन्दामाशङ्क्याह स्वाराध्यस्य सुखेनाराधनीयस्य । अन्येषां यः सुखेनाराध्यस्तस्याराधनेऽहं यत्नवानिति स्वस्य तपः क्लेशासहत्वं दर्शयति ॥46 ॥

यस्याज्ञया त्वं धनञ्जयस्तपः करोषि स गोत्रजैः कथं तिरस्कृत इत्याह ॥

दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमात्मा वयं वधूः ।
नीतानि पणतां [20]पूर्वमीदृशी भवितव्यता ॥ 11.47 ॥

दुष्टाच्छलप्राप्य जया येऽक्षाः पासकाद्यास्तान्दीव्यता खेलयता राज्ञा कर्त्रा राज्यमात्मा वयं वधूरेतानि पणतां ग्लहतां नीतानि । यदि भवद्भिर्जीयते तदा एते सर्वे पदार्था हार्यन्त इति पणी कृतवान् । दिवः कर्म चेत्यक्षशब्दादिद्वितीया । यद्यक्षा दुष्टास्तत्किमक्षै राजा रमत इत्याह भवितव्यता ईदृशी राज्यभ्रंशरू पा भवति ॥47 ॥

यद्यक्षखेलनजातस्य राज्यहरणरूपस्य तिरस्कारस्य शोधनमेव तपसो हेतुस्तर्हि राज्ञा वा तदनुजैर्वा तपस्तप्तव्यं, भवता तु मोक्षमार्ग एव प्रक्रमणीयमित्याह ॥

तेनानुजसहायेन द्रौपद्या च मया विना ।
भृशमायामियामासु यामिनी[21]ष्वनुतप्यते ॥ 11.48 ॥

अनुजसहितेन तेन द्रौपद्या च कर्तृभ्यां मया विना यामिनीषु भृशमनुतप्यते, मामेवापेक्षन्त इत्यर्थः । अत एवायामिनो दीर्घा यामाः प्रहराया माम् । इष्टस्य दूरतरत्वेन चिन्तया रात्रयो विस्तारिण्यो मन्यन्ते । यामिनीष्विति दिवसे स्नानार्चनपरत्वद्योतनार्थम् ॥48 ॥

परवानर्थसंसिद्धावित्यादिनेन्द्रियविधेयत्वादर्जुनं प्रति यदुपालम्भः शक्रेण कृतस्तन्निरसितुं श्लोकष्टकमाह ॥

---

20. नूनम्
21. अभितप्यते

[22]हृतोत्तरीयान्प्रसभं सभायामागतह्रियः।
मर्मच्छिदा नो वचसा निरतक्षन्नरातयः॥11.49॥

अरातयो वैरिणो नः कर्मभूतान्मर्मच्छिदा वचसा करणभूतेन निरतक्षान्निःशेषेणातक्षन्। छेदकेन च वच आदिना तक्ष्यते। प्रथमं केनातक्षन्निति विशेषणमुखेनाह प्रसभं सभाया बलाद्धृतमुत्तरीयं वस्त्रं येषामत एवागतह्रियो जातलज्जान्॥49॥

उपाधत्त सपत्नेषु कृष्णाया गुरुसन्निधौ।
भावमानयने सत्याः सत्यङ्कारमिवान्तकः॥11.50॥

अन्तको यमो भावमभिप्रायं सत्यङ्कारमिवावद्रङ्गमिवोपाधत्त दत्तवान्। कुत्र सत्याः पतिव्रतायाः कृष्णाया आनयने। केषु सपत्नेषु शत्रुषु विषये। आनयनं कदा गुरुसन्निधौ गुरुषु सन्निहितेषु। गुरू णामग्रे द्रौपदी शत्रुभिर्यदानीता तदैव यमः शत्रुक्षयार्थं शत्रूणामवद्रङ्गं ददावित्यर्थः। दाराणामप्यवमानः सोढ इत्यतः किं जितेन्द्रियत्वमिति तात्पर्यम्॥50॥

तामैक्षन्त क्षणं सभ्या दुःशासनपुरःसराम्।
अभिसायार्कमावृत्तां छायामिव महातरोः॥11.51॥

दुःशासनो दुर्योधनानुजः पुरःसरोऽग्रवर्ती आक्षेपकत्वाद्यस्यास्तथा भूतां तां द्रौपदीं सभ्याः सभासदः क्षणमैक्षन्त दृष्टवन्तः। क्षणमिति दर्शनान्तरमेव शोकेन निमीलिताक्षत्वात् साये मध्याह्नान्तेऽर्कमभिसंमुखं वर्तमानस्य महातरोरावृत्तां पश्चाद्गतां छायामिव। दुर्योधनस्य तत्रावश्यसन्निहितत्वाद्दुर्योधनस्थानीयोऽर्को दुःशासनस्तरुसमः द्रौपदी छायासमा। सायं शब्दो मध्याह्नादुत्तरस्य कालस्योपलक्षणार्थः, तदा हि द्रुमच्छाया स्वल्पा भवति। द्रौपदी च दुःशासनेन स्वात्मनः पश्चात्स्थापिता प्रतिपं गन्तुकामा भयलज्जाशोकसन्निपातात्सङ्कुचिताङ्गी तदा संपन्नेति सा यार्कसंमुखस्थितवृक्षच्छायामुपमानत्वेनोपन्यस्यार्जुनेन सूचितम्। यद्वा सायं शब्दो दुर्योधनस्य विनाशसूचनार्थः। स ह्यर्कस्योपमानम्। केचितु सभ्यस्थानीयमर्कमाहुः, तत्तु न तथा, प्रातीतिकम् न हि सभ्योपमानभूतोऽर्कः छायां पश्यति॥51॥

द्रौपद्या असतीत्वशङ्कामपाकर्तुमाह॥

अयथार्थक्रियारम्भैःपतिभिः किं तवेक्षितैः।
अरुध्येतामितिवास्या नयने बाष्पवारिणा॥11.52॥

तदानीमस्या द्रौपद्या नयने बाष्पवारिणा अरुध्येतां भयवशाद्रुरोदेत्यर्थः। अत्र

---

22. हृतोत्तरीयम्

हेत्वन्तरमुत्प्रेक्ष्यते अर्थक्रियाया अनतिक्रमणं यथार्थक्रियं कार्यकरणम्। तच्च पालनलक्षणं पति शब्दस्य रक्षार्थत्वात् न यथार्थक्रियान्तररम्भो येषां तैः पालयितुमसमर्थैरित्यर्थः। यद्वा अयथार्थमर्थरहितत्वेन क्रियया पाति धातुनारम्भो येषां तैः क्रियाक्रियावतोरभेदोपचारित्क्रियाशब्देनात्र पाति धातुर्गृह्यते, अभिधेये अभिधानोपचारात्पतिशब्देन भर्तारोऽत्र गृहीतः। यद्वा निष्पलकार्यारम्भैस्त्वां रक्षितुमसमर्थैरेभिः पतिभिरीक्षितैर्दृष्टैस्तव किं, न किंचित् ॥52॥

सोढवान्नो दशामन्त्यां ज्यायानेव गुणप्रियः।
सुलभो हि द्विषां भङ्गो दुर्लभा सत्स्ववाच्यता॥11.53॥

ना ज्यानस्माकं ज्येष्ठो युधिष्ठिरोऽन्त्यामवमानरूपां दशामवस्थां सोढवान्। यतो गुणप्रियः जितेन्द्रियत्वादिगुणप्रियत्वात्। युक्तंचैतत् द्विषां हि भङ्गः सुलभः यदा कदापि कर्तुं शक्यते सत्सु सज्जनेष्ववाच्यता निन्दारहितत्वं दुर्लभम् ॥53॥

यदि भवन्तो विक्रमवन्तस्तदान्त्या दशा कस्मात्सोढेत्याह।

स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि स्वच्छान्याकुलितान्यपि।
तोयानि तोयराशीनां मना[23]स्यपि मनस्विनाम्॥11.54॥

तोयराशीनाम् तोयानि समुद्राणां जलानि मनस्विनां मनांसि चैवंविधानि भवन्ति। स्थितेर्मर्यादाया अतिक्रान्तिरुल्लङ्घनं ततो भीरूणि तथा स्वच्छानि शुद्धानि अफलितान्यगाधानि परिच्छेत्तुमशक्यानि समुद्रवत्सन्तो मर्यादाया न चलन्तीत्यर्थः ॥54॥

कदाचित् भवतां तेषां च शाश्वतं वैरमिति संभावनां निरसितुमाह॥

धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिर्वैरमस्मास्वसूयत।
असन्मैत्री हि दोषाय कुलच्छायेव सेविता॥11.55॥

धृतराष्ट्रपुत्रैः प्रीतिरस्मद्विषयं वैरमजीजनत्। यदि तेषां भवतां य प्रीतिस्तत्कथं तैर्वैरं कृतमित्याह असद्भिर्दुर्जुनैर्मैत्री सेविता सती दोषाय वैराश्रया वैरावसाना भवति। यथा कुलस्य पतनसज्जस्य तटस्य छया सेविता दोषाय जीवितापहाराय भवति ॥55॥

कृतप्रीतये जनाः प्रत्युत वैरं कथं कुर्वन्तीति निजोक्तावसभ्यतासंभावनां निरसितुमाह॥

अपवादादभीतस्य ससस्य गुणदोषयोः।
असद्वृत्तेरहोवृत्तं दुर्विभावं विधेरिव॥11.56॥

---

23. च

असती वृत्तिर्यस्य स दुर्जनस्तस्य वृत्तमहोदुर्विभावं दुर्ज्ञानम् केनापि न ज्ञायते। दुर्जनो हि कृतस्नेहोऽपि वैरं करोति। अपवादान्निन्दाया अभीतस्य तथा गुणे च दोषे च समस्य दुष्टान्यथा बाधते तथा गुणिनोऽपीत्यर्थः। यथा विधेर्दैवस्य वृत्तं दुर्ज्ञानं केनापि न ज्ञायते सोऽपि दुषणान्नबिभेति। गुणे च दोषे च समः॥56॥

जन्मनोऽस्येत्यादेरुत्तरमाह॥

ध्वंसेत हृदयं सद्यः परिभूतस्य मे परैः।
यद्यमर्षः प्रतीकारं भूजालम्बं न [24]लम्बयेत्॥11.57॥

परैः शत्रुभिः परिभूतस्य कृतावमानस्य मे सद्यस्तत्कालं हृदयं ध्वसेत त्रुट्येत्। अमर्षः क्रोधः प्रतिकारो वैरनिर्यातनं स एव भुजस्तदालम्बं यदि न प्रापयेत्। वैरशोधनाय प्राणास्तदैव न गता इत्यर्थः। जीवद्भिर्हि मोक्षो लभ्यते। अस्माकं यदि मोक्षोन्मुखत्वं स्यात्तथाविधेनावमानेन प्राणा गच्छेयुः। गतेषु प्राणेषु को मोक्षः, कस्य मोक्ष इति त्वत्कृतो मोक्षोपदेशो वृथेत्यर्थः॥57॥

यथा गुणप्रियतयेयन्तं कालमवमानः सोढस्तथा सर्वदा सहतामित्याह॥

अवधूयारिभिर्नीता हरिणैस्तुल्यवृत्तिताम्।
अन्योन्यस्यापि जिह्मीमः [25]प्रागेव सहवासिनाम्॥11.58॥

वयं सहवासिनामेव जिह्मीमः अद्य त्वन्योन्यस्यापि जिह्मिमः। कुतोऽरिभिरवधूयः पराभूय। मृगैः सादृश्यं नीताः वनवासादिति भावः। अयमर्थः यदा वयं जितास्तदा सचिवेभ्यो लज्जाभूदद्य तु परस्परमपि लज्जा जाता। दिनाद्दिनमवमानप्रतिविधानार्थ-मुपायलाभाभावेन हानेराधिक्यात्!। अभिद्रोहेण भूतानामितयादि एतेन निरस्तम्। न हि वैरकारेषु द्रोहं प्रतिवैरं द्रोहः॥58॥

यागम्या इत्यादिनिराकर्तुं श्लोकनवकमाह॥

शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः॥11.59॥

मानेनाहङ्कारेण हीनस्य जन्मिनो जन्तोस्तृणस्य च गतिः समा निर्मानः पुरषस्तृणवदित्यर्थः। तदेव साम्यविशेषणाभ्यामुपपत्या दर्शयति शक्तिः पौरुषावष्टम्भः तस्या वैकल्यमल्पता तया न पुनर्विनयवत्तया नम्रस्य। तया निःसारत्वात्साराभावाल्लघीयसः लाघवास्वदस्य। तृणस्य शक्तिः सामर्थ्यं निःसारत्वं सज्जा भावः॥59॥

---

24. लम्भयेत्
25. किं पुनः

अलङ्घ्यं तत्त[26]दुद्वीक्ष्यं [27]यदेवोच्चैर्महीभृतः।
प्रियतां [28]ज्यायसी मागान्महतां केन तुङ्गता॥11.60॥

तदलङ्घ्यमुल्लङ्घयितुं न शक्यते तदुद्वीक्ष्यम् यन् महीभृतो गिरेरुच्चैरुन्नतत्वम्। अतस्तुङ्गता उन्नतत्वं महतां प्रियतां केन मागात्। कथं न प्रियमौन्नत्यं भवतीत्यर्थः। ज्यायसी प्रशस्यतरा येन हेतुना कस्मिन्नोल्लङ्घ्यति येनैवोच्चैर्भूत्वा वीक्ष्यन्ते तदौन्नत्यं कथं न प्रियमित्यर्थः॥ औजस्यार्थं तपस्यसि न तु संपदर्थमिति भावः॥60॥

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न ह्रीयते॥11.61॥

पुरुषो यावन्मानाद्धीनो न भवति तावल्लक्ष्म्या सह आश्रीयते तावदस्य यशः स्थिरं भवति तावदेवासौ पुरुषश्च। मानभ्रष्टो निर्लक्ष्मीको गतयशाः कापुरुषश्चेति सिद्धम्॥61॥

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते।
नान्यामङ्गुलिमभ्येति सङ्ख्यायामुद्यताङ्गुलिः॥11.62॥

स पुमान्पुरुष अर्थवत्सकलं जन्म यस्य सः। स क इत्याह सङ्ख्यायां पुरुषगणनायामुद्यता प्रवृत्ताङ्गुलिर्यस्य सः अन्यामङ्गुलिं नाभ्येति। कदा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते सति। यस्यालौकिकं कर्म स एव तत्त्वतः पुरुषः अन्यो तु शब्दमात्रादित्यर्थः॥62॥

ओजः प्रशंसति॥

दुरासदवनज्यायान् गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधरः।
नो जहाति महौजस्कं मानप्रांशुमलङ्घ्यता॥11.63॥

दुरासदैर्दुर्गमैर्वनैर्ज्यायानतिगहनोऽपि तुङ्गोऽपि भूधरो गिरिर्गम्यो गन्तव्यः, ओजो रहितत्वादिति वक्तुराशयः। महदोजो यस्य तथाविधं मानेन प्रांशुमुन्नतं न पुनरलङ्घ्यता त्यजति॥ अत ओज एव प्रशस्यतरमिति प्रतिपादयति॥63॥

गुरुन्कुर्वन्ति ते वंश्यानन्वर्था तैर्वसुन्धरा।
[29]तेषां यशांसि शुभ्राणि ह्रेपयन्तीन्दुमण्डलम्॥11.64॥

---

26. उद्वीक्ष्य
27. यद्यदुच्चैर्महीभृताम्
28. ज्यायसीम्
29. येषाम्

उदाहरणमाशीष्षु प्रथमे ते मनस्विनाम्।
[30]शुष्काशनिरिवामर्षो यैररातिषु पात्यते ॥11.65॥

ते पुरुषा वंश्यान्वंशभवान्स्वपूर्वजान्गुरून्कुर्वन्ति, मानमापादयन्ति। तथा तैः करणभूतैर्वसुन्धरा भूमिरन्वर्था। वसुन्धराशब्दाभिधेयस्य भूमिरूपस्य द्रव्यस्यान्वर्थत्वा-संभवाद्वसुन्धराशब्दस्य च तत्संभवाद्वसुन्धराशब्देन वसुन्धरार्थः प्रतीयते तत्र वसूनि धारयनीति वसुन्धराशब्दस्यार्थः, त एव पुरुषा वसूनि रत्नानीत्यर्थः। तेषां निर्मलानि यशांसि चन्द्रमण्डलं लज्जयन्ति चन्दस्य सकलङ्कत्वात्। मनस्विनां प्रथमं आद्यास्ते आशीर्विषये उदाहरणम्। यथा शुष्काऽशनिः निरभ्रादाकाशाद्विद्युत्तथा यैः शत्रुषु क्रोधो निपात्यते। अविकत्थनत्वादतुलिते हितास्ते ये शत्रून्घ्नन्ति तेऽधन्या इत्यर्थः॥

एवं श्लोकसप्तकेन मानौजसोः श्लाघाद्वारेण कम्पितान्सुखधनमोक्षान् प्रकटं निराधरोदीरणेन प्रतिपादयति॥64, 65॥ युग्मम्॥

न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम्।
नानित्यताशनेस्त्रस्यन्विवित्तं ब्रह्मणः पदम्॥11.66॥

प्रमार्ष्टुमयशःपङ्क[31]मिच्छामि च्छद्मना कृतम्।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः॥11.67॥

अहमुदन्वतः समुद्रस्य वीचिवच्चञ्चलं सुखं नार्थये। तथा तथाविधमर्थं नार्थये नाभिलषामि। अनित्यता एवाशनिर्वज्रं ततस्त्रस्यन्बिभ्यदपि अहं विविक्तमनित्यत्वादि-दोषरहितं ब्राह्मणं पदं नार्थये नाभिलषामि। तपस्तावद्भोगमोक्षफलं, भवान्भोगमोक्षौ यदि न काङ्क्षति किमन्यत्तपसः कालमित्याह च्छद्मना दुरोदरच्छलेन न पुनर्बलेनागतमयश एव पङ्कं निर्मार्ष्टुं उत्पुंसयितुमिच्छामि। कैः वैधव्येन भर्तृमारणेन तापिता या अरातिवनितास्ता सा लोचनाम्बुभिः अश्रुभिः शत्रून् बलेन हत्वा छलागतमयशो निवारयामीत्यर्थः। तापितस्याम्बु न संभवतीति विरोधाभासः। पङ्कश्च जलेन शोध्यते॥66, 67॥युग्मम्॥

एतदेवोपोद्बलयति॥

[32]अवहस्येऽथवा सद्धिः प्रमादो वाऽस्तु मे धियः।
[33]अस्थाने विहितायासः कामं जिह्रेतु वा भवान्॥11.68॥

---

30. शुष्केऽशनि
31. इच्छेयम्
32. उपहस्ये
33. अस्थान

सद्भिरहमवस्येऽथवा ममोपहासं सभ्याः कुर्वन्तु वा। मम धियः प्रमादोऽनवधानत्वं वाऽस्तु। अस्थाने हेतुहेतुमद्भाव विज्ञानाभावान्मोक्षोपदेशस्यापदे विहित आयामो मोक्षोपदेशरूपो येन स भवान् वा जिह्रेतु लज्ज्यताम्। मुक्तिं त्यक्त्वान्यत्रायमायासं करोतीति सन्तो वा मां विडम्बयन्तु त्वं वोऽस्थाने कृतोपदेशो लज्जस्वेति विकल्पाभासः। अत्र विकल्पो विधीयमानः प्रकृतानुपयोगाद्बाधित्वेन विशेषप्रतीतिं करोति ॥68॥

वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम्।
निर्वाणमपि मन्येनहमन्तरायं जयश्रियः ॥11.69॥

अहं निर्वाणं मोक्षलाभमप्यन्तरं विघ्नं मन्ये। निर्वाणं कथं विघ्न इत्याह जयश्रियः जयलक्ष्मिलोभात्। किं कृत्वा विद्विषां विध्वंसेन वंशलक्ष्मीमनुधृत्याप्राप्येत्यर्थः ॥69॥

अजन्मा पुरुषस्तावद्गतासुस्तृणमेव वा।
यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः ॥11.70॥

पुरुषस्तावदजन्मा अजातो वा गतासुर्वा तृणमेव वा भवति तावत्। अरिभिर्लुण्ठितं यशो यावत्पुरुषः शरैर्नाधत्ते न प्रत्यानयति ॥70॥

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्षः प्रशाम्यति।
पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन्ब्रूहि त्वं हि तपोधन ॥11.71॥

द्विषतामनिर्जयेन शत्रूनजित्वा यस्य रोषः शममेति तस्मिन्कथं पुरुष इत्युक्तिः हे तपोधन त्वं ब्रूहि तथाविधं पुरुषं पुरुषा न वदन्तीति प्रतिपादनार्थं तपोधनेत्यामन्त्रणोपन्यासः। तपोधन इत्यार्षः पाठः। अन्यथा हि शब्दान्वयाभावात्तपोधनः सत्यवादीत्यर्थः ॥71॥

कृतं पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना।
योऽङ्गीकृतगुणैः श्लाघ्यः सविस्मयमुदाहृतः ॥11.72॥

ग्रसमानमिवौजांसि [34]सदसो गौरवेरितम्।
नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान्पुमान् ॥11.73॥

जातिरेव केवला गुणवर्जिता जातिमात्रं तदेव लम्बते यस्तेन जन्तुना न कृतं क्रिया न कृता। कुत्र पुरुष इति शब्दे। स पुरुषो न भवतीत्यर्थः। अथवा जातिमात्रं न तु गुणानवलम्बते तेन पुरुषशब्देन कृतं पर्याप्तम्। कस्तर्हि पुमानिति सार्धेन श्लोकेनाह अङ्गीकृता गुणा यैस्तैः। साश्चर्यं कथितः कुतः श्लाघ्यः अलौकिककर्मकरणात्। यस्य नाम द्विषोप्यभिनन्दन्ति स्तुवन्ति। कीदृशं गौरवेणादरेणेरितमक्तुम्। तथा सदसः सभाया

---

34. सदस

ओजांसि तेजांसि ग्रसमानमिव यन्नाम श्रवण एव तटस्थानामपि ओजोहानिर्भवतीत्यर्थः। स पुमान्भवति। अत्रैकः पुँशब्दः पुरुषरूपेवाश्येऽर्थे पर्यवसितः। द्वितीयः पुँशब्दः समस्तगुणपरिपूर्णतारू पधर्मनिष्ठः ॥72, 73॥ **युग्मम्** ॥

सर्वेषां तुल्येऽप्यवमाने जाते भवानेव किं क्लिश्यतीत्याह॥

यथाप्रतिज्ञं द्विषतां युधि प्रतिचिकीर्षया।
ममैवाध्येति नृपतिस्तृष्यन्निव जलाञ्जलेः ॥11.74॥

प्रतिज्ञानुसारेण शत्रूणां प्रतिचिकीर्षया वैरनिर्यातनेच्छया हेतुतया नृपतिर्युधिष्ठिरो समैवाध्येति समयनियमादीन् गुणानेव स्मरति। यथा तुष्टन्पिपासार्तुः पुरुषो जलाञ्जलेरेव गुणान् स्मरति। अधीगर्थदयेत्यादिना शेषविवक्षायां कर्मणि षष्ठी। मामेव संभावना मृदंगणयतीत्यर्थः ॥74॥

स्वामिनामाज्ञामसंपादयतो निन्दाद्वारेण तदितरस्य स्तुतिविशेषं पर्यवसायितुमाह॥

स वंशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनम्।
कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया ॥11.75॥

अवदातस्य शुद्धस्य वंशस्य चन्द्रस्येव स पुरुषो लञ्छनं कलङ्कः तेन जातेन सकलं कुलमलिनतामेति इत्यर्थः। कृच्छ्रेषु कृच्छ्रकाले भर्तुराज्ञया यत्र पुरुषे व्यर्थया निष्फलया भूयते। स्वामिना कर्तुमादिष्टमपि कार्यं यो न संपादयति स कुलस्य कलङ्कः इत्यर्थः ॥75॥

एवमिन्द्रकृतं मोक्षोपदेशं शत्रुजिगीषयानङ्गीकृत्येदानीं न्यायेन परिहर्तुमाह॥

कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मरोधिनी।
आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥11.76॥

अर्वाक्यासौ मुनिरर्वाङ्मुनिः परिव्राट् तस्य भावश्चतुर्थाश्रममेवाशया कथं वाऽदीयताम् गृह्यताम्। अग्रहणे हेतुमाह धर्मं रुणद्धि परिपन्थायति तच्छीला। कुतस्तस्य धर्मविरोधकत्वमित्याह पूर्वैर्मन्वादिभिराश्रमाणामनुक्रमः क्रमेण सेवा स्मर्यते न पुनस्तैराश्रमाणां व्यतिक्रमः। अक्रमेण सेवा स्मर्यते। मम चाद्य गृहस्थाश्रमे वर्तमानत्वमिति यतित्वग्रहणे न केवलं धर्मनाशः ॥76॥

प्रतिषिद्धमपि ब्राह्मणवचसा सेवनीयमित्याह॥

आसक्ता [35]धूरिवानूढा जननी दूरगा च मे।
तिरस्करोति स्वातन्त्र्यं ज्यायांश्चाचारवान्नृपः ॥11.77॥

---

35. धूरियं रुढा

न केवलं मन्वादिस्मृतिरेव यतित्वग्रहणपरिपन्थिनी यावज्जननी माता च स्वातन्त्र्यमाश्रमव्यतिंक्रमं सम्यक् तिरस्करोति प्रतिषेधयति। यद्येवं तर्हि तदङ्गीकरोऽपि ग्राह इत्याह दूरगा। तथा ज्यायान्नृपश्च स्वातन्त्र्यं रुणद्धि। कीदृक् आचारवान् धर्मशास्त्रज्ञः स च दूरगः। यथा आसक्ता सङ्केतितस्थानं प्रापयितुमङ्गीकृता अनूढा तत्स्थानमप्रापिता धूर्भारादिकं यद्वा स्वातन्त्र्यं तिरस्करोति। उभयत्र च शब्दः प्रत्येक मान्यतातिशयद्योतनार्थः। अन्यथा समुच्चयमात्रस्यैकेनैव सिद्धिः स्यात्॥77॥

स्वधर्म[36]मनुरुध्यन्ते नातिक्रममरातिभिः।
पलायन्ते कृतध्वंसा नाहवान्मानशालिनः॥11.78॥

मानशालिनः स्वं स्वकीयं कुलधर्ममनुरुध्यन्तेऽनुतिष्ठन्ति न पुनर्धर्मातिक्रमम्। स्वधर्मानतिक्रम्यैंकदोशोदाहरणमुपन्यस्यति। शत्रुभिः पराभूता मानिनो युद्धान्न पलायन्ते। क्षत्रियाणां युद्धं स्वधर्मः। अस्माकं स्वधर्मो युद्धं, तदर्थं च शत्रुभिर्वयं द्यूतद्वारेणाक्षिप्ताः सन्तः कथं युद्धं त्यक्त्वा यतित्वं गृह्णीम इति तात्पर्यम्॥78॥

उपसंहरन्नाह॥

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा [37]विलीनं नगमूर्धनि।
आराध्य वा सहस्राक्षमयशःशल्य[38]मुद्धतम्॥11.79॥

मया नगमूर्धानि पर्वतशिखरे विलीनं गलितं वा कथं विच्छिन्नाभ्रविलायं सूलचलितमेधेनेवाद्रौ नष्टं वा, सहस्राक्षमिन्द्रमाराध्यायश एव पीडाकरत्वाच्छल्यं वा उद्धृतम्। इहैव मरिष्यामि वा इन्द्रात्प्राप्तवरः सञ्शत्रून्वारणे जेतास्मीत्यर्थः। अत्र स्वात्मविलयनस्यानिष्टत्वेनेन्द्रप्रसादस्यैव तात्पर्यविवक्षया विकल्याभासः। उभयत्र वा शब्दः प्रत्येकं निर्बन्धातिशयद्योतनार्थः विकल्पमात्रस्य त्वेकेनैव सिद्धेर्द्वितीयोऽनर्थकः स्यात्॥79॥

इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दौर्भ्यां तनूजभाविष्कृतदिव्यमूर्तिः।
अघोपघातं मघवा विभूत्यै [39]तस्मै भवाराधनमाददेश॥11.80॥

इत्येवं कथितवन्तं तनयं पुत्रं दौर्भ्यां भूजाभ्यां परिरभ्यालिङ्ग्य मघवेन्द्रोऽघानां

---

36. अनुरुन्दन्ते
37. विलीये
38. उद्धरे
39. भवोद्भवा.....

पापानामुपघातो यस्मात्तद्धराराधनमाददेशादिष्टवान्। आविष्कृता प्रकटीकृता दिव्या मूर्तिर्येन सः ॥80॥

हराराधनस्य फलमाह॥

पीते पिनाकिनि मया सह लोकपालै
र्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्यः।
लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृशं परेषा
मुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे॥11.81॥

आराधनवशात्परमेश्वरे प्रीते सति लोकपालैः सह मया विहितमप्रतिवार्यं वारयितुमशक्यं वीर्यं यस्य स त्वं परेषां शत्रूणां सम्बन्धिनीं लक्ष्मीं उत्कण्ठयितासीति वचनमुक्त्वा तेनेन्द्रेण तिरोबभूवेऽन्तर्हितमिति भद्रम् ॥81॥

इति श्रीपण्डितभट्टश्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायामेकादशः सर्गः ॥11॥

॥द्वादशः सर्गः॥

अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम्।
क्लान्तिरहितमभिराधयितुं विधिवत्तपांसि विदधे धनञ्जयः॥12.1॥

अथेन्द्रान्तर्धानादनन्तरं त्रिलोचनमाराधयितुं धनञ्जयोऽर्जुनो वासवस्य वचनेनेन्द्रादेशेन विविधच्छास्त्रोक्तानुसारेण तपांसि विदधेऽकार्षीत्। रुचिरं न पुनस्तपःक्लेशक्लान्तं वदनं यस्य सः। विधिवत्तपांसीत्येकपदं वा क्लान्तिरहितमुद्वेगं विनेति क्रियाविशेषणम्। तपांसीति बहुवचनमनेकप्रकारतादर्शनार्थम्॥1॥

अभिरश्मिमालि विमलस्य धृतजयधृतरेनाशुषः।
तस्य भुवि बहुतिथास्तिथयः प्रतिजग्मुरेकचरणं निषीदतः॥12.2॥

अभिरश्मिमाली रश्मिमालिनः सूर्यस्य संमुखमेकचरणमेकपदेन निषीदतस्तिष्ठतोऽस्य बहुतिथा अनेकसंख्याका भुवि तिथयः प्रतिजग्मुः भुवीति नाकव्यवच्छेदार्थम्। मध्यमलोकवर्षेण हि दैवोऽहोरात्रो भवति। कीदृशस्य नाशुषो न किंचिदपि भुञ्जानस्यात एव विमलस्य निष्पापस्य। यदि त्यक्ताशनः कथमेकपादेन चिरमतपस्यदित्याह धृता जयेन धृतिरवष्टम्भो येन सः॥2॥

वपुरिन्द्रियोपतपनेषु [1]पतितमसुखेषु [2]पाण्डवम्।
व्याप [3]नगपतिरिव स्थिरतां महतां हि धैर्यम[4]विचिन्त्यवैभवम्॥12.3॥

वपुःशरीरमिन्द्रियाणि वद्धीन्द्रियाणि तेषामुपतपनेषुपरितापकेष्वसुखेषु तपः क्लेशेष्वपि पतितंपाण्डवमर्जुनं नगपतिं हिमाद्रिमिव स्थिरता व्याप। यद्यसुखेषु पतितंस्तत्कथं दृढता जातेत्याह महतां सम्बन्धिधैर्यमविचिन्त्य वैभवमचिन्तनीयमाहात्म्यम् अपायहेतुषु सत्स्वपि वृद्धिदर्शनात्॥3॥

---

1. सततम्
2. पाण्डवः
3. नगपतिमिव
4. अविभाव्य

न पपात सन्निहितपक्तिसुरभिषु फलेषु मानसम्।
तस्य शुचिनि शिशिरे च पयस्यमृतायते हि सुतपः सुकर्मणाम्॥12.4॥

सन्निहितानि निकटानि च तानि परिपक्तिसुरभीनि पाकसुगन्धीनि च तेषु शुचिषु च फलेषु तथा शुचिनि शिशिरे च पयसि विषये मानसं न पपात फलानि भोक्तुं जलानि च पातुं स्पृहा नाभूदित्यर्थः। तस्याभुञ्जानस्यापि स्पृहा न जातेत्याह सुकर्मणां पुण्यवतां तपोऽमृतायते अमृतवदाचरति। तप एवामृतं मन्यन्त इत्यर्थः। अमृतापेक्षया फलानामस्वादत्वात्फलेष्वनादरः। यद्वा फलेषु तपःफलेष्विति व्याख्येयम्॥4॥

न विसिस्मये न विषसाद मुहुरलसतां [5]च नाददे।
सत्त्वमुरुधृति रजस्तमसी न हतः स्म तस्य हतशक्तिपेलवे॥12.5॥

स न विसिस्मये एतावती मे तपःसिद्धिरिति विस्मयं नागात् स न विषसादधिगहं तपसा क्लिष्ट इति विषादं नागात्। सोऽलसतामालस्यं तपोविरमणेच्छां न चाग्राहीत्। अत्र हेतुमाह रजश्च तमश्च ते तस्य मत्वं न स्म हतः नाखण्डयताम्। कुतः हतशक्तिनी अत एव पेलवे किमपि कर्तुमशक्ये दृशमुरुधृति बलीयः॥5॥

तपसा कृशं वपु[6]रवाप स विजितजगत्त्रयोदयम्।
त्रासजननमपि तत्त्वविदां [7]वत नास्ति यन्न सुकरं मनस्विभिः॥12.6॥

स वपुस्तपसा कृशमपि विजितो जगत्त्रयोदयो येन तदवाप। तत्त्वविदामपि यो जानन्ति पुरातनमुनिरयं जगतां हिताय तपस्यतीति तेषामपि त्रासजननं भयोत्पादकम्। वताश्चर्ये मनस्विभिर्यन्न सुकरं दुष्करं तन्नास्ति, यदेव सुकरं तदेवास्तीत्यर्थः अत्र जगत्त्रयविजयस्तत्त्वज्ञत्रासनं च तेन सुकरम्॥6॥

एतमेव जगत्त्रयोदयजयमाह॥

ज्वलतोऽनला[8]दधिनिशीथमधिकरुचिरम्भसां निधेः।
धैर्यगुणमवजयन्विजयी ददृशे समुन्नततरः स शैलतः॥12.7॥

अनुनिशीथमर्धरात्रसंमुखं ज्वलतोऽनलादग्रेरधिका रुचिर्दीप्तिर्यस्य तथाम्भसां निधेः समुद्रस्य गम्भीरत्वमवजयंस्तथा शैलतः पर्वतादत्युन्नतोददृशे लक्षितः विजयी जयनशीलः॥7॥

---

5. न चाददे
6. अवाह
7. किमिवास्ति
8. अनु

जपतः सदा जपमुपांशु वदनमभितो विसारिभिः।
तस्य [9]किरणनिकरैः शुशुभे परिवेशभीषणमिवार्कमण्डलम्॥12.8॥

उपांशुमनसा सदाजपं कुर्वतः अनन्तरुद्रमन्त्रान्नित्यं पठतस्तस्याननं सर्वतो विसरद्भिः किरणनिकरैः शुशुभे देवताधिष्ठितत्वात्किरणप्रसरणम्। यद्वा दशनानां निर्मलत्वादिति व्याख्येयम्। अत्रोत्प्रेक्ष्यते परिवेशेनोत्पातसूचकेन मण्डलाभासेन भीषणं भयप्रदं सूर्यबिम्बमिव। यद्वा वचनमभित इति अभिसर्वतसोः कार्याद्द्वितीयेति वदनशब्दो दितीयान्तः। आशुभे इति कर्तरि भावे वा लिट्॥8॥

कवचं स बिभ्रदुपवीतपदनिहितसज्यकार्मुकः।
शैलपतिरिव महेन्द्रधनुःपरिवीतभीमगहनो विदिद्युते॥12.9॥

कवचं बिभ्रद्वर्मधरस्तथोपवीतपदे यज्ञोपवीतस्थाने निहितं सज्जमारुढगुणं कार्मुकं येन स विदिद्युते। यथा महेन्द्रधनुषा परिवीतानि वेष्टितानि भीमानि गहनानि यस्य स शैलपतिः। गहनानि कवचस्य सज्यकार्मुकपरिवेष्टनमिन्द्रचापपरिवीतत्वस्य शैलपतिरुपमानम्। महेन्द्रधनुःपरिवीत इत्यनुत्तरपदस्थस्येति षत्वाभावः॥9॥

प्रविवेश गामिव कृशस्य [10]नियतसवनाय गच्छतः।
तस्य पदविनमितो हिमवान् गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः॥12.10॥

हिमवान्हिमाचलो गां भूमिं प्रविवेशेव मग्न इवाभूत्। तदग्रे स्थातुमसहत्वादिति भावः। अनवक्लृप्ताविव शब्दः। भूमिप्रवेशे हेतुमाह तस्य पदैश्चरणविन्यासेन विनमितः। कदाचिदुल्वनतया पदन्यासं करोतीत्याह कृशस्यापि। तर्हि गिरिर्भूमिंकथं प्राविक्षदित्याह गुणाः पुरुषं गुरुतां गौरवमादरणीयतां दुर्वहत्वं च नयन्ति। न पुनः संहतिः स्थूलत्वं गौरवं नयति॥10॥

परिकीर्णमुद्यतभूजस्य भुवनविवरे दुरासदम्।
ज्योतिरुपरि शिरसो विततं जगृहे [11]बृहन्मुनिदिवौकसां पथः॥12.11॥

नवद्वारनिरुद्धप्राणत्ववशेन शिर उपरि स्थितं भूवनविवरे परिकीर्णं तथा बृहत् तस्य तेजो मुनीनां देवानां च पथो जगृहे रुरोध। यतो दुरासदं दुरक्रमम्। तस्य तपःप्रभावोत्पन्नेन तेजसा क्रान्ता मुनि दिवौकसो बभूवुरीत्यर्थः॥11॥

---

9. दशनकिलणैः
10. नियम
11. निजान्

रजनीषु राजतनयस्य बहुलसमयेऽपि धामभिः।
भिन्नतिमिरनिकरं न जहे शशिरश्मिसंगमयुजा नभः श्रिया॥12.12॥

शशिसङ्गमश्चन्द्रोदयस्तेन करणभूतेन युज्यते घट्यते तया चन्द्रिकाकृतया शोभया नभो न जहे न त्यक्तम्। कदा बहुलसमये रजनीषु कृष्णपक्षरात्रिषु। कुतः राजतनयस्यार्जुनस्य धामभिस्तेजोभिः भिन्नो निवारितोऽन्धकारमदलयदित्यर्थः॥12॥

महता मयूखनिचयेन शमितरुचि जिष्णुजन्मना।
ह्रीतमिव नभसि वीतमले न विराजते स्म वपुरंशुमालिनः॥12.13॥

वीतमले निरभ्रेऽपि नभसि अंशुमालिनो वपुः सूर्यमण्डलं नाराजत्। कुतो जिष्णुजन्मनाऽर्जुनजातेन महता मयूखनिचयेन तेजोराशिना शमितरुचि। अतो ह्रीतं लज्जितमिव॥13॥

तमुदीरितारुणजटांशुमधिगुणशरासनं जनाः।
रुद्रमनुदितललाटदृशं ददृशुर्मिमन्थिषुमिवासुरीः पुरः॥12.14॥

जनास्तं रुद्रमिव ददृशुरुत्प्रेक्षांचक्रुः। कीदृशमनुदिता तिरोभूता ललाटदृक् तृतीयं नेत्रं यस्य तत्। तथाऽऽसुरिः पुरोऽसुरसम्बन्धिनीः पुरस्त्रिपुराणि मिमन्थिषुं दग्धुकामम्। रुद्रोत्प्रेक्षायां हेतुमाह उदीरिता निःसृता अरुणजटानामांशवः यस्य। तथाऽधिगुणमधिरुढमौर्वीकं शरासनं धनुर्यस्य तम्॥14॥

मरुतां पतिः स्विदहिमांशु[12]रथ पृथुशिखः शिखी तपः।
तप्तुमसुकरमुपक्रमते न जनोऽयमित्यवययेसतापसैः॥12.15॥

तापसैस्तपस्विभिः स इत्येवमवययेवितर्कितः अयं मरुतां पतिरिन्द्रः स्विद्भवति। अयमहिमांशुरादित्यः स्वित्, अयं पृथुजालोऽग्निरथ भवति। वितर्के हेतुमाह अयं जनोऽसुकरं दुष्करं तपस्तप्तुं चरितुं नोपक्रमते नारभते। यद्वाऽयं पृथग्जनो न भवतीति तापसैः स निश्चितः। कस्तर्हीत्याह मरुतां पतिः स्विदहिमांशुः शिखी वा। अत्र हेतुमाह अयं मनुष्यैर्दुष्करं तपस्तप्तुमारभते। यद्वा इन्द्रोऽर्कोऽग्निर्वा उत तपस्यति न त्वयं प्राकृतो जनः॥15॥

न ददाह भूरुहवनानि हरितनयधाम दूरगम्।
न स्म नयति परिशोषमपः सुसहं बभूव न च सिद्धतापसैः॥12.16॥

हरितनयस्यार्जुनस्य धाम तेजो भूरुहवनानि वृक्षगहनानि न ददाह, तदपो जलानि परिशोषं न नयति स्म नाशोषयत्। कदाचिदल्पं स्यादित्याह सिद्धैस्तापसैश्च सुसहं न

---

12. उत

बभूव। कदाचित्तेषां निकटं स्यादित्याह दूरगं दूरस्थमपि सिद्धादिभिः सोढुं तत्तेजो न शक्तिम्। यद्वा दूरगं सर्वव्यापिसूर्यादितेजसस्तत्तेजो विलक्षणमित्यर्थः ॥16॥

विनयं गुणा इव विवेकमपनयभिदं नया इव।
न्यायमवधय इवाशरणाः शरणं ययुः शिवमथो महर्षयः ॥12.17॥

अथो महर्षयोऽशरणाः सन्तः शिवं शरणं ययुः। यथा गुणा विनयं अनौद्धत्यं शरणं यान्ति। विनयो हि क्षान्त्यादिकारणम्। यथाऽपनयः शास्त्रनैरपेक्ष्येण प्रवर्तनं तं भिनत्ति। ईदृशं विवेकं नयानीतयः शरणं यान्ति। मर्यादाव्यवस्थानानि न्यायं यथोचितकरणं शरणं यान्ति ॥17॥

परिवीतमंशुभिरुदस्तदिनकरमयूखमण्डलैः।
शम्भुमुपहतदृशः सहसा न च ते निचायितुमभिप्रसेहिरे ॥12.18॥

ते महर्षयः शम्भुं सहसा सद्य एव निचायितुं निश्चेतुं नाभिसेहिरे न शक्ताः। कुतः उपहता व्याहता दृग्येषां ते। दृष्टितिरस्कृते हेतुमाह उतस्तं तिरस्कृतं दिनकरस्य मयूखमण्डलं यैः सूर्याधिकैरंशुभिः परिवीतं समन्ताद् व्याप्तम्। यद्वा उपहताऽनूढा दर्शनप्राप्तावयोग्या दृग्येषाम् ॥18॥

अथ भूतभव्यभवदीशमभिमुखयितुं कृतस्तवाः
तत्र महसि ददृशुः पुरुषं कमनीयविग्रहमयुग्मलोचनम् ॥12.19॥

ते तत्र महसि तेजसि पुरुषं ददृशुः उपहतदृशः। कथं ददृशुरित्याह शम्भुमभिमुखयितुमभिमुखं प्रत्यक्षं कर्तुं कृतः स्तवः स्तुतिर्यैः भूतमतीतं भव्यं भवितव्यं भविष्यत्। भवद्वर्तमानं तेषामीशं व्यवस्थापकं कमनीयविग्रहं प्रसन्नरूपयुग्मलोचनं त्रिनेत्रम्। भव्यशब्दो भव्यगेयेति कर्तरि निपातितः ॥19॥

ककुदे वृषस्य कृतबाहुमकृशपरिणाहशालिनि।
स्पर्शसुखमनुभवन्तमुमाकुचयुग्ममण्डल इवार्द्रचन्दने ॥12.20॥

अकृशो स्थूलिनो परिणाहशालिनि च। यद्वा महता परिणाहेन परिमण्डलतया शालिनि शोभमाने वृषस्य ककुदे स्कन्दमध्यस्थोन्नतावयवविशेषे कृतः स्थिरन्यस्तो बाहुर्येन तम्। अत्रोत्प्रेक्ष्यते आर्द्रं चन्दनं चन्दनलेपो यस्य तस्मिन्नुमाकुचमण्डले स्पर्शसुखमिवानुभवन्तम् ॥20॥

स्थितमुन्नते तुहिनशैलशिरसि भुवनातिवर्तिना।
सादिजलधिजलवाहपथं सदिगश्नुवानमिव विश्वमोजसा ॥12.21॥

उन्नते हिमाद्रिशिखरे स्थितमपि विश्वमश्नुवानमिव। यद्येकस्थस्तत्कथं विश्वव्यापीत्याह ओजसा तेजसा। विश्वं कीदृशं स गिरिसमुदाकाशम् ॥21॥

अनुजानुमध्यमवसक्तिविततवपुषा महाहिना।
लोकमखिलमिव भूमिभृता रवितेजसामवधि[13]नाभिवेष्टितम्॥12.22॥

जानुमध्ये अनुजानु मध्यं विभक्त्यर्थेऽव्ययिभावः। तत्रावसक्त्या पर्यस्थिकया पर्यस्तिका रूपेण विततं वपुर्यस्य तेन महाहिना वासुकिनाभिवेष्टितम्, पर्यङ्कबन्धीकृतवासुकिमित्यर्थः। रवितेजसामवधिना प्रसरणतिरोधिना भूमिभृता लोकालोकाख्यपर्वतेनाभिवेष्टितम् अखिलमिव लोकम्॥22॥

परिणाहिना तुहिनराशिविशदमुपवितसूत्रताम्।
नीतमुरगमनुरञ्जयता शितिना गलेन विलसन्मरीचिना॥12.23॥

परिणाहिना पूर्णेन शितिना श्यामेन विलसन्मरीचिना स्फुरद्रश्मिना अत एव तुहिनराशिवद्विषदं शुभमुपवीतसूत्रतां यज्ञोपवीतत्वं नीतमुरगमनुरञ्जयता च्छुरयतोपलक्षितम्॥23॥

प्लुतमालतीसितकपाल कुमुद[14]मुपरुद्धमूर्धजम्।
शेषमिव सुरसरित्प[15]यसः शिरसा [16]विकासि शशिधाम बिभ्रतम्॥12.24॥

मालतीवत्सितं यत्कपालं तदेव शुभ्रत्ववर्तुलत्वाभ्यां कुमुदं प्लुतमार्द्रीकृतं येन तत्, तथोपरुद्धा मूर्धजाः केशा येन तत्। विकासि स्फुरच्छशिधाम चन्दतेजो मूर्ध्ना बिभ्रतं धारयन्तम्। अत्रोत्प्रेक्ष्यते सुरसरित्पयसः शेषमिव गङ्गाजलशेषं च प्लुतं मालतीसदृशं सितम्। यद्वा मालतीं च कपालसदृशं कुमुदं येन तपोपरुद्धमूर्धजम्॥24॥

मुनयस्ततोऽभिमुख[17]मस्य नयनविनिमेष[18]चोदिताः।
पाण्डुतनयतपसा जनितं जगतामशर्म भृशमाचचक्षिरे॥12.25॥

अस्य नयनविनिमेषेण नेत्रसंज्ञया चोदिताः सन्तो मुनयोऽस्याऽभिमुखं पुरोऽशर्मोपप्लवमाचचक्षिरे व्यजिज्ञपन्। पाण्डुतनयस्यार्जुनस्य तपसा जनितम्॥25॥

तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष पुरुषस्तपस्यति।
ज्योतिरमलवपुषोऽपि रवेरभिभूय वृत्र इव भीमविग्रहः॥12.26॥

---

13. अधि
14. उपरुद्धम्
15. पयसाम्
16. विसारि
17. एत्य
18. नोदितः

हे जगतामेकपुरुष परमात्मरूप कोऽपि अविज्ञातजात्यादिविशेषः पुरुषस्तपस्यति तपांस्याचरति। किं कृत्वाऽमलवपुषो निर्मेघाच्छदनस्यापि खेः ज्योतिस्तेजोभिभूय जित्वा। कीदृशो भीमविग्रहो भीमरूपः भयानकरूपः। यथा वृत्रोऽर्कमभिभूयातपस्यत्। यद्वा भीमो भयानको विग्रहो विरोधो यस्य सः। भुवनैकपुरुषेति सम्बोधनं त्वद्विशेषज्ञानमिति सूचनार्थम्॥26॥

स धनुर्महेषुधि बिभर्ति कवचमसिमुत्तमं जटाः।
वल्कमजिनमिति चित्रमिदं मुनितविरोधि न च नास्य राजते॥12.27॥

महान्ताविषुधीरूणो यस्य तद्धनुः तथा कवचं तथासितं तथा जटाः तथा वल्कलं तथाजिनं बिभर्ति। यद्येवं नायं तपस्वीत्याह। इदं धनुरादिधारणमतिचित्रं मुनितविरोधितापसधर्मविरुद्धं न च शोभते न तथाप्ययं तापस एवेत्यर्थः॥27॥

यद्यायुधभृत्तन्निष्फलं तत्तप इत्याह॥

चलनेऽवनिश्चलति तस्य करणनियमे सदिङ्मुखम्।
स्तम्भमनुभवति शान्तमरुद्ग्रहतारकागणयुतं नभस्तलम्॥12.28॥

तस्य चलने स्नानाद्यर्थं तीर्थादिगमने भूश्चलति कम्पते। तस्य करणानां चक्षुरादिन्द्रियाणां नियमे समाराधनावस्थायां रूपादिविषयव्यावर्तनेन नभस्तलं स्तम्भं निःस्पन्दत्वमनुभवति। विशेषणमुखेन निःस्पन्दत्वं दर्शयति शान्ता निवृत्तसञ्चारा ये मरुद्ग्रहतारकागणाः तैर्युतम्। एवमृद्धिवर्णनात्तपोवैभवसूचनं कृतम्॥28॥

स तदोजसा विजितसारममरदितिजोपसंहितम्।
विश्वमिदमपिदधाति पुरा किमिवास्ति यन्न बत[19] तेन दुष्करम्॥12.29॥

तपोबलादेवमृद्धिस्फुरणे सति स तदिदं दृश्यादृश्यं जगदोजसा तेजसा पुरा पिदधाति पिधास्यति। विजितः सारो यस्य तत् सुरासुरसहितमेतद्विश्वापिधानं किमिवास्ति न किञ्चिदस्ति। यद्यस्माद्वताश्चर्ये तेन सर्वं न दुष्करं सुकरमित्यर्थः। यद्वा तत्किमिवास्ति कार्थप्रयोगेन तदेवास्ति यत्तेन दुष्करं सुकरमिव॥29॥

विजिगीषते यदि जगन्ति युगपदथ संजिहीर्षति।
प्राप्तुमभवमभिवाञ्छति वा वयमस्य नो विषहितुं क्षमा [20]रुचिम्॥12.30॥

स जगन्ति यदि विजिगीषते विजयेच्छया किं स्वित्तपश्चरति। यदि शब्दः पक्षे

---

19. तपसामदुष्करम्
20. रुचिः

विजयद्योतनार्थः। स जगति युगपदेकवारं संहर्तुमथेच्छति किं वा भयं मोहं प्राप्तुमभिलषति। वयमस्य रुचिमभिप्रायं विषहितुं परिच्छेत्तुं न शक्याः। यद्वा वयं रुचिं दीप्तं रूपमात्रमपि विषहितुं विम्रष्टुं नो क्षमाः। यदर्थं तपश्चरति तभ्दगवानेव वेत्तीत्यर्थः॥30॥

किमुपेक्षसे कथय नाथ [21]तव न विदितं न किञ्चन।
त्रातुमलमभयदार्हसि नस्त्वयि मा स्म शासति भवत्पराभवः॥12.31॥

त्वं किमुपेक्षां करोषि, त्वं नाथ! कथय कोऽयं, किं प्रयोजनमेतदीयं तपः, कं वाऽऽराधयति। तव यन्न विदितं तन्न किञ्चन सर्वमेव त्वया ज्ञायत इत्यर्थः। हेऽभयद! त्वं नस्त्रातुं रक्षितुमर्हसि। यद्वा नाथ कथय किमुपेक्षसे विज्ञप्त्युपेक्षाकारणं ब्रूहीत्यर्थः। त्वं नस्त्रातुं तदीयतपः संपादितां पीडां वारयितुमर्हसि। यूयं केन बाधिता यद्रक्षामपेक्षध्वे इत्याहुः तव सर्वं विदितं। यद्वा नाथ! ब्रूहि किमुपेक्षसे तव रक्षितुं युक्तम्। कदाचित्स तपस्वी मत्समः स्यात्ततः कथं रक्षामीत्याहुः तव सर्वं ज्ञातं प्रभवति सति पराभवो मा स्म भवत् पराभूता मा भू मेत्यर्थः॥31॥

इति गां विधाय विरतेषु मुनिषु वचनं समाददे।
भिन्नजलधिजलनादगुरु ध्वनयन्दिशां विवरमन्धकान्तकः॥12.32॥

इत्येवं गां विधाय वाचमुक्त्वा मुनिषु विरतेषु तूष्णीभूतेषु सत्सु अन्धकामुरान्तको भिन्नजलधिजलनादगुरु मथितसमुद्रसलिलशब्दगम्भीरं वचनं समादधेऽवादीत्। दिशां विवरं ध्वनयञ्शब्दयन्॥32॥

बदरीतपोवननिवासनिरतमवगात मान्यथा।
धातुरुदयनिधने जगतां नरमंशमादिपुरुषस्य गां गतम्॥12.33॥

यूयमेनमन्यथा अनंशं सावज्ञातमाज्ञासिषुः। एनं कमादिपुरुषस्य विष्णोर्गां गतं भूमाववतीर्णं नरमंशं नरसंज्ञकं भागम्। कुतो हेतोरवतीर्ण इत्याह जगतामुदयनिधने वृद्धिहानी धातुर्ददतः। यद्वोदयः सृष्टिर्निधनं संहारः। बदरीतपोवने निवासस्तत्र रतम्॥33॥

इदानीं तपसः प्रयोजनमाह॥

द्विषतः परासिसिषुरेष सकलभुवनाभितापिनः।
क्रान्तकुलिशकरवीर्यबलान्मदुपासनं विहितवान्महत्तपः॥12.34॥

एष तपोविहितवान् ममोपासनं येन तत् तपसा मदाराधनं कृतवान्। विहितवानिति भूतकालविषये न कुर्वन्तु नासुप्रसन्नतामस्मिन्द्योतयति। सकलभुवनान्यतितापयन्ति

---

21. न तव

तच्छीन्लान् क्रान्ते पराभूते कुलिशकरस्य वज्रिणो वीर्यबले यैस्तान्द्विषतः शत्रून्दैत्यान्परासितुं प्रतिक्षेप्तुमिच्छुः। दैत्यदलनेच्छया मामुपास्तेऽयमित्यर्थः ॥34 ॥

अयमच्युतश्च वचनेन सरसिरुहजन्मनः प्रजाः।
पातुमसुरनिधनेन विभू भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठतः ॥ 12.35 ॥

अयमच्युतश्च मनुजेषु भुवमभ्युपेत्य मनुजेषूत्पत्तिमङ्गीकृत्य तिष्ठतः। मानुष्यकाभिनये हेतुमाह सरसिरुहजन्मनो ब्रह्मणो वचनेनाभ्यर्थनयाऽसुराणां निधनेन संहरेण प्रजाः पातुं रक्षितुम् यद्वा भुवनमभ्युपेत्यवतीर्य मनुजेषु नत्वेव कान्ते इति व्याख्येयम्। विभू समर्थौ ॥35 ॥

सुरकृत्यमेतदवगम्य निपुणमिति मूकदानवः।
हन्तु[22]मभिलषति पाण्डुसुतं त्वरया तदत्र सह गम्यतां मया ॥ 12.36 ॥

एतन्मदुपासनं तपः सुरकृत्यं देवकार्यमित्यवगम्य बुद्ध्वा मूकदानवो निपुणं माययार्जुनं हन्तुमभिलषति। यत् ततस्त्वरयात्र मया सह गम्यताम्। यद्वात्र वसभ्दिर्मया सहगम्यताम्। निपुणमवगम्यति वा योज्यम् ॥36 ॥

मायया हनने हेतुमाह ॥

विवरेऽपि नैनमनिगूढमभिभवितुमेष पारयन्।
पापनिरतिरविशङ्कितया विजयं व्यवस्यति वराहमायया ॥ 12.37 ॥

एष मूकदानवो व्यवस्यति विजयम्। कया वराहरूपया मायया। यतोऽविशङ्कितया अशङ्कनीययेत्यर्थः। न हि वराहे तिरश्चिकश्चिच्छङ्कते। प्रकटमेव किं न हन्तीत्याह विवरे च्छिद्रेऽपि सति अनिगूढं मायया विना एनमभिभवितुं तिरस्कर्तुमपि न पारयन्न शक्तः। यद्यशक्तस्तर्त्किं हन्तीत्याह पापनिरतिः परोदयाऽसहिष्णुः ॥37 ॥

निहते[23]ऽवलम्बितकिरातनृपतिवपुषा रिपौ मया।
मुक्तनिशितविशिखः प्रसभं मृगयाविवादमयमाचरिष्यति ॥ 12.38 ॥

अवलम्बितमभिनीतं किरातनृपतेः शवरराजस्य वपुः रूपं येन तेन मया निरुते वराहरूपे रिपौ मूकदानवे मुक्तो निशितस्तीक्ष्णो विशिखः शरो येन सोऽयं प्रसभं न पुनर्वाङ्मात्रेण मृगयाविवादं करिष्यति ॥38 ॥

कतमोऽयं तापसो यद्भवता सह विवदते इत्याशङ्क्याह ॥

---

22. अभिपतति
23. विडम्बित

तपसा निपीडितकृशस्य विरहितसहायसंपदः।
सत्त्वविहित[24]मचलं भुजयोर्बलमस्य पश्यत मृधे[25]ऽभिकुप्यतः॥12.39॥

तपसा निपीडितो त एव कृशस्तस्य तथा विरहिता सहायसंपद्येन एकाकिन इत्यर्थः। एवंविधस्याप्यस्याभिकुप्यतः सतो भुजयोर्बलं यूयं मृधे युद्धेऽभिपश्यत। किं प्रभावेनास्यबलमित्याह सत्त्वविहितं धैर्यजनितम्॥39॥

इति तानुदारमनुनीय विषमहरिचन्दनालिना।
धर्मजनितपुलकेन लसद्गजमौक्तिकावलिगुणेन वक्षसा॥12.40॥

वदनेन पुष्पितलतान्तनियमितविलम्बिमौलिना।
बिभ्रादरुणनयनेन रुचं शिखिपिच्छलाञ्छितकपोलभित्तिना॥12.41॥

बृहदुद्गहञ्जलदनादि धनुरूपहितैकमार्गणम्।
[26]हेमनिचय इव संववृते रुचिरः किरातपृतनापतिः शिवः॥12.42॥

इत्येवं तान्मुनीनुदारमनीचतयानुनीयाश्वस्य शिवो रुचिरः सर्वलक्षणसंपूर्णः किरातपृतनापतिः शवरराजः संववृते संपन्नः, क इव हेमनिचय इव यथा कनकराशिः। यद्वा हेमनिचय इव रुचिरः कनकराशिसुन्दरः। कीदृशः वक्षसोपलक्षितः विषमावस्थानत्वादसमञ्जसेन विन्यस्ता हरिचन्दनालिर्हरिचन्दनपङ्क्तिर्यस्य तथा धर्मेण जनितं पुलकं यस्य पुलकतुल्यधर्मेण। तथा लसन्ती गजमौक्तिकावलिर्यत्र सगुणः सूत्रं यत्र तत्॥ पुष्पितैर्लतान्तैः प्रतानैर्नियमिता बद्धा विलम्बित्वान्मौलयः केशा यस्य रोषाज्जातिस्वभावाद्वा पाटलाक्षेण तथा शिखिपिच्छेन मयूरपक्षेण लाञ्छिता भूषिता कपोलभित्तिर्यस्य तेन वचनेन रुचं शोभां बिभ्रत् बृहन्मेघसमशब्दं धनुर्बिभ्रत् उपहितः करधृत एको मार्गणः शरो येन। उपहितैकमार्गणपाठेऽसमञ्जसः धनुषि सन्धीयमानस्य सरस्यैकत्वव्यभिचाराभावादेकशब्दस्यार्थवत्वाभावात् न ह्यनेको मार्गणो धनुषि सन्धीयते॥40, 41, 42॥ तिलकम्॥

अनुकूलमस्य च विचिन्त्य गणपतिभिरात्तविग्रहैः।
शूलपरशुशरचापभृतैर्महती वनेचरचमूर्विनिर्ममे॥12.43॥

गणपतिभिर्महती बह्वी वनेचरचमूर्विनिर्ममे, यतोऽस्य भगवतोऽनुकूलमिष्टं विचिन्त्य

---

24. अतुलम्
25. अधि
26. मेघनिचय

अतोऽभिनीतो विग्रहः किरातरूपो यैः। कीदृशी भृतानि स्थुलं परशुश्चापं च यया। प्रहरणार्थे भृः परे निष्ठा सप्तम्याविति भृतशब्दस्य परनिपातः ॥43 ॥

विरचय्य काननविभागमनुगिरमथेश्वराज्ञया।
भीमनिनदपिहितोरुभुवः परितोऽपदिश्य मृगयां प्रतस्थिरे ॥ 12.44 ॥

ते किरातरूपा गणेन्द्रा मृगयामपदिश्य मृगयाव्याजेनानुगिरं गिरौ प्रतस्थिरे। किं कृत्वा ईश्वरस्याज्ञया काननविभागं विरचय्य वनानि विभज्य। अनेन वनेन मृगो यदि पलायितस्तदा तव पालनमिति वनानि विभज्यते प्रतस्थिरे। भीमेन भीषणेन मृगयाकोलाहलो न पिहिताः पूरिता तरवो भुवो यैः ॥44 ॥

क्षुभिताभिनिःसृतविभिन्नशकुनिमृगयूथनिःस्वनैः।
पूर्णपृथुवनगुहाविवरः सहसा भयादिव ररास भूधरः ॥ 12.45 ॥

सहसा तत्क्षणमेव भयवशात्क्षुभिता निःसृताः पलायमाना विभिन्नाः पङ्क्तिभ्रष्टा ये शकुनिमृगयूथास्तेषां निःस्वनैः पूर्णानि पूरितानि पृथुनि वनगुहा विवराणि यस्य स भूधरो विरिर्भयादिवररास रावममुञ्चत् पर्वतस्यापि भयं जातमिवेत्यर्थः। भीतश्च रौति ॥45 ॥

न विरोधिनी रुषमियाय पथि मृगविहङ्गसंहतिः।
घ्नन्ति सहजमपि भूरिभियः सममागताः सपदि वैरमापदः ॥ 12.46 ॥

विरोधिनी नित्यविग्रहकारिण्यपि मृगाणां विहङ्गनां च संहतिः समूहः परस्परं रुषं विरोधं पथि नेयाय। भयवशात्पलायमानैः शाश्वतोऽपि विरोधः पथि मृगैः पक्षिभिश्च त्यक्तः। यदि सहजोऽपि विरोधः तत्कथं पथि मृगैः पक्षिभिश्च त्यक्त इत्याह भूरिभीर्याभ्यस्ता आपदः समं तुल्यकालमागताः सत्यः सहजमपि वैरं घ्नन्ति निवारयन्ति विस्मारयन्तीत्यर्थः। सिंहमृगालाद्याः सर्वे समं पलायामासुरित्यर्थः ॥46 ॥

चमरीगणैर्गणबलस्य बलवति भयेषऽप्युपस्थिते।
वंशवितातिषु विषक्त[27]भृशपृथुबालवालधिभि[28]रादधे धृतिः ॥ 12.47 ॥

चमरीणां गणैर्यूथैर्धृतिरवस्थानमादधेगृहीत्। कदा गणबलस्य सम्बन्धिनि भये उपस्थितेऽपि। यद्वा गणबलस्येति षष्ठी चानादर इति षष्ठी। यदि भयंमुपस्थितं कथं स्थिता इत्याह पलायनावसरे वंशानां वितातिषु गृहेषु विषक्ता रुद्धा बृहन्तः पृथवो वाला येषां तथाविधा वालधयः पुच्छा येषां तैः। चमर्यो हि प्राणेभ्योऽपि प्रियवालावालविच्छेद-भयाद्वंशवनेषु रुद्धवालाः सत्योऽवस्थिता न चेलुरित्यर्थः ॥47 ॥

---

27. पृथुप्रिय
28. आददे

हरसैनिकाः प्रतिभयेऽपि गजमदसुगन्धिकेसरैः।
स्वस्थमभिददृशिरे सहसा प्रतिबोधजृम्भितमुखैर्मृगाधिपैः॥12.48॥

मृगाधिपैः सिंहैर्हरसैनिकाः स्वस्थं स्वप्रकृतिस्थतया निर्विकारमभिददृशिरे। कीदृशैः प्रतिभयेऽपि गजमदेन सुगन्धिः केसरः सट येषां तैः, आमरणं करेणुमारणपरायणैः सेनाकलकलवशात्सहसाऽनवसरेण प्रतिबोधेन तन्द्रीविगमेन जृम्भितं सजृम्भं मुखं येषां तैः। यद्वा प्रतिभये स्वस्य मरणेऽपि प्राप्ते इति व्याख्येयम्॥48॥

बिभरांबभूवुरपवृत्तजठरशफरीकुलाकुलाः।
पङ्कविषमिततटाः सरितः करिरुग्णचन्दनसारुणं पयः॥12.49॥

भयात्पारं जिगमिषुभिर्मृगैः मथित्वादपवृत्तमुत्तानं जठरमुदरं येषां तैः शफरीकुलैर्मत्सीगणैराकुलाः सङ्कुलाः पङ्केन विषमिता विषमाकृतास्तटा यासां ता नद्यो जलमवितक्रितं पलायमानैः करिभिः रुग्णानां भग्नानां चन्दनानां रसेनारुणं पाटलमभिभरुः॥49॥

महिषक्षतागुरुतमालनलदसुरभिः सदागतिः।
व्यस्तशुकनिभशिलाकुसुमः प्रणुदन्ववौ वनसदां परिश्रमम्॥12.50॥

भयवशादमार्गेण पलायमानैर्महिषैः क्षतो भग्ना ये आगुरवस्तमाला नलदाः सलक्ष्यस्तैः सुरभिः तथा व्यस्तानि शुकनिभानि नीलानि शिलाकुसुमानि येन स सदागतिर्वायुर्वनसदां किरातानां परिश्रमं खेदं नुदन्निवारयन्ववौ॥50॥

मथिताम्भसो रय[29]विदीर्णमृदितकदलीगवेधुकाः।
क्लान्तजलरुहलताः सरसीर्विदधे निदाघ इव सत्त्वसंप्लवः॥12.51॥

सत्त्वानां मृगाणां संप्लवो झम्पा प्लुत्या पतनं सरसीर्महासरांसि मथितजलाः। तथा रयेण विदिर्णा भग्नास्तदनुमृदिताः कदल्यो गवेधुकास्तृणधान्याख्यौषधिविशेषा यासां। तथा क्लान्तानि जलरुहाणि पद्मानि लताश्च यासां तथा भूता व्यधात्॥51॥

इति चालयन्नचलसानुवनगहनजानुमापतिः।
प्राप मुदितहरिणीदशनक्षतवीरुधं वसतिमैन्द्रसूनवीम्॥12.52॥

इत्येवं गिरिशिखरेषु वनगह्वरेषु जातान्मृगांश्चालयन्द्रावयन्नुमापतिरैन्द्रसूनवी-मिन्द्रसूनुसम्बन्धिनीं वसतिमाश्रमं प्राप। मुदिता हिंस्रप्राणिभिरबाधितत्वात्तुष्टाभिर्हरिणीभि-

---

29. विकीर्ण

र्दशनं चर्वणं दशनाघातेन क्षतानि स्त्वचा: कृता विरुधो लता यस्यां ताम्। स्त्रीलिङ्गनिर्देश: सिंहादिनामाश्रमेऽत्यन्तविरोधपरिहारसूचनार्थ:। यद्वा बलाभावाद्दूरं पलायितुमशक्ताभि: पूर्व संस्कारबलाभ्दयनिवारणार्थमाश्रमं प्रविष्टाभिर्मुदिताभिर्हरिणीभिर्दशनै: क्षतवीरुधमिति व्याख्येयम्॥52॥

स समाससाद घननीलमभिमुखमुपस्थितं मुने:।
पोत्रनिकषणविभिन्नभुवं [30]दितिजं दधानमति[31]सौकरं वपु:॥12.53॥

स किरातपतिरतिसौकरंवपुरतिवराहाकारं दधानं दितिजं समाससाद प्रापत्। घनवन्नीलं तथा मुनेरभिमुखं मुनिमुद्दिश्यावस्थितम्। पोत्रेण मुखाग्रेण यन्निकषणं काषस्तेन विभिन्ना दारिता भूर्येन तम्॥53॥

कच्छान्ते सुरसरितो निधाय सेनामन्वीत: स कतिपयै: किरातवर्यै:।
प्रच्छन्नस्तरुगहनै: सगुल्मजालैर्लक्ष्मीवाननुपदमस्य संप्रतस्थे॥12.54॥

कच्छस्य जलप्रायदेशस्यान्ते सेनां निधाय स किरातपतिरस्य वराहस्यानुपदं पदवीं लक्ष्यीकृत्य संप्रतस्थे प्रस्थितवान्। सूकरो मा स्म ज्ञासीरित्यल्पै: किराताग्रणीभिरन्वीत: कृतानुगमन:। तथा गुल्मानां गुच्छनां जालेन सहितैर्वृक्षगहनैराच्छादितशरीरस्तथा लक्ष्मीवानिति भद्रम्॥54॥

इति श्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां द्वादश: सर्ग:॥॥12॥

---

30. दनुजम्
31. अथ

॥त्रयोदशः सर्गः॥

वपुषा परमेण भूधराणामथ संभाव्यपराक्रमं विभेदे।
मृगमाशु विलोकयांचकार स्थिर[1]दंष्ट्राङ्कमुखं महेन्द्रसूनुः॥13.1॥

अथ महेन्द्रसूनुरर्जुनः प्रकटदंष्ट्रा अङ्को लक्षणं यस्य तन्मुखं यस्य तं मृगं वराहमाशु आगमनकाले एव विलोकयांचकार अद्राक्षीत्। केन हेतुना वैक्षत भूधराणां पर्वतानां विभेदे भञ्जने पराक्रमं संभाव्य पर्यालोच्य। अयं वराहः पर्वतानपि भेत्तुं शक्त इति तमर्जुनोऽद्राक्षीत्। यद्वा एष भूधराणां मृगाणां पर्वतानां च स्थावरजङ्गमानामित्यर्थः। विभेदे संभाव्यः पराक्रमो यस्य तं वराहं परं शत्रुमालोचयत् इति व्याख्येयम्॥1॥

स्फुटबद्धसटोन्नतिः स दूरादभिधावन्नवन्नवधीरितान्यकृत्यः।
जयमिच्छति तस्य जातशङ्के मनसीमं मुहुरा[2]दधे वितर्कम्॥13.2॥

स वराह इमं वक्ष्यमाणं वितर्कमूहं मुहुरादधेऽजनयत्। कुत्र तस्य चित्ते, कीदृशे जातशङ्के मामेव युक्त्या हन्तुमयमागत इति शङ्कमाने। यतो जयमिच्छति जयकामस्य हि सर्वतो भयम्। शङ्काहेतुमाह स्फुटा बद्धा रचिता सटोन्नतिः केसरो च्छ्रायो येन तथाविधः। तथावदीरितानि त्यक्तानि अन्यानि कृत्यानि सुस्ताजलस्पृहादीनि येन। तथा भूतोऽप्यभिधावन्संमुखं दूरादागच्छन् रोषेणैव हि वराहस्योत्सटत्वं भवति। यद्वा स वनप्राणी स्फुटबद्धसटोन्नतिरवधीरितान्यकृतो भवति यो जयमिच्छति जिगीषोर्वन्यस्य प्राणिनः केसरोच्छ्रायादीनि लक्षणानि भवन्तीत्यर्थः। अतः स तर्कमादधे। इयं व्याख्या पूर्वश्लोकद्वितीयव्याख्याया हेतुत्वेन देया॥2॥

घनपोत्रविदीर्णशालमूलो निबिड[3]स्कन्दनिकाषरुग्णवप्रः।
अयमेकचरोऽभिवर्तते मां समरायेव समाजुहूषमाणः॥13.3॥

अयं वराह एकचर एको विमुक्तयूथश्चरतीत्येकचरो मामभिवर्तते संमुखं धावति।

---

1. दंष्ट्रोग्र
2. आददे
3. स्कन्ध

अतः संभाव्यते समराय समाजुहूषमाणः समाह्वातुमिच्छन्निव मया सह युद्धं कुर्वित्याह्वानं कुर्वन्निव। स्वेन सह योद्धुं समर्थ इत्यर्जुनेन कथं सम्भावितमित्याह घनेन पोत्रेण मुखाग्रेण विदीर्णानि विदारितानि शालानां वृक्षाणां मूलानि येन सः। तथा निबिडयोः पीवरयोः स्कन्दयोर्निकाषः कषणं तेन रुग्णा वप्रा येन सः॥3॥

तमेव तर्कमाह॥

इह [4]वीतदयां तपोनुभावाज्जहति व्यालमृगाः परेषु वृत्तिम्।
मयि तां [5]सुतरामासौ विधत्ते विकृतिः किं नु भवेदियं नु माया॥13.4॥

इह मदाश्रमे तपः प्रभावाद्धेतोः व्यालमृगा दुष्टप्राणिनः सिंहाद्याः परेषु शान्तेषु मृगेषु हरिणादिषु निन्द्यां वृत्तिं हिसां जहति त्यजन्ति। मत्तपःप्रभावादूनमधिको नेह बाधते। असौ वराह स्तु मयि विषये तां वीतदयां वृत्तिं विधत्ते, मामेव हन्तुकाम आगच्छति। इयं विकृतिर्विक्रिया किं नु ममैव भवेत्। पित्तोपहतः श्वेतमपि शङ्खं पीतं पश्यति यथा तथाहमपि किमप्यशङ्क्यमपि शङ्कां मन्ये इत्यर्थः। किं वा माया भवेत्। वराहरूपमभिनीय कोऽप्यन्य आगतो वेत्यर्थः॥4॥

अथवैष कृतज्ञयेव पूर्वं भृशमासेवितया रुषा नु मुक्तः।
अवधूय विरोधिनीः किमारान्मृगजातीरभियाति मां जवेन॥13.5॥

अथवेति पूर्वपक्षापेक्षे विकृतिरियं मम नास्ति न चापीयं माया। किं तर्हि भृशं पूर्वजन्मन्यनेन मामधिकृत्य सेवितपारुषासौ न त्यक्तः। अत उत्प्रेक्ष्यते कृतं जानातीति कृतज्ञतयेव कृतज्ञः कृतमेवं न त्यजति। रोषस्तानुद्बुद्धिधर्मः परबुद्धिश्चाप्रत्यक्षा तत्कथं ज्ञातं रोषोऽस्यास्तीत्याशङ्क्याह। यद्यस्य मयि विषये रोषो न स्यात्तदायं मां जवेन किमभियाति मत्संमुखं किमागच्छेदित्यर्थः। विरोधिनीः विरोधो विद्यते यासु ताः मृगजातीरवधूय विरुद्धासु मृगजातिष्ववलेपं कृत्वा ममैव संमुखं यदेति तन्नूनं मयि जन्मान्तरसेवितो रोषोऽद्यापि न त्यक्त इत्यर्थः॥5॥

पुनरपि मायां संभाव्य वितर्कयति॥

न मृगः खलु कोऽप्ययं जिघांसुः स्खलति ह्यत्र तथा भृशं मनो मे।
विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं वा॥13.6॥

अयं मृगो न भवति। कस्तर्हीत्याह अयं कोऽपि जिघांसुर्मृगरूपधारणाद्विशेषेणाज्ञातो

---

4. वितभयाः
5. सुतरामयम्

वैरी हन्तुकामो भवति। तथा हीत्यनेन प्रतिज्ञानिष्पादनार्थमुपपत्तिमुपन्यस्यति। मम मनोऽत्र सूकरे स्खलति शङ्कते। शङ्कामात्रेण कथमयं शत्रुः संभावित इत्याह विमलं संपन्नं सच्चेतो हितैषिणं मित्रं कथयति। कलुषीभवदाविमलं संपश्यमानं सच्चेतो रिपुं कथयति। अपरिचिते कस्मिँश्चिद्दुष्टे यदि चित्तं विश्वासमेति तदा ज्ञायते ममायं हितकारीति यदि भयमेति तदा ज्ञायते ममायं शत्रुरित्यर्थः। अस्मिँश्च मे मनः शङ्कते अतो ममायं शत्रुरिति निश्चयः ॥6 ॥

मां यतिं क इव हन्तीत्यत्र वितर्के परिहारमाह॥

मुनिरस्मि निरागसः कुतो मे भयमित्येष न भूतयेऽभिमानः।
परवृद्धिषु बद्धमत्सराणां किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यम्॥ 13.7 ॥

अहं मुनिर्यमनियमपरोऽस्मि अतो निरागसो निरपराधस्य मम भयं कुतः कस्मात्पुरुषात्कस्माद्धेतोर्वा इति मतं भूतये भवनाय सिद्धये वा न भवति। पूर्ववाक्यार्थ उत्तरार्धेन समर्थयति, परवृद्धिष्वन्याभ्युदयेषु बद्धो मत्सरो यैस्तथाविधानां दुरात्मनां दुष्टाशयानांकिमिवालङ्घ्यमतिरस्करणीयमस्ति दुरात्मानो हि परोदयाऽसहिष्णुत्वान्मुनिमपि न गणयन्ति ॥7 ॥

शत्रुमात्रात्कथं भयमित्याह॥

दनुजः स्विदयं क्षपाचरो वा वनजे नेति बलं बतास्ति सत्त्वे।
अभिभूय तथा हि मेघनीलः सकलं कम्पयतीव शैलराजम्॥ 13.8 ॥

अयं दनुजः स्विभ्दवति क्षपाचरो राक्षसो वा भवति। कुत इत्याह वनजे सत्त्वे मृगादौ इतीदृशं बलं नास्ति। कदाचिद्वनमृगेऽपीदृग्बलं स्यादित्याह तथा ह्ययं शैलराजं पराभूयेव कम्पयति। मञ्चाः कोशन्तीतिवच्छैलराजशब्देन तत्स्था लक्ष्यन्ते इति व्याख्येयम्। मेघवन्नीलं बले सति वराहो नीलोभवति। अभिभूयेति पूर्वकालोऽत्र न विवक्षितः। मेघ इव नील इत्यनेन प्रथिमातिशयमाह। बत यस्मादर्थे ॥8 ॥

अयमेव मृगव्यसत्रकामः प्रहरिष्यन्मयि मायया शमस्थे।
पृथुभिर्ध्वजिनीरवैरकार्षीच्चकितोद्भ्रान्तमृगानि काननानि॥ 13.9 ॥

अयमेव. काननानि चकिताः संभ्रान्ता धावन्तो मृगा वनप्राणिनो येषु तथाविधान्यकार्षीत्। कैःपृथुभिर्ध्वजिनीरवैः सेनानादैः। किं कारणं सेनानादैर्मृगानत्रासय-दित्याह शमस्थे मुनित्वाद्वनप्राणिनो रक्षितरि मयि मायया प्रहरिष्यन् मृगव्यसत्रकामः।

मृगव्यसत्रं मृगयाव्याजं कामयत इति मृगव्यासत्रकामः सत्रं व्याजो मृगत्वं मृगया प्रह्वशब्दवद्व्ययतेः मृगव्यशब्दः संत्रस्तक्षुभितमृगाणि काननान्ययमेव निश्चितं व्यधान्नान्यः। एतदुक्तं भवति नात्र सेनया मृगव्यां कर्तुं कश्चिदागतः। 'सत्रमाच्छदने यज्ञे सदा दाने धनेऽपि' इति कोशः। आच्छादनं व्याजमेव। अयं भावः अहमेव सर्वान्प्राणिनस्त्रासयामि। एष च तन्न जानाति तदनुवराहरूपप्रच्छादितनिजरूपः शरणार्थमेतमेवाश्रयामि। एष च शान्तः सन् मम भीत्यस्यावकाशं दास्यति। अस्मिन्नेव च्छिद्रकाले निहन्म्येनमिति निश्चित्यायमेव वनेषु मृगानक्षोभयत्॥9॥

बहुशः कृतसत्कृतेर्विधातुं प्रियमिच्छन्नथवा सुयोधनस्य।
क्षुभितं वनगोचराभियोगाद्गणमाशिश्रियदाकुलं तिरश्चाम्॥13.10॥

अथवानेन वनप्राणिनो न क्षोभिताः। किन्तर्हिवनगोचराणां किरातानामभियोगान्मृग-व्योद्योगात्क्षुभितं तिरश्चाकुलं वनप्राणिगणमया माकुलं क्षोभिताभिनयेनाशिश्रियत्प्राविक्षत्। प्रवेशे हेतुमाह बहुशो नेकवारान्कृतसत्कृतेर्विहित सत्कारस्य सुयोधनस्य प्रियं हितं विधातुं कर्तुमिच्छन्। भीत्या धावतां वनप्राणिनां मध्ये प्रविष्टं सन्तं मां मरणार्थिनं गच्छन्तं यं निषेधति तदनुलब्धप्रवेशोऽहमेतं हत्वा दुर्योधनस्य प्रत्युपकारं करोमीति वनप्राणिगणमध्येऽयं प्रवेशमकरोदिति भावः। मम वध एव दुर्योधनस्य प्रत्युपकारः॥10॥

अवलीढसना[6]भिरुद्धतेन प्रसभं खाण्डवजातवेदसा वा।
प्रतिकर्तुमुपागतः समन्युः कृतवैरो यदि वा वृकोदरेण॥13.11॥

यदि वाऽयं न दैत्यौ नापि राक्षसः न च दुर्योधनेन प्रेरितः तर्हि कथमागत इत्याह अयं समन्युः सन् समप्रसभं कर्तुं प्रतिकारं कर्तुमुपागतः। मन्योर्हेतुमाहखाण्डवो खाण्डवाख्ये वने जातवेदा वह्निस्तेनावलीढा दग्धाः सनाभयः सोदरा यस्य सः सोदरदाहं स्मरन् प्रतिकारेच्छयायमागतः। यदि वा वृकोदरेण कृतवैरः बाधितः सशङ्कत्वात्तुं प्रतिकर्तुमशक्तो मामशङ्कं सन्तं बाधितुमसावागतः॥11॥

एवं सति यद्युक्तं तदाह॥

बलशालितया यथा तथा वा धियमुच्छेदपरामयं दधानः।
नियमेन मया निबर्हणीयः परमं लाभमरातिभङ्गमाहुः॥13.12॥

मयायं निबर्हणीयो हन्तव्यः। निबर्हणे हेतुमाह बलशालितया बलेन यथा तथा वा छलेन वा ममोच्छेदे ध्वंसे परं धियं नियमेन दधानः। युक्तमेतत् जना अरतिभङ्गं शत्रुध्वंसं परं लाभमाहुः। यद्वा नियमे सत्यपि न निबर्हणीयः काकुस्वरप्रयोगेण निबर्हणीय एव। तपस्विनो हिंसा कथं युक्तेत्याह वैरिनाशमेव जना महान्तं लाभं कथयन्ति। यद्वा तपसि

---

6. अभिरश्वसेनः

ममोपदेष्टारः शत्रुसंहारं तपसो लाभं परममाहुः। शत्रुश्चायं योऽहन्तुमागतः अतोऽयं हन्तव्य इत्यर्थः॥12॥

एतामेव व्याख्यामुत्तरश्लोकेन स्फुटयति॥

कुरु तात तपांस्यमार्गदायी विजयायेत्यलमन्वशान्मुनिर्नाम्।
बलिनश्च वधादृतेऽस्य शक्यं व्रतसंरक्षणमन्यथा न कर्तुम्॥13.13॥

गुरुणा वैरिणां प्रत्युपकारार्थमयं तपस्यादिष्टः वराहस्त्वनेन हतः। अतो गुरोराज्ञोल्लङ्घितेति स्वस्मिन्विषये खलोक्तिमाशङ्क्याह हे तातयोग्य त्वं विजयायामार्गदायी यस्त्वां जेतुमागच्छति तस्य पन्थानमददानः संस्तपांसि कुर्विति मुनिर्मामलमत्यर्थमन्वसात् अनुदिष्टवान्। बलवतोऽस्य वराहस्य वधादृते वधं विना अन्यथान्येन प्रकारेण प्रीत्यादिना व्रतसंरक्षणं गुरुनिदेशानुष्ठानं न शक्यं। बलावलेपादयं प्रीतिविषयो न भवति। अतोऽस्य वधेनैव गुर्वाज्ञानुष्ठिता भवतीत्यर्थः॥13॥

इति तेन विचिन्त्य चापनाम प्रथमं पौरुषचिह्नमाललम्बे।
उपलब्धगुणः परस्य भेदे सचिवः शुद्ध इवाददे च बाणः॥13.14॥

तेनेति पूर्वोक्तयुक्त्या विचिन्त्य चिन्तां कृत्वा चापनाम धनुराख्यं प्रथमं पौरुषचिह्नमाद्यं पराक्रमलक्षणमाललम्बे। खड्गादिभिर्युद्धे हि सद्य एव वधनिष्पत्तेर्न तथा पौरुषं व्यज्यत इति धनुषः पौरुषसम्बन्धिप्रधानचिह्नत्वम्। परस्य शत्रोर्भेदे विदारणे उपलब्धोऽनुभूतो गुणो नैपुणं यस्य सः तथा शुद्धो निर्देशो बाणश्च तेनाददे। अत्रोत्प्रेक्ष्यते इव सचिव इव सोऽपि परस्य भेदे भेदापादने प्राप्तगुणः शुद्धश्च भवति॥14॥

अनुभाववता गुरु स्थिरत्वादविसंवादि धनुर्धनञ्जयेन।
स्वबलव्यसनेऽपि पीड्यमानं गुणवन्मित्रमिवानतिं प्रपेदे॥13.15॥

स्वबलस्यव्यसनं तपः क्लेशेन हानिस्तस्मिन् सति अपि धनञ्जयेन पीड्यमानमाकृष्यमाणं धनुरानतिं प्रपेदे। कदाचिल्लघुत्वादिकं धनुषः स्यादित्याह गुरुतया स्थिरत्वादविसंवादि न कदाचिद्भग्नं तथा गुणवद्विकटाटनित्वादिगुणसहितम्। कथं तर्हि नमितमित्याह अनुभाववता सत्वसहितेन। यथा स्वस्य बलस्य कटकधनादेर्व्यसनेनाशेकेन चित् प्रार्थनया पीड्यमानं मित्रमामतिं प्रतिपद्यते। तच्च गुरु सगौरवं स्थैर्यादविसंवादिमैत्रीनिष्ठम् अनुभाववतां पूर्वावस्थायां समाहात्म्येन॥15॥

[7]सविकर्षनिनादभिन्नरन्ध्रः पदविष्कम्भनिपीडितस्तदानीम्।
अधिरोहति गाण्डिवं महेषौ सकलः संशयामारुरोह शैलः॥13.16॥

महेषौ महतिशरे गण्डिवमर्जुनचापमधिरोहति सति सकलः शैलः संशयमारुरोह। पर्वतो विनाशमेष्यतीति जनेन संभावितमित्यर्थः। आरुरोहेत्युक्त्या गिरेश्चापविधेयत्वं ध्वनितम्। भृत्यो हि हर्षविषादादिकं स्वामिनोऽनुकरोति। कुतोऽद्रिः संशयमाप्त इत्याह

---

7. प्रविकर्ष

विकर्षणेन धनुराकर्षणेन यो निनादस्तेन भिन्नानि विदारितानि सशब्दानि कृतानि रन्ध्राणि गुहा यस्य सः। पदविष्कम्भेन पदाक्रमणेन निपीडितः निपीडितश्चरोऽतिप्राणसन्देहमेति च ॥16॥

ददृशे[8] च सविस्मयं शिवेन स्थिरपूर्णायतचापमण्डलस्थः।
रचितस्तिसृणां पुरां विधातुं वधमात्मेव भयानकः परेषाम्॥13.17॥

शिवेन सम विस्मयं साश्चर्यं ददृशे दृष्टः। विस्मये हेतुमाह स्थिरं निष्कम्पतया पूर्णं समग्रतयायतमाकृष्टं यच्चापमण्डलं तत्रस्थः। अत एव परेषां भयानकः। क इव तिसृणां पुरां त्रिपुराणां वधं विधातुं रचित आत्मेव। पुरत्रयवधविधानार्थभिनीतस्य स्वात्मनः सदृशं शिवस्तं ददर्शेत्यर्थः ॥17॥

विचकर्ष च संहितेषुरुच्चैश्चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्रः।
धनुरात[9]तभोगवासुकिज्यावदनग्रन्थिविमुक्तवह्नि शंभुः॥13.18॥

शंभुर्धनुः विचकर्ष चाकृष्टवान् द्वौ च शब्दौ दर्शनाकर्षणयोस्तुल्यकालतां द्योतयतः। तद्धनुराकर्षणकालमेव हरः स्वधनुराचकर्षेत्यर्थः संहितो योजित इषुर्येन तथा चरणाच्छन्देन पादाक्रमणेन नामितोऽचलेन्द्रो येन सः। आतत आकृष्टे भोगः शरीरं यस्य स वासुकिरेव ज्यागुणः तद्वदनग्रन्थिस्तस्माद्विमुक्तं वह्निर्यत्रैवं कृत्वाकृष्टवान्। यदा गुणभूतो वासुकिराकृष्टस्तन्मुखादग्निर्निर्गत इत्यर्थः ॥18॥

स भवस्य भवक्षयैकहेतोः सितसप्तेश्च विधास्यतोः सहार्थम्।
रिपुराय पराभवाप मध्यं प्रकृतिप्रत्ययोरिवानुबन्धः॥13.19॥

स रिपुर्वराहरूपो मूकदानवो भवस्य सितसप्तेश्च हरार्जुनयोर्मध्यं पराभवाय मरणार्थमापः प्राप्तः। भवक्षयस्य संसारोच्छेदस्यैको हेतुः कारणं तस्य। कीदृशयोः महार्थं विधास्यतोः समं कार्यं वराहमारणलक्षणं साधयतोः। यथा प्रकृतिप्रत्ययोः प्रकृतिर्लिङ्गं वृक्षादिप्रत्ययः आसादिस्तयिर्मध्येऽनुबन्धो नुडागमे टकारादिपराभवाय लोपार्थं मध्यं प्राप्नोति। सह मिलित्वा वाच्यमर्थं विधास्यतोरभिधास्यतोः पूर्वपरसमुदायेनैवमुपरि निष्ठितस्यार्थस्याभिगमात् ॥19॥

अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा रवविन्त्रासितवारणादवार्यः।
निपपात जवादिषुः पिनाकान्महतोऽभ्रादिव[10]साशनि [11]कृषाणुः॥13.20॥

अथ पिनाकाद्धरचापादिषर्जवान्निष्पपात दीपितं वारिवाहवर्त्म खं येन तथा वार्यो वारयितुमशक्यः रवेन वित्रासिता भयिता वारणा हस्तिनो येन तस्मात्। यथा साशनिरशनिसहिः कृषाणुरभ्रान्मेघान्निष्पतति।

---

8. अथ
9. आयत
10. वैद्युतः
11. कृशानुः

अभ्रं च स्तनितेन हस्तिनस्त्रासयति। अशनिश्च दीपिताकाशोऽवार्यश्च भवति ॥20॥

व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्रजन्मा कृतताक्ष्र्योपनिपातवेगशङ्कः।
प्रतिनादमहान्महोरगाणां हृदयश्रोत्रभिदुत्पपात नादः ॥13.21॥

गच्छतोऽस्य शटस्य बृहद्भ्यः पतत्रेभ्यः पक्षेभ्यो जन्म यस्य। तथा महोरगाणां जनित गरुडोपगमरयशङ्कोऽत एव हृदयश्रोत्रं भिनत्ति तथाविधो ध्वनिरुत्पपातोत्पन्नः गरुडागमशङ्कामकरोत्। कथमित्याहप्रतिनादमहान्प्रतिशब्देनाधिकः ॥21॥

नयनादिव शूलिनः प्रवृत्तैर्मनसोऽप्याशुतरं यतः पिशङ्गैः।
विदधे विलसत्तडिल्लताभैः किरणैर्व्योमनि मार्गणस्य मार्गः ॥13.22॥

आशुशब्दोऽव्ययमिति मनस इति पंचमीविभक्त इति पंचमी। मनसेप्यासुतरं यतः चित्तादपि तूर्णं गच्छतो मार्वणस्य बाणस्य किरणैः व्योमनि मार्गे विलसत्तडिल्लताभो विलसन्ती तडिल्लताया आभा शोभायत्र तथाविधो विदधे कृतः। येन मार्गेण शरो गतस्तत्र विद्युदिवास्फुरदित्यर्थः। विलसत्तडिल्लताभैरिति पाठे मार्गणस्यैतद्विशेषणम्। अयं भावः मार्गणो गच्छन्नदृष्टः केवलं दीप्तिजालैरेव शरस्य पन्था जनेन लक्षितः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते शुलिनः नयना त्रिलोचनस्य नेत्रादिवोत्पन्नैः ॥22॥

अपयन्धनुषः शिवान्तिकस्थैर्विवरेसद्भिरभिख्यया जिहानः।
युगपद्ददृशे विशन्वराहं तदुपोढैश्च नभश्चरैः [12]पृषद्कः ॥13.23॥

शिवस्यान्तिकं तत्र तिष्ठद्भिर्नभश्चरैर्धनुषः सकाशादपयन्निर्गच्छपृषद्को ददृशे। तथा विवरे सद्भिः शिववराहयोर्मध्यस्तानस्थितैर्नभश्चरैः पृषद्कोऽभिख्या वेगरूपया शोभया जिहानो गच्छं स्वदैव ददृशे। तथा तदुपोढैस्तेन वराहेण पौढैः समीपे धृतैर्नभश्चरैर्वराहं विशंस्तदैव दृष्टः। निर्गमप्रयाणप्रवेशाः शरस्यान्यशरवत्पृथङ्न लक्षिता इत्यर्थः ॥23॥

स तमालनिभे रिपौ सुराणां घननीहार इवाविषक्तवेगः।
भयविलुप्तमीक्षितो [13]वनस्थैर्जगतीं ग्राह इवापगां जगाहे ॥13.24॥

सशरो जगतीं जहाहे भूमिं प्राविशत्। कीदृक् काष्ण्र्यात्तमालसदृशे दैत्ये अविषक्तवेगः अप्रतिहतरयः। अत उत्प्रेक्ष्यते घननिहारे इव निहारवच्छिथिल इत्यर्थः। भयेन करणभूतेन विप्लुतं भ्रान्तं कृत्वा वनस्थैर्वनवासिभिरीक्षितः। यथा ग्राहो जलचरः आपगां नदीं गाहते स चाविषक्त वेगः वनस्थैर्जलमध्यस्थितैर्भीत्या दृष्टः ॥24॥

सपदि प्रियरूपपर्व[14]लेखः सितलोहाग्रनखः खमाससाद।
कुपितान्तकतर्जनाङ्गुलिश्रीर्व्यथयन् प्राणभृतः कपिध्वजेषुः ॥13.25॥

कपिध्वजस्यार्जुनस्येषुः सपदि हरशरप्रवेशसमकालं खमाससाद गगनं प्राप्तः। कीदृक् कुपितस्यान्तकस्य तर्जनार्थमङ्गुलिस्तद्वच्छ्राकृतिर्भयोत्पादनरूपा वा यस्य सः।

---

12. पृषक्तः
13. नभः
14. रेखः

रूपं सन्निवेशः पर्वाणि ग्रन्थयः लेख अलक्तकादिकृताश्चित्रिविच्छित्तयः प्रिया यस्य सः। लोहमयं यदग्रं शल्यं स एव नखः सित्स्तीक्ष्णो यस्य सः। अङ्गुलेश्च रूपं पर्वाणि लेखाश्च मनोरमा भवन्ति नखश्च सितः ॥25॥

परमास्त्रपरिग्रहोरु तेजः स्फुरदुल्काकृति विक्षिपन्वनेषु।
स जवेन पतन् परःशतानां पततां व्रात इवारवं वितेने ॥13.26॥

सशरः पतन्नारवं शब्दं वितेनेऽकार्षीत्। परस्योत्कृष्टस्यास्त्रमन्त्रस्य परिग्रहेण सन्निधानेनोरु महत्। तथा स्फुरन्ती योल्का तद्वदाकृतिर्यस्य तत्तेजो वनविषये विक्षिपन्। यथा परःशतानां शताधिकसङ्ख्यानां पतत्रिणां पक्षिणां व्रातः समूहः पतन्नाखं वितनुते ॥26॥

अविभावितनिष्क्रमप्रयाणः शमितायाम इवातिरंहसा सः।
सह पूर्वतरं नु चित्तवृत्तेरपतित्वा नु चकार लभ्यभेदम् ॥13.27॥

स शरो लक्ष्यस्य वराहस्य भेदं विदारणमतिरंहसा वेगेने सत्वरं चकार। अत वितर्क्यते चित्तवृत्या सह नु चकार। यदैवार्जुनेन चित्ते वराहविदारणं सङ्कल्पितं तदैव किं वराहं सशरो भैत्सीत् इत्यर्थः। अथ चित्तवृत्तेः सङ्कल्पात्पूर्वतरं नु। अपतित्वा नु धनुषः सकाशादनिर्गत्य धनुर्वत्येव सशरो लक्ष्यभेदमकार्षीत्। यतो निष्क्रमो धनुषः सकाशान्निर्गमनं प्रयाणं गमनं तेनाविभावितेऽलक्षिते यस्य सः। तथा शमितो निवारित आयामो दैर्घ्यं यस्य तथाविध इव। अतिरंहसेति हेतुरायामो ह्रासो च योज्यः। पूर्वतरमिति क्रियाविशेषणम् ॥27॥

स वृषध्वजसायकावभिन्नं [15]जयहेतोः प्रतिकायमेषणीयम्।
लघु साधयितुं शरः प्रसेहे विधिनेवार्थमुदीरितं प्रयत्नः ॥13.28॥

स शरः प्रतिकायं वराहं लघु सद्य एव साधयितुं पातयितुं प्रबभूव। लघुत्वे हेतुमाह वृषध्वजस्य सायकेनावभिन्नं प्रथमं विदारितं। तथा जयहेतोर्विजयार्थ-मेषणीयमभिलषणीयम्। यथा विधिना पूर्वकर्मणा तदीरितं साधितमिष्टमर्थं कार्यं प्रयत्नः पुरुषव्यापरश्चतुरं साधयति ॥28॥

अविवेकवृथाश्रमाविवार्थं क्षयलोभाविव संश्रितानुरागम्।
विजिगीषुमिवानयप्रमादाववसादं विशिखौ विनिन्यतुस्तम् ॥13.29॥

विशिखौ हरार्जुनयोः शरौ तं दैत्यमवसादं निन्यतुः अवधिष्टाम्। यथाऽविवेको विशेषज्ञत्वाभावः वृथा श्रमः अस्थानाभिनिवेशः तौ यथाऽर्थं कार्यं नाशयतः। यथा क्षयो लोभश्च स्वामिनि सेवकानामनुरागमवसादं नय। क्षीणं लुब्धं च सेवित्वा न हि फलं लभ्यते। अनयो यत्किचन कारित्वं शास्त्रनैरपेक्षेण वर्तनमनयः। प्रसादः कार्येष्ववधानाभावः। अनवधानं तौ यथा विजिगीषुं राजानमवसादं नयतः तथा तं दानवं शिवार्जुनेषू अवसादयतः। अवसादो बलादिहानिः ॥29॥

अथ [16]"दीर्घतरं तमः प्रवेक्ष्यन् सहसा रुग्णरयः स सम्भ्रमेण।
निपतन्तमिवोष्णरश्मिमुर्व्यां वलयीभूततरुं धरां च मेने ॥13.30॥

---

15. जयहेतुः
16. दीर्धतमम्

अथ स दैत्य उष्णरश्मिं सूर्यमुवर्यां निपन्तमिव मेने, धरां भूमिं च वलयीभूततरुं भ्रान्तद्रुमां मेने ज्ञातवान्। कदा मेने दीर्घतरं तमः प्रवेक्ष्यंन्। अप्रतर्कमेव शराभिहतोऽमरिष्यन् प्रथमं संभ्रमवशाद्भूमावर्कबिम्बं पतन्तं ददर्श। पृथिवीं चक्रारूढामिव ददर्श भ्रमन्तीमित्यर्थः। कथं सहसाऽशङ्कित मेव रुग्णो नष्टो रयो यस्य सः। इव शब्दो नव क्लृप्त्यर्थादौ यथाकथञ्चिद्योज्यः। दीर्धतरं तमो मरणलक्षणम्॥30॥

स गतः क्षितिमुष्णशोणितार्द्रः [17]खरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा।
असुभिः क्षणमिक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिर्निरासे॥13.31॥

असुभिः प्राणैः स वराहो निरासे मृत इत्यर्थः। कीदृक् क्षितिं गतो भूमौ पतितः। अत एव खरैः कठिनैः शितैर्वा दंष्ट्राग्र्यो निपातः तेन दारिताः पातिताश्चूर्णिता अश्मानो येन सः। यद्वा दंष्ट्राग्रैर्यो निपातः प्रहारः तेन दारिताश्मा दुष्टप्राणिनो हि हतः सन्तः पाषाणादिना हन्तुरलाभे यत्र तत्रस्थं पाषाणादिकमेव कोपाद्दशन्ति। तथा क्षणमिक्षित इन्द्रसूनुरर्जुनो येन सः। एतस्यापकारो न संपन्न इत्यर्जुनवीक्षणे भावः। अत एव विहित अमर्षगुरुर्ध्वनिर्येन सः। तथोष्णेन शोणितेनार्द्रः। उष्णग्रहणं शरतीक्ष्णत्वप्रतिपादनार्थम्। एवं विधः सप्राणैस्तत्यजे॥31॥

स्फुटपौरुषमापपात पार्थस्तमथ प्राज्यशरः शरं जिघृक्षुः।
न तथा कृतवेदिनां करिष्यन्प्रियतामेति यथा [18]कृतावदाः॥13.32॥

अथ पार्थस्तं शरं जिघृक्षुर्गृहीतुकामः सन् स्फुटं पौरुषं येन करणभूतेन तमापपातागतः। कदाचिदिषुदारित्तमादित्सुराजगामेत्याह प्राज्यशरः प्रभूतबाण प्राज्यास्ततोऽधिकाः शरा यस्य सः। यदि शराढ्यस्तर्त्कि तं शरं गृहीतुमागत इत्याह कृतं [19]वेदन्ति कृतज्ञास्तेषां पुरुषाणां प्रियं करिष्यन्। प्रियतां वाल्लभ्यं तथा नैति यथा कृतावदाः संपादिताज्ञः प्रियतामेति। अयमर्थः कृतज्ञानां येन कार्यं साधितं सोऽतीववल्लभः अतः कृतकार्यं शरं गृहीतुं कृतज्ञोऽर्जुन आगतः॥32॥

उपकार इवासति प्रयुक्तः स्थितिमप्राप्य मृगे गतः प्रणाशम्।
कृतशक्ति[19]रनुन्मुखो गुरुत्वाज्जनितव्रीड इवात्मपौरुषेण॥13.33॥

स समुद्धरता विचिन्त्य तेन स्वरुचिं कीर्तिमिवोत्तमां दधानः।
अनुयुक्त इव स्ववार्तमुच्चैः परिरेभे नु भृशं विलोचनाभ्याम्॥13.34॥

---

17. खुर
18. कृतावदानः
19. अधोमुखः

सशरस्तेन विचिन्त्य समुद्धरता विलोचनाभ्यामुच्चैर्वान्तमनुयुक्त इवाथवा परिरेभिरे नु स्विदालिङ्गितः। तेन स्वशरः स्ववार्तं स्वकुशलमिवानुयुक्तः पृष्टः ताभ्यामेव विलोचनाभ्यां करणाभ्यां तेन सशरः परिरेभेऽन्वालिङ्गितः स्वित्। तत् कथं भूमेरुत्खात इत्याह अतिवेगवत्वान्मृगे वराहे स्थितिमलब्ध्वा प्रणाशमदर्शनं गतः यथाऽसति कृतघ्ने प्रयुक्त उपकारः स्थितिमवस्थानमप्राप्यादर्शनं गच्छति तथा फलस्य गुरुत्वा-द्गौरवेणानुन्मुखोऽधोमुखः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते आत्मपौरुषेण करणभूतेन कृतां शक्तिर्वराहपातनरूपा येन सः। अत एव जनिव्रीडः सलज्ज इव। महान्तो हि महत्कर्मसंपाद्य लज्जया नतमुखा भवन्ति। बतः कीर्तिमिवोत्तमां स्वामकृत्रिमां दधानः। अयमर्थः स यत्नमर्जुनेन विचिन्त्यान्विष्व सदरं विक्ष्य शरो भूमेरूद्धतः। तत्र वितर्कः किं स्वित्तेन शरः कुशलं पृष्टः आहो भृशं स्विदालिङ्गितः वृत्तिः प्राकरणं विद्यतेऽतिवार्तम् ॥33, 34॥ युग्मम्॥

तत्र कार्मुकभृतं महाभुजः पश्यति स्म सहसा वनेचरम्।
सन्निकाशयितुमग्रतः स्थितं शासनं [20]कुसुमकेतुविद्विषः॥13.35॥

महाभुजः स पार्थस्तत्र शरस्थाने वनेचरं धनुर्धरं सहसाऽनाकलितं कृत्वा पश्यति स्माद्राक्षीत्। कुसुमकेतुविद्विषः कामारेरीश्वरस्य शासनमाज्ञां सन्निकाशयितुं प्रापयितुमग्रतः स्थितम् ॥35॥

स प्रयुज्य तनये महिपतेरात्मजातिसदृशीं किलानतिम्।
सान्त्वपूर्वमभिनीतहेतुकं वक्तुमित्थमुपचक्रमे वचः॥13.36॥

स किरातोऽभिनीतहेतुकं नाटितनिमित्तं वचो वक्तुमुपचक्रमे प्रारेभे। कथं सान्त्वं पूर्वं, प्रीति पूर्वं न तु पर्यवसाने यत्रैवम्। किलात्मजातेरलीककिरातजातेः सदृशीमुचितामानतिं महिभृतस्तनये प्रयुज्य किरातैरागतपत्राणां यादृक् प्रणशः क्रियते तादृशं प्रणशमर्जुनस्य कृत्वा वचोऽभ्यधात्। अभिनीतं विदुर्युक्तम् ॥36॥

तदेव सान्त्वपूर्वमाह॥

शान्तता विनययोगि मानसं भूरि धाम विमलं तपः श्रुतम्।
प्राह ते [21]स्वसदृशी दिवौकसामन्ववायमवदातमाकृतिः॥13.37॥

शान्तता शमस्तव मानसं चित्तं विनययोगि विनययुक्तं प्राह सूचयति इङ्गितानां मनोधर्मानुयायित्वात्। कदाचिदसामर्थ्याद्विनयोऽस्तीत्याह भूरि धाम महातेजस्कम्। तथा

---

20. कुसुमचाप
21. नु रदृशी

विमलं तपः श्रुतं शास्त्रमाख्याति शास्त्रदृश्वानमेव तपसि प्रवृत्तेः यद्वा भूरि धामेऽततितपसो विशेषणं योज्यम्। तथा देवानां सम्यक्सदृशी आकृतिस्ते। त्वत्सम्बन्धिनमन्ववायं कुलमवदातं शुद्धमाह महाकुलिनेष्वेव रूपसंपत्तेः। उपशमनपोरूषविशेषैः प्रत्यक्षैः परोक्षाणि विनयश्रुतकुलानि तवानुमिमीमहे। श्रुतस्य वैमल्यमपरिशुद्धता शान्तता अग्निहोत्रादि-क्रियाकलापः विनयो जितेन्द्रियता। दिवसो को निवासो येषां ते दिवौकसः। दिवशब्दोऽकारान्तोऽपि यथा पादौ तव धरा देवी दिशो बाहू दिवं शिरः॥37॥

दीपितस्त्वमनुभावसंपदा गौरवेण लघयन्महीभृतः।
राजसे मुनिरपीह कारयन्नाधिपत्यमिव शातमन्यवम्॥13.38॥

मुनिरपि संस्त्वं शातमन्यवं शतमन्युसम्बन्धि ऐन्द्रमाधिपत्यमिह गिरौ कारयन्निष्पायन्निव राजसे। अत्र हेतुमाह अनुभावस्य प्रभावस्य संपदामाहात्म्येन दीपितः। अत एव गौरवेण महीभृतो राज्ञो लघयन्नधरीकुर्वन्। श्लोकार्थं स्फुटयति प्रभुरिन्द्र इवेह लक्ष्यसे इत्यर्थः करोति। निष्पत्त्युपसर्जने निष्पादने वर्तते तेन कारयन्निष्पादयन् इत्यर्थः। आधिपत्यं निष्पाद्यते त्वं निष्पादयसीत्यर्थः॥38॥

तापसोऽपि विभुतामुपेयिवानास्पदं त्वमसिसर्वसंपदाम्।
दृश्यते हि भवतो विना जनैरन्वितस्य सचिवैरिव द्युतिः॥13.39॥

त्वं सर्वासां सम्पदां स्थानभूतां विभूतामुपेयिवानसि तापसोऽपि तपसि प्रवृत्तोऽपि। तदेव वैभवं दर्शयति जनैर्विनापि एकाकिनोऽपि भवतः सचिवैरन्वितस्येव सहायपरिवृतस्येव द्युतिर्लक्ष्यते। यथा ससहायः स्थानमाक्रमति तथैकाक्यपि भवानित्यर्थः। एकाक्यपि सामन्तपरिवृत इव। यतो राजसे ततो राजा त्वमत एव सर्वसंपदामास्पदमसीत्यर्थः॥ उक्ताद्धेतोस्तव जयलक्ष्मीर्हस्तस्थैव एतदेव विशेषप्रतिपादविषया आक्षिपति॥39॥

विस्मयः क इव वा जयश्रिया नैव मुक्तिरपि ते दवीयसी।
यतस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निर्जितरजस्तमोगुणः॥13.40॥

वा पूर्वपक्षाक्षेपे त्वत्सम्बन्धिन्या जयश्रिया हेतुभूतया विस्मयः क इव किं नामाश्चर्यं भवति। यतस्ते तव मुक्तिरपि दवीयसी सुलभैवेत्यर्थः। सामान्येन विशेषं समर्थयितुमाह निर्जिते रजस्तमसी रजस्तमोरूपौ गुणौ येनः सः पुरुषः कस्य नेप्सितस्य सर्वस्यैव प्राप्यस्य भोगमोक्षलक्षणस्येष्टस्यापाश्रयः स्थानं भवेत्। येन रजस्तमश्च जितं तस्य सर्वमिष्टं सिध्यतीत्यर्थः॥40॥

एवं सान्त्वमभिधायेदानीं स्वागमनेऽभिनीतं हेतुं विवक्षुराह॥

ह्रेपयन्नहिमतेजसं त्विषा स त्वमित्थमुपपन्नपौरुषः।
हर्तुमर्हसि वराहभेदिनं [22]नेममस्यदधिपस्य [23]मार्गणम्॥13.41॥

इत्थं यस्त्वं सत्वमस्मदधिपस्य सम्बन्धिनं सायकम् हर्तुं नार्हसि। एवं यस्त्वं पूवोक्तगुणविशिष्टः सम्भावितपराक्रमस्तेजस्विनामग्रणीस्तस्य तवास्मत्स्वामिशरहरणं युक्तम्। स त्वं शरं चोरयितुं न क्षमसे इत्यर्थः। अहिमतेजसमादित्यं ह्रेपयन् यो हि शान्तस्य तेजो न भवति तेजस्विनश्च शमो न सम्भाव्यते त्वयि तु धामसंसर्गमित्यादिन्यह्रेपणम्। तथा त्विषा करणभूतया उपपन्नं लक्षितं पौरुषं यस्य सः तेजोरहिता निष्पुरुषकाराश्च परकीयं वस्तु मुष्णन्ति। भवांस्तु तेजस्वी च पुरुषश्च कथं मुषितवानित्यर्थः। इत्थं परकीये शरे स्वकशरत्वारोपणं कृत्वाऽस्मत्स्वामिशरं हन्तुं त्वं नार्हसि। यद्वा त्विषार्कं ह्रेपयन्निति योज्यम्। न चायमगुणः शर इत्याह वराहभेदिनम्। यद्वा वक्ष्यमाणाभिप्रायसूचनपरमिदं विशेषणम्॥41॥

एवं परकीयवस्तुहरणाभावं न्यायेन साधयित्वा धर्मशास्त्रेणापि साधयितुमाह॥

स्मर्यते तनुभृतां सनातनं न्याय्य[24]माचरणमुत्तमैर्नृभिः।
ध्वंसते यदि भवादृशस्ततः कः प्रयातु वद तेन वर्त्मना॥13.42॥

उत्तमैर्नृभिर्मन्वादिमुनिभिर्न्याय्यमाचरणं न्यायादनपेतआचारस्तनुभृतां मनुष्याणां सनातनं धर्मः स्मर्यते। भवादृशः शमतेजः कुलालङ्कृतः पुरुषस्ततो न्यायाचरणाद्यदि ध्वंसते भ्रश्यति तर्हि त्वमेव वद तेन वर्त्मना न्याय्याचरणेन कोऽन्यः प्राकृतः प्रतितिष्ठताम्॥42॥

तनुद्भ्यः अपि पार्थस्य विशेषं दर्शयितुमाह॥

आकुमारमुपदेष्टुमिच्छवः सन्निवृत्तिमपथान्महापदः।
योगशक्तिजितजन्ममृत्यवः शीलयन्ती यतयः सुशीलताम्॥13.43॥

यतयः सुशीलतां सदाचारानुष्ठानं शीलयन्त्यभ्यासयन्ति धर्मोपदेशेन परानप्यधर्मान्निवर्तयन्ति महती आपद्यस्मात्तन्महापत् तस्मान्महापदेऽपथादन्यायाचारात्सन्निवृत्तिं निवृत्तिं आकुमारं बालपर्यन्तमुपदेष्टुमिच्छवः। बालानपि दुराचारान्निवर्तयन्तो यतयः स्वयं कथं दुराचारं कुर्युरिति भावः। योगशक्त्या जितो जन्ममृत्यू यैस्ते 'योगशक्तिजितजन्ममृत्यवः योगः' पातञ्जले कृतलक्षणः ततोऽवधार्यः। न केवलं यतय एव सुशीलतां शीलयन्ति यावत् सर्व एव॥॥43॥

---

22. एनम्
23. सायगम्
24. आचरितम्

सदाचारस्य लोकद्वयेऽपि फलदायितां प्रतिपादयितुमाह॥

तिष्ठतां तपसि पुण्यमासजन् संपदोऽनुगुणयन् सुखैषिणाम्।
योगिनां परिणमन् विमुक्तये केन नास्तु विनयः सतां प्रियः॥13.44॥

विनयः सदाचारः सतां प्रियः केन नास्तु। प्रियतायां हेतुमाह तपसि तिष्ठतां पुण्यमासजन् आसञ्जन्। तथा सुखैषिणां भोगलब्धानां संपदोऽनुगुण यन्ननुकूलयन् योगिनां विमुक्तये परिणमन्। सदाचारसेवनेन तपस्विनां पुण्यवृद्धिः भुक्तिकामानां लक्ष्मीवृद्धिः मुक्तिकामानां सिद्धिरित्यर्थः। भवान्भुक्तिकामो मुक्तकामः स्वर्गकामो वास्तु, सर्वथा सदाचारानुष्ठानं त्वया कर्तव्यमित्यर्थः॥44॥

न च त्वया सदाचारस्त्यक्तः किन्तु शरभ्रमेणैव शरस्त्वया स्वीकृत इति प्रतिपादयितुमाह॥

नूनमत्रभवतः शराकृतिं सर्वथायमनुयाति सायकः।
सोऽयमित्यनुपपन्नसंशयः कारितस्त्व[25]मपदे पदं यया॥13.45॥

नूनं निश्चितमयं सायकोऽस्मदीयशरोऽत्रभवतः शराकृतिं तव शरवदाकृतिमनुयाति प्राप्नोति। अनुरत्र यातो धातोरर्थमनुवर्तते। शरवदाकृतिः का यया भवदीयशरसाम्येन हेतुनाऽनेन सायकेन कर्त्रा त्वं कर्मभूतोऽपदे वस्तुस्वीकारे पदं स्थितिं कारितः। यदि स्वशरस्य परशरेण साम्यं तदा परशरहरणं कथं कृतमित्याह अयं स इति। इति हेतौ सोऽयमित्यस्माद्धेतोः। त्वं कीदृक् अनुपपन्नः संशयो भ्रान्तिर्यस्य सः। महामतित्वात्संशयानर्होऽपि त्वं स्वशरसाम्येन हेतुना परशरं स्वशरं मत्वा स्वीकृतवान्॥45॥

अन्यदीयविशिखे न केवलं निःस्पृहस्य भवितव्यमाहृते।
निघ्नतः परनिबर्हितं मृगं व्रीडितव्यमपि ते सचेतसः॥13.46॥

आहृते भ्रान्त्या स्वीकृते अन्यदीये विशिखे शरो निःस्पृहस्य न केवलं ते तव भवितव्यम्। यावत्ते तव व्रीडितव्यं लज्जनीयं च। यतः परैर्निबर्हितं मारितं मृगं निघ्नतः। मारितं मारयितुमुद्यमेन महानुपहासः। भ्रान्त्या परकीये शरे गृहीते सति त्वया परं लोभो न कर्तव्यः यावदस्मत्स्वामिना हतं मृगं वराहं घ्नता लज्जितव्यम् यस्मात्सचेतसः। सचेतसामभ्यहतस्य हनने लज्जावहम्। आहृत इति विषयसप्तमी वा। अन्यशब्दाद्वहादित्वाद्यः अषष्ठ्यतृतीयास्थास्येत्यादिना लुक् छेषष्ठीस्थस्यापि स इष्यते। तवेति कृत्यानां कर्तरि वेति षष्ठी। सहचेतसामवर्तते सचेताः, मत्वर्थे बहुव्रीहिः मत्तश्च प्रशंसायाम्॥46॥

---

25. अपथे

दुर्वचमित्यादिना वक्ष्यमाणेषूपकारेषु गुणकीर्तनलाघवसाशङ्कमानमाक्षेपद्वारेणाह॥

सन्ततं निशमयन्त उत्सुका यैः प्रयान्ति मुदमस्य सूरयः।
कीर्तितानि हसितेऽपि तानि यं व्रीडयन्ति चरितानि मानिनम्॥13.47॥

अन्यदोषमिव स स्वकं गुणं ख्यापयेत् कथमधृष्टताजडः।
उच्यते स खलु कार्यवत्तया धिग्विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम्॥13.48॥

स तथाविधः स्वगुणं स्वयं कथं ख्यापयेत् वर्णयेत्। यथान्दोषं स कथं वर्णयति तथा स्वगुणमपि स्वयं कथं वर्णयेत्। कीदृगधृष्टतया वैयात्याभावेन न पुनरज्ञत्वेन जडः। स कः सन्ततं यस्य चरितानि निशमयन्तुः मृण्वन्तोऽपि श्रोतुमुत्सुकाः सूरयो विषुधा यैर्हेतुभिर्मुदं प्रयान्ति। तानि तथाविधानि चरितानि कर्मणि हसितेऽपि कीर्तितानि प्रसङ्गेनाप्युक्तानि यं व्रीडयन्ति लज्जयन्ति स परदोषं यथा न कथयति तथा स्वगुणं कथं कथयेत्। खलु शब्दः पुरनर्थे। अव्ययानामनेकार्थत्वात्। कार्यं शरप्राप्तिरूपं विद्यते यस्य तभ्दावस्तेन हेतुना स स्वगुणः पुनरुच्यते स्वयं कथ्यते। अस्मत्स्वामिना वराहो हतस्त्वया तु हतः सन् विद्ध इति स्वगुणपरदोषकथनं शरप्राप्तिरूपकार्यहेतोरस्माभिः कृतम्। अर्थितां कार्यवर्तां धिक् यतो विभिन्नो बुधसेतुः, बुधानां गुणवतां सेतुर्मर्यादा यया सा विभिन्नबुधसेतुः। यद्वा स्वयं स्वगुणख्यापनप्रतिषेधरूपो यया ताम्॥47, 48॥ **युग्मम्॥**

तमेव स्वगुणं परदोषं च वक्तुमुपक्रमते॥

दुर्वचं तदथ मा च[26] भून्मृगस्त्वय्यसौ यदकरिष्यदोजसा।
नैनमाशु यदि वाहिनीपतिः प्रत्यपत्स्यत शितेन पत्रिणा॥13.49॥

अस्माभिस्तद्दुर्वचं वक्तुं न शक्यते तन्मा च भूत। तत्किम् ओजसा करणभूतेन मृगस्त्वयि यदकरिष्यत्। आश्वासयन्तमेनं सेनानायकः शितेन पत्रिणा तीक्ष्णबाणेन यदि न प्रत्यपत्स्यताहनिष्यत्॥ अयमर्थः अस्मत्स्वामीवराहं सद्य एव यदि नाहनिष्यत् तदा वराहस्तव यदकरिष्यत्तद्वक्तुं न शक्यते। यस्य कस्यापि मरणकथा दुःखदा। अहन्यमानः सूकरस्त्वां हन्यादिति तात्पर्यम्॥49॥

अथ मन्यसेऽहमेव हन्यामित्यत्र परिहारमाह॥

को न्विमं हरितुरङ्गमायुधस्थेयसीं दधतमङ्गसंहतिम्।
वेगवत्तरमृते [27]चमूभृतो हन्तुमर्हति शरेण दंष्ट्रिणम्॥13.50॥

---

26. स्म
27. यमूपतेः

अव्ययानामनेकार्थत्वादिवार्थोनु शब्दः। को न्विमं दंष्ट्रिणां वराहं हन्तुमर्हति मारयितुं समर्थः चमूभृत ऋते सेनापतिं विना सेनापतिरेव समर्थ इत्यर्थः। अन्येन हन्तुमसामर्थ्ये हेतुमाह हरितुरङ्गमस्येन्द्रस्यायुधं वज्रस्तद्वत्स्थेयसीं स्थिरतरामङ्गसंहतिं गात्रसंघातदधतम् तथा वेगवत्तरमतिशयाद्वेगवन्तम्। अन्यारादितरत इत्यनेन ऋते शब्दप्रयोगे पंचमी दुरसंभावनायाम् ॥50॥

एवं स्वामिन उपकारितां प्रतिपाद्य उपदेशद्वारेणार्जुनस्य वैगुण्यं दर्शयितुमाह॥

मित्रमिष्टमुपकारि संशये मेदिनीपतिरयं तथा च ते।
तं [28]विराध्य भवता निरासि मा सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता॥13.51॥

अस्माभिस्त्वत्प्राणत्राणार्थं मृगो हत इति युक्त्या प्रतिपाद्य स्फुटं वक्तुमाह। इष्टं मित्रं संशये प्राणसन्देहे उपकार्युपकारकं भवति, इष्टं मित्रं प्राणत्राणं करोतीत्यर्थः। अयं मेदिनीपतिस्ते तव तथा चोपकारको भवति। तं राजानं विराध्य विमनीकृत्य भवता कृतज्ञता मा निरासि न त्यक्तव्या। यतः सज्जना एवैका वसतिर्यस्याः। शरो भवता यदि न दीयते तदा त्वां लोको निन्दति नायं कृतज्ञ इति। यदि हि कृतं जानीयात्तत्कथं प्राणदातुः शरमात्रं न दध्यात् ॥51॥

लभ्यमेकसुकृतेन दुर्लभा रक्षितारम[29]सुरक्षभूतयः।
स्वन्तमन्तविरसा जिगीषतां मित्रलाभमनु लाभसंपदः॥13.52॥

मित्रलाभमनु मित्रलाभात्पश्चाज्जिगीषतां लाभसंपदो धनलाभसमृद्धयो भवन्ति। मित्रप्राप्तौ सत्यां धनप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः। मित्रधनलाभयोर्विशेषणद्वारेणान्तरमाह एकेन सुकृतेनोपकारेण लभ्यम्। दुःखेन प्रयाससहस्रेण लभ्यन्ते। रक्षितारं प्राणादिरक्षकम्। ताः प्रत्युताऽसुरक्षा कृच्छ्ररक्षा भूतिः स्थितिर्यासां ताः। स्वन्तमवमानेऽप्येकरूपवृत्तित्वात् अन्ते पर्यन्ते विरसा वैरस्य दायिन्यः ॥52॥

मित्राद्धनस्य न्यूनतां दर्शयितुमाह॥

चञ्चलं वसु नितान्तमुन्नता मेदिनी[30]मपहरन्त्यरातयः।
भूधरस्थिरमुपेयमागतं माऽवमंस्त सुहृदं महीपतिम्॥13.53॥

शरेण तावद्द्वयं लभ्यते धनं भूमिश्च। तत्र वसु धनं नितान्तचञ्चलमस्थिरम्। उन्नता बलवन्तोऽरातयः शत्रवो मेदिनीमपहरन्ति साप्यस्थिरैवेति तात्पर्यम्। अतश्च ग्रहो

---

28. विरोध्य
29. असुरक्ष्य
30. अपि

न तव युक्त इति तात्पर्यम्। सर्वमेवास्थिरमित्याशङ्क्याह भवान् सुहृदमागतं महिपतिं माऽवमंस्त मैत्रीप्रवृत्तं राजानं मा त्याक्षीत्। कीदृशमुपेयं यत्रादुपार्जनीयम्। यतो भूधरवत्पर्वतवत् स्थिरम्। अस्थिरफलं शरं दत्वा स्थिरं मित्रं राजा ग्राह्य इत्यर्थः॥53॥

जेतुकामानां मित्रेण प्रयोजनं न तु तपस्विनां मादृशामित्याह॥

जतुमेव भवता तपस्यते नायुधानि दधते मुमुक्षवः।
[31]प्राप्यते च सकलां [32]चमूभृतः सङ्गतेन तपसः फलं त्वया॥13.54॥

भवता जेतुमेव तपस्ये जयार्थमेव तपः क्रियते न तु मोक्षार्थम्। यतो मुमुक्षवो मुक्तिकामा अयुधानि न दधते न धारयन्ति। यद्यहं जेतुकामो ज्ञातस्तत्कथं प्रार्थयसे इत्याह चमूभृतो राज्ञः सङ्गतेन सौहार्देन हेतुना त्वया सकलं तपसः फलं जयरूपं प्राप्यते सङ्गतेनेति पुंसके भावे क्तः॥54॥

कथमन्येषां राज्यादिकं दातुं राजा समर्थो। यदि च समर्थोऽयं तदा शरेणास्य किं प्रयोजनमित्याह॥

वाजिभूमिरिभराजकाननं सन्ति रत्ननिचयाश्च [33]भूरयः।
काञ्चनेन किमिवास्य पत्रिणा केवलं न सहते विलङ्घनम्॥13.55॥

अस्य राज्ञो वाजिभूमिरस्ति। एतद्विषये खनिभ्योऽश्वा उत्पद्यन्ते तथेभ राजानां काननं वनमस्ति। तथा रत्ननिचयाश्च भूरयः सन्ति। रत्नाकराश्च भूरयः सन्ति। एवं सति अस्य राज्ञः सौवर्णेन शरेण किमिव प्रयोजनम् काञ्चनेनेत्यनादरार्थम्। यदि तर्हि शरेणास्य न प्रयोजनं किमर्थं प्रार्थयत इत्याह अयं राजा विलङ्घनं स्वयं ग्रहं न क्षते न सहते॥55॥

सावलेपमुपलिप्सिते परैरभ्युपैति विकृतिं रजस्यपि।
अर्थितस्तु न महान्समीहते जीवितं किमु धनं धनायितुम्॥13.56॥

सावलेपं साहङ्कारमुपलिप्सिते उपलब्धुमिष्टे रजस्यपि सति अयं विकृतिं कोपरूपां विक्रियामभ्युपैति। यो महान्सोऽर्थितो याचितः पुनर्जीवितं प्राणान्धनायितुं समीहते। अयं धनं धनायितुं किमुपसमीहते याच्यमानः प्राणानपि दध्यात्कि नामधनम्॥56॥

तत्तदीयविशिखातिसर्जनादस्तु वां गुरु यदृच्छयागतम्।
राघवप्लवगराजयोरिव प्रेम युक्तमितेरेतराश्रयम्॥13.57॥

---

31. प्राप्स्यते
32. महीभृता
33. भूरिशः

तत्तस्माद्धेतोस्तदीयस्य विशिखस्यातिमर्जनात्त्यागाद्धेतोर्वा युवयोः प्रेम सौहार्दमस्तु संपद्यताम्। गुरु महत् यदृच्छया गतमयत्नोपनतम् युक्तमनुरूपम् इतरेतराश्रयमन्योन्य-विषयम्। यथा राघवप्लवगराजयोः रामभद्रसुग्रीवयोः प्रेम मिथोऽभूत्॥57॥

असत्येनाहमेतैराक्षिप्त इति परिहर्तुमाह॥

नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे कस्तपस्विविशिखेषु [34]वादरः।
सन्ति भूभृति शरा हि नः परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः॥13.58॥

अनृतमभियोक्तुं कपटेनाक्षेप्तुं त्वं नेष्यसे किमुताक्षिप्यसे इति भावः। यतस्तपस्विनां विशिखेष्वादरः को वा क इव भवति स्पृहा नैव भवतीत्यर्थः। वज्रिणो वज्रभृतः सम्बन्धी यः पराक्रमस्तस्य वसूनि धनभूता ये भवन्ति ते परेऽस्माच्छरादन्ये शरा राजनि सन्ति। अतः ये इन्द्रस्य पौरुषोपकरणभूतास्ते शरा यस्य सोऽयं तापसशराय कथं स्पृहतीत्यर्थः॥58॥

मार्गणैरथ तव प्रयोजनं [35]याचसे किमु पतिं न भूभृतः।
त्वद्विधं सुहृदमेत्य सोऽर्थिनं किं न यच्छति विजित्य मेदिनीम्॥13.59॥

शरैस्तव यदि प्रोयजनं तत्पर्वतपतिमेनं किं न याचसे। बहून्शरान्कथं दद्यादिति च नाशङ्कनीयम्। त्वद्विधं गुणिनं सुहृदमर्थिनं प्राप्यसे। मेदिनीं विजित्य किं न यच्छति। शराः कियद्वस्तु स याचितः संस्त्वादृशाय भूमिमपि प्रतिपादयति॥59॥

याचितः सन् कदाचिद्याञ्चाभङ्गं स कुर्यादित्याशङ्कां निरसितुमाह॥

तेन सूरिरुपकारिताधनः कर्तुमिच्छति न याचितं वृथा।
सीदतामनुभवन्निवार्थिनां वेद यत्प्रणयभङ्गवेदनाम्॥13.60॥

सूरिः पण्डितो याचितां याच्ञा वृथा निरर्थकं कर्तुं नेच्छति। किं पुनः करोतीत्याक्षिप्तम्। यतो उपकारिता उपकर्तृभाव एव धनं यस्य सः परेषामुपकारी तेनेति हेतुः। तेन केनेत्याह स याञ्चाभङ्गे कृते सति। सीदतामवसादिनामर्थिनां प्रणयभङ्गवेदनां यद्वेद। याञ्चाभङ्गजातां ग्लानिं यज्जानाति बुद्धीनां परेङ्गितज्ञानफलत्वात्। अत उत्प्रेक्ष्यते प्रणयभङ्गवेदनामनुभवन्निव अनुभूतं हि सुखं दुःखं परत्र वर्तमानं ज्ञायते न त्वनुभूतम्। अतस्तस्माद्याञ्चाभङ्गो न शङ्कनीय इत्यर्थः॥60॥

स्वयं गृहीते शरे मयाऽस्य यञ्चा किमर्थं क्रियत इति न मन्तव्यमित्यत्र हेतुमाहा।

शक्तिरर्थपतिषु स्वयंग्रहं प्रेम कारयति वा निरत्ययम्।
कारणद्वयमिदं निरस्यतः प्रार्थनाऽधिकबले विपत्फला॥13.61॥

---

34. चादरः
35. नाथसे

निरत्ययं निर्बाधं शक्तिः प्रेम वा वस्तुनः स्वयंग्रहं कारयति। केषु सत्सु अर्थपतिषु पदार्थस्वामिषु सत्सु शक्तिमान्बन्धुर्वा परकीयवस्तु स्वयं गृह्णाति। इदं शक्तिप्रेमरूपं हेतुद्वयं निरस्यतोऽप्राप्नुवतः सम्बन्धिनी स्वस्मादधिकबले विषये प्रार्थना स्वयंग्रहो विपदेव फलं यस्यास्तथा विधा भवति। शक्तिप्रीति विना बलवत्सम्बन्धिवस्तु स्वयं गृह्णतो विपदायातीत्यर्थः॥61॥

धनुर्धरोऽहमतो मम शक्तिरस्यत्येवेति न च मन्तव्यमित्याह॥

अस्त्रवेदमधिगम्य तत्त्वतः कस्य [36]वेह भूजवीर्यशालिनः।
जामदग्न्यमपहाय गीयते तापसेषु चरितार्थमायुधम्॥13.62॥

तत्त्वतः सरहस्यमस्त्रोपदेशमधिगम्य प्राप्य भूजवीर्यशालिनः कस्य वा कस्येव तापसेषु मध्ये जामदग्न्यं परशुरामं वर्जयित्वायुधं चरितार्थं सफलं स्तूयते। तापसेषु मध्याद्राम एव धन्वी नान्य इत्यर्थः। तत्त्व इति वचनं त्वादृशैरनधीतरहस्यं धार्यमाणस्यायुधस्य भारभावसूचनार्थम्। तापसेष्विति निर्धारणसप्तमी वा शब्दो नवक्लृप्तौ॥62॥

अथ मन्यसे शरेऽपि दत्ते मृगघातिनो मम तापमस्य भयं न व्यपैतीत्याह॥

अभ्यघानि मुनिचापलात्त्वया यन्मृगः क्षितिपतेः परिग्रहः।
अक्षमिष्ट तदयं प्रमाद्यतां संवृणोति खलु दोषमज्ञता॥13.63॥

एकान्तवासिनश्चपला इति त्वया ग्राह्यो मृगो यद्धतः तदयं सोढवान्, तेनापराधेन भयं ग्राह्यमित्यर्थः। क्षमायां हेतुमाह प्रमाद्यतां निरवधानानां निरवधानकर्तृकं दोषमज्ञता ज्ञानाभावः संवृणोति च्छादयति। राजभिरेव मृगो हन्तव्य इति यदि भवानज्ञासन्मृगं नाहनिष्यद्धतश्च ततो ज्ञानाभावो निश्चितोऽतो मृगहन्तापि निरपराध एव भवानित्यर्थः॥63॥

अज्ञानवशान्मृगमारणं तव सह मानैरस्मत्स्वामिभिर्ज्ञानपूर्वकं तु शरहरणं न सह्यत इत्युपदेष्टुमाह॥

जन्मवेषतापसां विरोधिनीं मा कृथाः पुनरमूमपक्रियाम्।
आपदेत्युभयलोकदुषणी वर्तमानमपथे हि दुर्मतिम्॥13.64॥

पुनः पक्षान्तरे पक्षान्तरं च ज्ञानम् त्वममूं शरहरणरूपामपक्रियामात्मनोपकारं मा पुनः, कृथाः जानन् सन् कार्षीरित्यर्थः। यतो जन्म क्षत्रियजन्मवेशो वल्कलं तपस्तेषां विरोधिनीं विरुद्धाम् परकीयवस्तुहरणेन प्राप्यं सामान्येनाह अपदपथे वर्तमानमेति, अनुदित पथे तिष्ठन्तं विपदेति। कीदृशी उभौ लोकौ दूषयति तच्छीला दुर्मदं मदान्धम्। क्षत्रियजातेः परवस्तुहरणमिह लोकविरुद्धम् वल्कलवत्त्वात्तापसत्वाच्च परलोक विरुद्धम्॥64॥

---

36. चेह

देवपितृतर्पणेन हेतुना पशूपहारः क्रियते। तच्च तव न संभाव्यत इति प्रतिपादयितुमाह॥

[37]यष्टुमर्हसि पितॄन्न [38]संवृतो [39]न त्वमर्चिचयिषुर्दिवौकसः।
दातुमेव पदवीमपि क्षमः किं मृगेऽङ्ग विशिखं न्यवीविशः॥13.65॥

पितॄन्यष्टुं पितृयागं कर्तुं त्वं नेच्छसि। यतः संवृतः कृतकर्मन्यासः। एवं सति त्वं समीपागतस्य मृगादेः पदवीमेव दातुं वक्षः। मृगाणां मार्गदानं तवोपपन्नम्। अङ्गेति इष्टसम्बोधने मृगे विशिखं शरं किंकेन हेतुना न्यवीविशः रोपितवान्। यतिभावाद्देवपितृतर्पणं त्यक्तवता त्वया मृगे शरो यन्न्यस्तः तच्चापलक्षमया सह चापरशरहरणपि चापलमारब्धं तत्त्यज्यतामित्युपदेष्टुमाह॥65॥

सज्जनोऽसि विजहीहि चापलं सर्वदा क इव [40]यः सहिष्यते।
वारिधीनिव युगान्तवायवः क्षोभयन्त्यनिभृता गुरूनपि॥13.66॥

त्वं चापलं विजहीहि त्यज यस्मात्त्वं सज्जनोऽसि गुणवानसि अतो वश्मीति शेषः। सज्जनेन हि चापल्यं न कर्तव्यम्। चापलत्यागेऽन्यमपि हेतुमाह यः कर्ता सर्वदा सहिष्यते स क इव भवति न कश्चिदित्यर्थः। मृगहननमस्मत्स्वामिना तव सोढं, शरहरणं तु न सहत इत्यर्थः। यद्वा द्वितीयः पाद एवं व्याख्येयः। सज्जनस्य मम द्वितीयोऽपि भ्रान्तिकृतोऽपराधः क्षम्यतामित्येत्खण्डयितुमाह अन्येन कर्त्रा यः कर्मभूतः सर्वदा सहिष्यते स क इव। अयमर्थः तथाविधः सज्जनः कोऽस्ति यः परेण नित्यं सहिष्यते यदीयं चापलं मुहुर्मुहुः सह्यते। अस्मत्वामी त्वदपराधानौदार्यादक्षमिष्यतैव। यदि तथाविधः सज्जनस्त्वमभविष्य इति तात्पर्यम्। यदि भवत्स्वामिना क्षम्यते तद्गुरुत्वं नास्तीत्याह अनिभृताश्चापलपरा गुरूनपि क्षोभयन्ति यथा समुद्रान् कल्पान्तवाताः॥66॥

क्षुभितः सन्नयं वनचरो मम किं कर्तुं शक्नुयादित्याह॥

अस्त्रवेदविदयं महीपतिः [41]पार्वतीय इति माऽवजीगणः।
गोपितुं भुवमिमां मुरुत्वता शैलवासमनुनीय [42]लम्बितः॥13.67॥

---

37. यष्टुमिच्छसि
38. साम्प्रतम्.
39. संवृतोऽर्यिच....
40. वा
41. पर्वतीय
42. लम्भितः

अयं राजा अस्त्रवेदं वेत्ति। पार्वतीयो वनवासीति माऽवजीगणः मावसंस्थः। यद्यस्त्रवेदं वेत्ति तद्गौरौ किं वसतीत्याह मरुत्वतेन्द्रेणायं सेनानाथोऽनुनीय प्राक्य शैलवासं लम्भितः प्रापितः किं कर्तुंमिमां भुवमिन्द्रकीलाद्रिभूमिं गोपितुं प्रत्यवेक्षितुम्। इन्द्रकीले मास्म कश्चिदपराध्यदित्ययमिन्द्रेण प्रार्थना पूर्वं पर्वते वासितः। यद्वास्त्रवेदवित्त्वस्योत्तरार्धं हेतुत्वेन व्याख्येयम्। असत्रवेदज्ञानाद्विना पर्वतभूमे रक्षितुमशक्यत्वात् ॥67॥

उपसंहरन्नाह॥

तत्तितिक्षितमिदं मया मुनेरित्यवोचत वचश्चमूपतिः।
बाणमत्र भवते निजं दिशन्नाप्नुहि त्वमपि सर्वसंपदः॥13.68॥

मया तदिदं मृगहननं मुनेः सोढमिति सेनापतिरवोचत्। मृगहननरूपोऽपराधस्तव मुनित्वात्त्यक्तः। अतो भवानत्र भवते निजं शरं प्रतिपादयँस्त्वमपि सर्वसंपदः प्राप्नुहि। न केवलं सशरं प्राप्नोति यावत्त्वमपि मैत्र्या सर्वसिद्धिर्लभस्वेत्यर्थः॥68॥

ता एव सर्वसंपदो दर्शपितुमाह॥

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः संभवन्ति विरमन्ति चापदः।
इत्यनेकफलभाजि मा स्म भूदर्थिता कथमिवार्य[43]सङ्गतो॥13.69॥

आत्मनीनमात्महितमुपतिष्ठते उपैति गुणा विवेकादयः संभवन्ति जायन्ते। विपदो विरमन्ति नश्यन्ति। इत्येवं प्रकाराण्यनेकानि फलानि भाजयति आर्यसङ्गतो सज्जनमैत्र्यमर्थिताभिलाषः कथमिव मा स्म भूत॥69॥

मां जेतुं को नाम समर्थः स्यादिति तस्याभिमानं संभाव्याह॥

दृश्यतामयमनोकहान्तरे तिग्महेतिपृतनाभिरन्वितः।
साहिवीचिरिव सिन्धुरुद्धतो भूपतिः समयसेतुवारितः॥13.70॥

उद्धतास्तथा तिग्मा हेतं आयुधानि यासां तथाविधाभिः पृतनाभिः सेनाभिरन्वितोऽनुगतोऽनोकहान्तरे गहनमध्येऽयं राजा त्वया दृश्यताम्। तर्हि किं नायातीत्याह समय इव सेतुस्तेन वारितः सज्जनोऽनुपालेभ्यो न बाधनीय इति समयस्तेन निषिद्धः। यथा सिन्धुः समुद्रः साहयः ससर्पा वीचयो यस्य सः अहीनां हेतयः वीचीनां पृतनाः। सिन्धोर्भूपतिरुपमानम्॥70॥

बह्वीषु सेनासु मध्य कोऽसौ यं पश्यामीत्याह॥

---

43. सङ्गमे

सज्यं धनुर्वहति योऽहिपतिस्थवीयः
स्थेयाञ्जयन्हरितुरङ्गमकेतुलक्ष्मीम्।
अस्यानुकूलय मतिं मतिमन्नने
सख्या सुखं समभियास्यसि [44]वाञ्छितानि ॥13.71॥

हे मतिमन्नित्यनेनोपदेशार्हस्त्वं द्योतयति। त्वमस्य मतिमनुकूलय प्रसादय। यः सज्यमारूढगुणं तथाऽहिपतिवन्नागराजवत्स्थवीयः स्थूलतरम्। धनुर्विवर्ति कीदृक् स्थेयान्स्थिरतरः। हरितुरङ्गमस्येन्द्रस्य केतर्ध्वजस्तल्लक्ष्मीं जयन्। किमनेन प्रसादितेन फलमित्याह सख्या मित्रेणानेन हेतुना त्वं सुखं क्लेशं विना चिन्तितानि समभियास्यसि प्राप्स्यसि। एष एव सर्वमनोरथसिद्धिं करेतीतिभद्रम्॥71॥

इति पण्डतभट्टश्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां त्रयोदशः सर्गः॥
॥13॥

---

44. चिन्तितानि

॥चतुर्दशः सर्गः॥

ततः किरातस्य वचोभिरुद्धतैः पराहतः शैल इवार्णवाम्बुभिः।
जहौ न धैर्यं [1]रुषितोऽपि पाण्डवः सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि [2]सूरयः॥14.1॥

उद्धतैरुल्वनैरपि किरातस्य वचोभिः पराहतोऽतः कुपितोऽपि पाण्डवोऽर्जुनो धैर्यं गाम्भीर्यं न जहौ नात्याक्षीत्। यथोद्धतैः सवेगैरर्णवाम्बुभिः पराहतः शैलो धैर्यं निष्कम्पतां न जहाति। यदि कुपितस्तत्कथं गाम्भीर्यं नात्याक्षीदित्याह सूरयो हि विद्वांसः सुदुर्ग्रहाणि दुर्लक्ष्याणि अन्तः करणानि कोपप्रसादाद्यवस्था येषां ते भवन्ति। महात्मना समुत्पन्नापि कोपादिविक्रिया लक्षितुं न शक्य इत्यर्थः॥1॥

सलेशमुल्लङ्घितशास्त्रवेङ्गितः कृती गिरां विस्तरतत्त्वसङ्ग्रहे।
[3]इदं प्रमाणीकृतकालसाधनः प्रशान्तसंरम्भ इवाददे वचः॥14.2॥

सह लेशेनावशेषेण वर्तते यत्र सलेशं मनाक्। उल्लङ्घितं शास्त्रवस्येङ्गितं येन। तथा गिरं विस्तरस्तव सङ्ग्रहश्च तत्र कृती चतुरः। तथा प्रमाणीकृतं काल एव साधनं येन सः कालानुरोधीत्यर्थः प्रशान्तः संरम्भो मनः क्षोभो यत्रैवमिव वच आददेऽवोचत्। यद्वा सलेशं किञ्चिदुत्पन्नहर्षेण लाभात् तत्कालोचितं वचनमवोचत्॥2॥

तदुक्तिप्रशंसाद्वारेण वक्ष्यमाणं स्वोक्तिं भङ्ग्या प्रशंसन्नाह॥

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती॥14.3॥

न कृतं पुण्यं कर्म यैस्तेषामेवंविधा सरस्वती न प्रवर्तते। कीदृक् विविक्ता असंयुक्ता ये वर्णास्त एवाभरणानि यस्यां तथा सुखा सुखावहा श्रुतिः श्रवणं यस्याः। तथा द्विषामपि हृदयानि मनांसि प्रमादयन्ती रञ्जयन्ती। तथा प्रसन्नानि सुबोधानि गम्भीराणि महार्थानि पदानि यस्यां पुण्यकर्मणो भवत एवेदृशी सरस्वती प्रवृत्तेत्यर्थः। सरस्वती नदी च

---

1. कुपितः
2. साधवः
3. अयम्

नापुण्यात्मानां प्रवर्तते प्रादुर्भवति। यतः क्वचित्प्रसन्नं प्रकाशं क्वचिद्गम्भीरमलक्ष्यं पदं यस्यां सा। तत्पक्षे वर्णः श्यामः सुखश्रुतिर्वेगवत्वाभावात् द्विषां द्वेषकारिणमपि मनः प्रसादजननी ॥3॥

तव न केवल वक्तृत्वमेवास्ति यादवदन्येऽपि गुणा इति प्रतिपादयितुमाह॥

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम्॥14.4॥

विपश्चितां मध्ये ते सभ्यतमा भवन्ति ये मनोगतं वाचि निवेशयन्ति यदन्तस्तदुदीरयन्ति। ये ते सभाचतुरास्तेषु मनः स्थमर्थं वर्णयत्सु मध्ये उपपन्नैपुणा सम्भावितनिपुणत्वाः सन्तः कतिचिद्विरला गरीयमप्रकाशनीयमप्यर्थं प्रकाशतां नयन्ति। सभ्यत्वनैपुणं तवास्तीत्यर्थः॥4॥

विविक्तवर्णेयादिना किरातवचः प्रसक्तं शब्दमात्रसौन्दर्यं निवर्तयितुमाह॥

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसंपदं विशुद्धिमुक्तेपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः॥14.5॥

केचिद्विपश्चित उक्तेर्गुर्वीमभिधेयसंपदमर्थसमृद्धिं स्तुवन्ति। अर्थेनैव वाणी रम्येति वदन्ती। अपरे तूक्तेर्विशुद्धिं स्तुवन्ति। इत्येवं प्रकारायां रुचौ स्थितायां प्रतिपूरुषं सर्वेषां पुरुषाणां सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः सकाशान्मनोरमा गिरः सुलभा भवन्ति। शब्दार्थाभ्यामुभाभ्यामपि भवदुक्तिश्चित्तं रञ्जयतीत्यर्थः। यद्वा इत्येवं प्रकारायां भिन्नायामित्यर्थः। प्रतिपुरुषभिन्नायां रुचौ स्थितायां सर्वप्रकारमनोरमा गिरः सुदुर्लभा इति योज्यम्॥5॥

समस्य संपादयता गुणैरिमां त्वया समारोपितभार भारतीम्।
प्रगल्भमात्मा धुरि धुर्य वाग्मिनां वनेचरेणापि सताधिरोपितः॥14.6॥

हे समारोपितभार समारोपितो भारो दूत्यभारो यस्य तस्यामन्त्रणम् त्वयात्मा धुर्य वाग्मिनां धुरि अधिरोपितः, धुर्या वक्तृत्वधुरां ये वहन्ति ते च, ते वाग्मिनस्तेषां धुरि अधिरोपितः। यद्वा धुर्येत्वामन्त्रणं धुर्यस्यैव धूरधिरोहित्वात्। अधिरोपणे हेतुमाह इमां वाणीं संपादयता समस्यसङ्क्षेपेण। प्रगल्भमिति संपादनक्रियाविशेषणम्॥6॥

तामेव वाग्मिधुरां दर्शयितुमाह॥

प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं भयं विभेदाय धियः प्रदर्शितम्।
तथाभियुक्तं च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्न्यायमिवाबभासते॥14.7॥

भूधरस्थिरमित्यादिना सामप्रयुज्य प्राप्यते च सकलं चमूभृतइत्यादिकं विलोभनमाचरितं प्रयुक्तम्। अन्यदीय विशिखे इत्यादिनां भयं बुद्धिभेदाय त्वया दर्शितम्।

शिलीमुखार्थिना शराभिलाषिणा सता भवता तथाभियुक्तमाक्षिप्तम् यथेतरदन्न्यायमपि न्याय्यमिवाबभासते। असत्यमपि सत्यमिवाक्षेपकारणं ज्ञायते। तथा हि नूनमत्र भवतः शराकृतिमित्याद्युक्तम् ॥7 ॥

यशोऽर्जनार्थं त्वया वाग्मिता दर्श्यते। न तु स्वामिकार्यसिद्धयर्थमिति-प्रतिपादयितुमाह ॥

विरोधि सिद्धेरिति कर्तुमुद्यतः स वारितः किं भवता न भूपतिः।
हिते नियोज्यः खलु भूतिमिच्छता सहार्थना[4]शोऽपि नृपोऽनुजीविना ॥14.8 ॥

सिद्धेः लक्षी यशप्राप्तिरूपाया विरोधि विरुद्धम् इति शरस्य हेतोः मिथ्याक्षेपरूपं कर्तुमुद्यतः प्रवृत्तः स भूपतिस्त्वया किं न वारितः। अर्थान्तरन्यासमाह खलु यस्मादर्थे भूतिमिच्छता स्वामिनो भूतिं श्रीयशोरूपामिच्छताऽनुजीविना भृत्येन स्वामिहिते नियोज्यः प्रयोज्यः। कस्मिन्नपि सति महार्थनाशेऽपि सति। अयमर्थः स्वामिनं हिते प्रयुज्य तवार्थनाशः कश्चिन्नासीत्तथापि किं न त्वया स्वामी निषिद्धः ॥8 ॥

असत्यतया शरहेतोरहमाक्षिप्त इत्यत्रोपपत्तिमाह ॥

ध्रुवं विनाशः प्रहितस्य पत्रिणः शिलोच्चये तस्य [5]विमर्शनं नयः।
न युक्तमत्रार्यजनातिलङ्घनं दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ॥14.9 ॥

भवद्भिः प्रहितस्य पत्रिणः शरस्य प्रणाशो दर्शनं जातः तस्य पत्रिणो विमर्शनमन्वेषणं नयो नीतिः स्वशरमन्वेष्टुमुचितम्। अत्रास्मिन्विषये आर्यजनस्यातिलङ्घनमाक्षेपो न युक्त इत्याह सतामतिक्रमो व्याक्षेपोपायं विनाशं दिशति। अयमर्थः मिथ्याक्षेपव्यसनं भवद्भिर्यदि न त्यज्यते तदापायो भविष्यति ॥9 ॥

मार्गणैरथ तव प्रयोजनमिति खण्डयितुमाह ॥

अतीतसङ्ख्या विहिता ममाग्निना शिलीमुखाः खाण्डवमत्तमिच्छता।
अनादृतस्यामरसायकेष्वपि स्थिता कथं शैलज[6]नायुधे धृतिः ॥14.10 ॥

खाण्डवं खाण्डववनमत्तं दग्धुमिच्छताऽग्निनाऽतीतसंख्या बहवोऽक्षयाः शरा मम विहिता दत्ताः। अतोऽमरसायकेष्वप्यनादृतस्यानादरवतो मम शैलजनायुधे धृतिरास्था कथं स्थिता। दिव्येष्वक्षयेषु स्वायत्तेषु शरेषु सत्सु किरातशरमात्रे कथं दृष्टिः पतेदित्यर्थः ॥10 ॥

---

4. नाशेन
5. विमार्गणम्
6. आशुगे

यदि प्रमाणीकृतमार्यचेष्टितं किमित्य'दोषेऽपि तिरस्कृता वयम्।
अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते॥14.11॥

अन्यदोषमिव स स्वयं कथं ख्यापयेदित्यादिना चेष्टितं सज्जनत्वं यदि भवता प्रमाणीकृतं निश्चितम् तद्भवता वयमदोषे दोषाभावे परशरहरणाभावेऽपि किं तिरस्कृताः अवमानिताः। अर्थान्तरन्यासमाह परिवाहस्य गर्हाया गोचरं विषयमगतपूर्वा सतां वाणी गुणमेव भाषते। सतां वाणी परनिन्दां गोपयन्ती परगुणानेव कीर्तयतीत्यर्थः॥11॥

गुणापवादेन तदन्य°रोपणैर्भृशाधिरूढस्य समञ्जसं जनम्।
द्विधेव कृत्वा हृदयं निगूहतः स्फुरन्नसाधोर्विवृणोति वागसिः॥14.12॥

असाधोः सम्बन्धी वागसिः वागेवासिः निगूहतच्छदयतः सम्बन्धिहृदयं हृदयस्थितं गुप्तमर्थं विवृणोति प्रकटयति। साधुः परस्य संभवन्तीमपि निन्दां साधुत्वान्नप्रकाशयति। खलस्तु वचनखड्गेन साधोर्हृदयं पाटयित्वा स्वनिन्दां प्रकटीकरोति इत्यर्थः। वागसिर्विवृणोति किं कृत्वा साधोर्हृदयं द्विधेव कृत्वा पाटयित्वेव। द्विधाकृतश्च च्छन्नं वस्तु प्रकटीकरोति गुणानामपवादेन निन्दया। तथा तदन्येषामपवादानां रोपणैरारोपैः करणभूतैः समञ्जसं साधुजनं भृशाधिरू ढस्यात्यर्थं त्यक् कुर्वतः शरहरणरूपनिन्दा आरोपिता। तेनास्माकं हृदयं विदिर्णमिव संपन्नम्। अतिश्चिरच्छादितमपि परनिन्दोदीरणं भविष्यतीत्यर्थः॥12॥

अभ्याघाति मुनिचापलादित्यादि परिहर्तुमाह॥

वनाश्रयाः कस्य मृगाः परिग्रहाः शृणोति यस्तान्प्रसभेन तस्य ते।
प्रहीयतामत्र नृपेण मानिता न मानिता चास्ति भवन्ति च श्रियः॥14.13॥

हे वनाश्रयाः वनमेवाश्रयो येषां तथाविधा अविदग्धा इत्यर्थः। एकस्यामन्त्रणे बहुवचनप्रयोगः। तत्स्वामिनां विकत्थितक्षितिपत्वखण्डनार्थः राज्ञां हि नगरेषु निवासः प्रसिद्ध . हे वनाश्रय आः कोपे इति वा योज्यम्। मृगाः कस्य परिग्रहः कस्य ग्राह्याः प्रश्नकाकुः। न कस्यचित्सम्बन्धिन इत्यर्थः। पर्यायवक्रतापरिग्रहाभावे हेतुः। यद्वा वनाश्रया इति मृगाणां विशेषणं परिग्रहाभावे हेतुः। स्ववस्तुनो यत्किंचिदपि क्रियते। अतः स मृगो मया हत इति कथं त्वयोक्तमित्याशङ्क्याह यस्तान प्रसभेन श्रृणाति हिंसितुमारभते तत्सम्बन्धिस्ते भवन्ति। प्रसभेनेति वचनाद्धूयं छ्लेन तं हन्तुं प्रवृत्ता इत्यर्थः। अतस्तव नृपेणाभिमानस्त्यज्यतां प्रहीयतामिति प्रार्थनार्थविहितेन लोटा स्वात्मनो दयालुत्वंद्योतयति।

---

7. अदोषेण
8. रोपणात्

तदेव प्रकाशयितुमाह मानिताभिमानो नास्ति च श्रियो भवन्ति च। द्वौ च शब्दौ तुल्यकालतां द्योतयतः। अस्थानाभिमानं त्यजन्सहन्तुमागतोऽपि मया न प्रतिहन्यते इत्यर्थः। न मानिता चास्ति भवन्ति न श्रिय इति वा पाठः। मानिता त्यज्यतामिति परोपदिशंस्त्वमेवामुमभिमानं किं न त्यजसीत्याशङ्क्याह न मानितेत्यादिचशब्दश्चेदर्थे निपातानामनेकार्थत्वात्। मानिता चेन्नास्ति श्रियोऽपि नास्माकं भवन्ति। भवतां तु वनवासिनां काः श्रियः तदर्थमेव वनाश्रया इत्यामन्त्रणं पूर्वमेवोपन्यस्तम्॥13॥

अथ भवान् यतिः। यतीनां च हिंसा निषिद्धा। अतस्त्वया कथं मृगो हत इत्याशङ्क्याह॥

न वर्त्म कस्मैचिदपि प्रदीयतामिति व्रतं मे विहितं महर्षिणा।
जिघांसुरस्मान्निहतोऽ[9]यमापतन् व्रतभिरक्षा हि सतामलङ्क्रिया॥14.14॥

संमुखमागच्छते कस्मैचिदपि त्वया वर्त्म न देयमिति व्रतं मम महर्षिणा विहितमुपदिष्टम्। विपूर्वस्य धाञः करोत्यर्थत्वे क्रियासामान्यवाचित्वाद्विपूर्वो धाञ त्रदानार्थः। एवं सति मया मृगो निहतः कृतः असमाञ्जिघांसुर्हन्तुकाम आपतन्संमुखमागच्छन् सामान्येन समर्थयति व्रतपालनं सतामलङ्क्रियाभूषणं भवति॥14॥

दुर्वचं तदित्यादिमित्रमिष्टमित्यादि च निरासितुमाह॥

मृगान्विनिघ्नन्मृगयुः स्वहेतुना कृतोपकारः कथमिच्छतां तपः।
[10]दयाथ चेदस्तु मृगः क्षतः क्षणादनेन पूर्वं न मयेति का गतिः॥14.15॥

स्वहेतुनात्मकृते मृगान्विनिघ्नन्मारयन्मृगयुस्तप इच्छतां तपस्विनां कृतोपकारः कथं भवति न किंचिदित्यर्थः। अथ स्वकार्यं गौणीकृत्य दयैव प्रधानीक्रियते तदा दयास्तु मयि कृपयैवशरस्तेन मुक्तोऽस्तु। इदं तुं पृच्छ्यन्ते भवन्तः अनेन पूर्वं मृगो न क्षतो मया पूर्वं मृगः क्षत इति का गतिः। वनवासिना मया च सममेव शरौ न्यस्तौ तत्र वनवासिनः शरो मृगममारयन्न तु मदीय इत्यत्र किम्॥15॥

मद्विधेषु कृपा नोपपद्यते इति दर्शयितुमाह॥

अनायुधे सत्त्वजिघांसिते मुनौ कृपेति वृत्तिर्महतामकृत्रिमा।
शरासनं बिभ्रति सज्जसायकं कृतानुकम्पः स कथं प्रतीयते॥14.16॥

आयुधरहिते सत्त्वेन जिघांसिते हन्तुमिष्टे मुनौ कृपा भवतीति स्थितिर्महतामकृत्रिमा सहजा। सन्नद्धशारं धनुर्दधति पुरुषे विषये भवत्स्वामी कृतकृपः कथं सभाव्यते वनप्राणिनामायुधस्य द्रष्टुमपि दुःशकत्वात्॥6॥

---

9. मया मृगो
10. कृपेति

स्वस्य विनयं परस्य दौर्जन्यं द्योतयितुं स्वस्मिन्विषये कृपामभ्युपगन्तुमाह॥

अथो शरस्तेन मदर्थमुज्झितः फलं च तस्य प्रतिकायसाधनम्।
अविक्षते तत्र मयात्मसात्कृते कृतार्थता नन्वधिका चमूपतेः॥14.17॥

तेन भवत्स्वामिना समर्थं मद्रक्षणार्थं शेरोऽथो मुक्तस्तस्य शरमोक्षस्य प्रतिकायसाधनं शत्रुशातनं फलम्। मृगादहं तेन रक्षितः तदीय एव शरो मया स्वीकृत इति तस्य महती कृतकृत्यतेत्यर्थः। गिरिपतिनापि सता तेन गिरिनिवासिनः सकाशाद्यदि शरोऽपह्रियते तदौन्नत्यं कुतः प्रत्युत द्रौर्जन्यमेवेति भावः॥17॥

त्वद्विधं सुहृदमेत्य सोऽर्थिनमिति प्रतिक्षेप्तुमाह॥

यदात्थ कामं भवता स याच्यतामिति क्षमं नैतदनल्प[11]तेजसाम्।
कथं प्रसद्धाहरणैषिणां प्रियाः परावनत्या मलिनीकृताः श्रियः॥14.18॥

भवता स सेनापतिः काममभिलाषं याच्यतामिति यदात्थ एतन्महौजसा न क्षमं न युक्तं नोचितम्। एतदेव समर्थयते प्रसद्धाहरणैषिणां बलाद्धर्तुकामानां श्रियः प्रिया वल्लभाः कथं भवन्ति कुतः परेषामवमन्या प्रणामेन मलिनीकृतः। परयाच्ञा दूषितं बलवन्तो न गृह्णन्तीत्यर्थः। यद्वा कामं स्वातन्त्र्येणेति व्याख्येयम्॥18॥

शात्रवस्येङ्गितमुल्लङ्घितुमाह॥

अभूतमासज्य विरुद्धमीहितं बलादलभ्यं तव लिप्सते नृपः।
विजानतोऽपि ह्यनयस्य रौद्रतां भवत्यपाये परिमोहिनी मतिः॥14.19॥

तव नृपः अलभ्यमप्राप्यं बलाल्लिप्सते लब्धुमिच्छति। किं कृत्वा अभूतां तथा विरुद्धं जात्यादि विरोधि ईहित चेष्टितं शरचौर्यरूपमाशङ्क्यारोप्य त्वयास्मदीयशरो हृत इति निन्दित्वा शरं लब्धुं भवत्स्वामीच्छति। यद्यलभ्यं तत्कथं प्राप्तुमिच्छतीत्याह अनयस्य मिथापवादारोपस्य समबन्धिनीं रौद्रतां दुष्टफलत्वं विजानतोऽपि पुरुषस्याभावे विनाशकाले मतिः परिमोहिनी मोहवती भवति। भवत्स्वामिनो विनाशः प्रपन्नो यन्मामपि मिथ्याक्षिपतीति भावः॥19॥

यदि भवतामायुधापेक्षा तर्हि शरमात्रमेव किं प्रार्थितमन्यदपि प्रार्थ्यतामित्याह॥

असिः शरा वर्म धनुश्च नोच्चकै[12]र्विवृत्य किं प्रार्थितमीश्वरेण ते।
अथास्ति शक्तिः कृतमेव याञ्चया न दूषितः शक्तिमतां स्वयंग्रहः॥14.20॥

---

11. चेतसाम्
12. विविच्य

खड्गः शरः कवचं धनुश्च एतद्भवत्स्वामिना किं न विवृत्य प्रकटं कृत्वा मिथ्याहेतुमनारोप्याभिलषितं। अथ भवतां शक्तिः सामर्थ्यमस्ति तर्हि याञ्चया दीयतां दीयतामित्येव रूपया कथया कृतम् किं कृतम्। तदेव सामान्येन समर्थयति शक्तिमतां बलिनां स्वयं ग्रहो हठग्रहणं न दूषितः ॥20॥

एकादृशेन सह मैत्रिमात्रमप्यनुचितमतः प्रेमयुक्तमितरेतराश्रयमिति यत्त्वयोक्तं तद्दूषयितुमाह ॥

सखा स युक्तः कथित[13]स्त्वया कथं यदृच्छयाऽसूयति [14]यस्तपस्विने।
गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धयः प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ॥14.21॥

त्वया स किरातो युक्तः सखोचितं मित्रं कथं कथितः।यस्तपस्यते तपः पराय यदृच्छया हेतुं विनाप्यसूयति। यस्तपस्यन्तं प्रतीर्ष्यां करोति तेन सह सख्मनुचितम्। गुणार्जनेनोच्छ्रायो मानप्राप्तिस्तत्र विरुद्धा तदसहनशीला बुद्धिर्येषां तथाविधा असाधवः सतां प्रकृत्यमित्रा निसर्गवैरिणो भवन्ति। वयं तावत्सज्जनाः। अस्माकमुच्छ्रायं भवत्स्वामी दुर्जनो न सहते। अतोऽयमस्माकं शत्रुरेव न तु मित्रमिति तात्पर्यम् ॥21॥

मैत्री दूषणेऽन्यमपि हेतुमाह ॥

वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिदः।
सहापकृष्टैर्महतां न सङ्गतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः ॥14.22॥

वर्णा ब्राह्मणादयः आश्रमा ब्रह्मचर्यादयः तेषां रक्षणे उचिता योग्या वयं क्व। मृगजीवितच्छिदो मृगप्राणहरिणो जातिहीनाः क्व। अस्माकं तेषां च महदन्तरमित्यर्थः। अतः शवरैः सह राज्ञां सख्यमनुचितमितिभावः। एतदेव सामान्येन समर्थयते अवकृष्टैर्नीचैः सह महतां सङ्गतं सख्यं न भवति। युक्तमेतत् दन्तिनो गजा गोमायुसखा शृगालसहचरा न भवन्ति ॥22॥

अस्माभिस्सह त्वया सख्यं कर्तव्यमिति वचनमात्रेणास्मत्कालुष्यं न च भवद्भिः शङ्क्यमिति प्रतिपादयितुमाह ॥

परोऽवजानाति यदज्ञताजडस्तदुन्नतानां न विहन्ति धीरताम्।
[15]प्रतीतवीर्यान्वयपौरुषेषु यत्करोत्यतिक्रान्तिमसौ तिरस्क्रिया ॥14.23॥

---

13. कथं त्वया
14. तपस्यते
15. समान

अज्ञतया न तु दर्पेण जडः कुलादिनामज्ञानेन जडः सन् पर उन्नतान्यदवजानाति तज्जडकृतमवज्ञानमुन्नतानां महात्मनां धीरतां धैर्यं न विहन्ति। अस्मत्कुलाद्यज्ञात्वा भवद्भिर्वयं सख्यकरणार्थं यत्प्रार्थिताः तेन नास्माकं रोष इत्यर्थः। प्रतीतानि विदितानि वीर्यान्वयपौरुषाणि येषां तथाविधेषु परोऽतिक्रान्तिमुल्लङ्घनां यत्करोति। असावुल्लन-करणमुन्नतानां तिरस्क्रियावमानः। यद्यस्माकं वीर्यं कुलं पौरुषं च भवद्भिर्ज्ञायते तदा सख्यप्रार्थनयास्माकं भवत्सुरोषः स्यादित्यर्थः ॥23 ॥

ज्ञात्वापि यदि भवद्भिः सख्यप्रार्थना कृता तदापि न भवत्स्वस्माकं रोषो युक्त इत्याह ॥

यदा विगृह्णाति हतं तदा यशः करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणाः।
स्थितिं समीक्ष्योभयथा परीक्षकःकरोत्यवज्ञोपहतं पृथग्जनम् ॥ 14.24 ॥

पृथग्जनेन सह परीक्षको विवेकी यदा विगृह्णाति विग्रहं करोति तदा यशो हतम्। प्राकृतेन सह विरोधे यशो हानिः स्यात्। अथ पृथग्जनेन सह मैत्रीं करोति तदा गुणा दूषिताः स्युः। उभयथा उभाभ्यां प्रकाराभ्यां स्थितं परिक्ष्य विवेकी पृथग्जनं प्राकृतमवज्ञोऽपहमुपेक्षावमानितं करोति। यदि भवद्भिः सह विरोधः क्रियते तदा महतामस्माकं कीर्तिभ्रशः। यदि सख्यं तदा गुणहानिः। अतो यूयमुपेक्षणीया एवेत्यर्थः ॥24 ॥

पूर्वभङ्ग्या यत्सूचितं तदेव स्फुटयति ॥

मया मृगान्हन्तुरनेन हेतुना [16]विरूक्षमाक्षेपवचस्तितिक्षितम्।
शरार्थमेष्यत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविषाज्झिघृक्षतः ॥ 14.25 ॥

मया मृगान्हन्तुर्मुगयोः सम्बन्धिपरुषमाक्षेपवचनमनेन पूर्वश्लोककथितेन हेतुना तितिक्षितम् सोढम्। रूक्षभाषिणोऽप्यस्योपेक्षा कृता। एवं सोढेऽप्यथ सशरार्थं शरं प्रार्थयितुमेष्यति तद्भवत्स्वामी दृष्टिविषादहेः शिरोमणिं ग्रहीतुकामस्य गतिं लप्स्यते। सर्पस्य फणायं रत्नं हरन्यामवस्थां पुरुषो लभते तामेव शरार्थमेष्यन्भवत्सावमीत्यर्थः। अथशब्दस्तुर्यपादेन वा योज्यः। सतावच्छरार्थमेष्यत्यथ ततः फणिफणा मणिहरणकाङ्क्षिणः फणं प्राप्स्यति ॥25 ॥

[17]इतीरितान्ते तमनीलवाजिनं जयाय दूतः प्रतितर्ज्य तेजसा।
ययौ समीपं ध्वजिनीमुपेयुषः प्रसन्नरूपस्य विरूपचक्षुषः ॥ 14.26 ॥

---

16. विरुद्धम्
17. इतीरिताकूतम्

इति पूर्वोऽर्थस्येरितस्य वचनस्यान्ते विरामे तमनीलवाजिनं श्वेताश्वमर्जुनं प्रतितर्ज्य भर्त्सयित्वा दूतो विरूपचक्षुस्त्रिनेत्रस्य समीपं ययौ। कीदृशस्य तेजसा ध्वजिनीं सेनामुपेयुषः। तथा प्रपन्नं प्राप्तं रूपं शवकृतिर्येन। यद्वा तेजसा प्रतितर्ज्येति योज्यम् ॥26॥

ततो[18]ऽववादेन पताकिनीपतेश्चचाल निर्ह्रादवती महाचमूः।
युगान्तवाताभिहतेव कुर्वती निनादमम्भोनिधीवीचिसंहतिः॥14.27॥

पताकिनीपतेः किरातसेनास्वामिनोऽववादेनाज्ञया महचमूः प्रतस्थे निर्ह्रादवती कृतजयशब्दा। अत उत्प्रेक्ष्यते युगान्तवातेनाभिहतोत्थापिता निनादं कुर्वती समुद्रोर्मिमालेव। उपमावेयम् ॥27॥

रणाय [19]जेतुः प्रदिशन्निव त्वरां तरङ्गितालम्बित[20]चिह्नसंहतिः।
पुरो बलानां सघनाम्बुशीकरः शनैः प्रतस्थे सुरभिः समीरणः॥14.28॥

बलानां पुरोऽग्रे समीरणे वायुः प्रतस्थे एतेनार्जुनोदयकाङ्क्षिण्यः सेनायाः प्रस्थानसफलत्वं सूचितम्। कीदृक् तरङ्गिता सोर्मिः कृतालम्बिता प्रलम्बमाना चिह्न संहतिः केतुमाला येन सः। सह घनैरम्बुशीकरैर्वर्तते तथा सुरभिर्मृदुः शीतः सुगान्धिश्चेत्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्ष्यते जेतुर्भगवतो रणाय त्वरां दिशन्निव त्वरया संपादयितुकामो ह्यग्रे प्रतिष्ठते ॥28॥

जयारवक्ष्वेडितनादमूर्च्छितः शरासनज्यातलवारणध्वनिः।
ससंभवन्भूधरराजकुक्षिषु प्रकम्पयन्गामवतस्तरे दिशः॥14.29॥

शरासनानां ज्या तलं गोधावारणं हारः तेषां ध्वनिर्दिशोऽवतस्तरे छादयामास। ज्या रवो बन्दिनां जय जयेति शब्दः क्ष्वेडितनादो वनेचराणामस्य शब्दविशेषस्ताभ्यां मूर्च्छितो बृंहितः शरासनज्यादीनां सम्बन्धी शब्दः दिशो जगाम। अत्रोत्प्रेक्षा भूधरराजकुक्षिष्वसंभवन्। अतिबाहुल्यात्पर्वतेन्द्रकुहरेष्ववर्तमानो गां भूमिं प्रकम्पयन् चालयन् दिशो व्यानश इत्यर्थः। शरासनज्या धनुर्गुणः गोधावारणं हरः बाहुत्राणं वा मूर्च्छितः स्फारीकृतः ॥29॥

निशातरौद्रेषु [21]विकासितां गतैः प्रदीपयद्भिः ककुभामिवान्तरम्।
वनेसदां हेतिषु भिन्नविग्रहैर्विपुस्फुरे रश्मिमतो मरीचिभिः॥14.30॥

रश्मिमतः सूर्यस्य मरीचिभिः कर्तृभिर्विपुस्फुरे स्फुरितम्। केषु वनेसदां हेतिषु किरातायुधेषु। विकासितां गतैः प्रतिफलवशाद्बहुलीभूतैः। अत एव ककुभामन्तरप्रदीपदयद्भिर्दहद्भिरिव। तथा विभिन्नविग्रहैः प्रत्येकमायुधेषु प्रतिफलनात्। निशातास्तिक्ष्णा अत एव रौद्रा भीषणाः ॥30॥

उद्भूवक्षःस्थगितैकदिङ्मुखो विकृष्टविस्फारितचापमण्डलः।
वितत्य पक्षद्वयमायतं बभौ विभुर्गणानामुपरीव मध्यगः॥14.31॥

---

18. अपवादेन
19. जैत्रः
20. केतुसंततिः
21. विकसताम्

मध्यगोपिर्गणानां विभुनामुपरीवोर्ध्वमिवाबभौ। किं कृत्वाऽऽ यतं दीर्घं पक्षद्वयं पक्षतियुग्मं वितत्य प्रसार्य। उदूढमुच्चैः कृत्वोढं यद्वक्षस्तेन स्थरितमेकं दिङ्मुखां येन। तथा विकृष्टं दूराकृष्टं विस्फारितं चापमण्डलं येन। वक्षश्चापावेव पक्षती प्रसार्य गणानामुपरीव भगवानासीत्। धनुराकर्षणवशादेकपार्श्वेव वक्ष उन्नतं सम्पन्नम् ॥31 ॥

सुगेषु दुर्गेषु च तुल्यविक्रमैर्जवादहंपूर्विकया यियासुभिः।
गणैरविच्छेदनिरुद्धमाबभौ निरुच्छ्वासमिवाकुलाकुलम् ॥ 14.32 ॥

गणैरविच्छेदनिबद्धं निरन्तरव्याप्तं वनमाकुलं निरुच्छ्वासमिवाबभौ। कीदृशैर्गणैः सुखेन गम्यते येषु ते सुगाः सुदुरोरधिकरण इति दुः एवं दुर्गाः तेषु स्थानेषु जवाद्धेतोस्तुल्यविक्रमैः। अहं पूर्वे यत्र तद्भावोऽहंपूर्विका। मनोज्ञादित्वाद् वुञ्। अहं पूर्वोऽस्यां क्रियायामहंपूर्विकेति वा। अहमहमिकया प्रतिष्ठा सुभिर्गन्तुकामैः समविषमेषु वेगवत्वात्तुल्यगतिभिर्गणैर्निरन्तरव्याप्तत्वान्निरुच्छ्वासमिव निरुच्छ्वासवत्वादाकुलमपि वनं बभावित्यर्थः। अविद्यमानो वातोदेरवकाशो निरुच्छ्वासः। पूरितः स चाकुलोऽनवस्थितो भवति। आकुलाकुलामिति प्रकारे गुणवचनस्येति द्वित्वम्। अहं शब्दोऽव्ययम्। अविच्छेदं विरुद्धमिति सुप्सुपेति समासः ॥32 ॥

तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्जरोधसः समश्नवानाः सहसातिरिक्तताम्।
किरातसैन्यैरपिधाय रेचिता भुवः भुवः क्षणं निम्नतयेव भेजिरे ॥ 14.33 ॥

निम्नतयेव भुवः क्षणं भेजिरे भुवो निम्ना इव लक्षिताः। यतः पूर्वं किरातसैन्यैरपिधाय व्याप्य रेचिता मुक्ताः। तथातिरिक्ततामतिरिच्यते स्माधिकीभवति स्मेति। अतिरिक्ता उन्नताः तद्भावमुन्नतत्वं समश्नवानाः प्राप्नुवत्यः। येषु प्रदेशेषु किरातसैन्याः प्राप्तास्ते उन्नताः संपन्नाः। क्षणेन च प्रदेशांस्त्यक्त्वा प्रदेशान्तरं ते यदागतास्तदा प्रथमनिवेशप्रदेशान्निम्ना इव लक्षिता इत्यर्थः। श्वभ्रं विषमप्रदेशः निकुञ्जे गहनं रोधस्तरं तिरोहितं छादितं यासां ताः ॥33 ॥

पृथुरुपर्यस्तबृहल्लतातर्तिर्जवानिलाघूर्णितशालचन्दना।
गणाधिपानां परितः प्रसारिणी वनान्यवाञ्छीव चकार संहतिः ॥ 14.34 ॥

गणाधिपानां संहतिः पङ्क्तिर्वनान्यवाञ्छी न्यक्कृतानि यद्वाचो मुखरीव चकार। अत्रोपपत्तिं विशेषणमुखेनाह पृथुभिरू रुभिः पर्यस्तां पतिता बृहत्यो लतानामाततयः श्रोणयो यया सा पृथूरुपर्यस्त बृहल्लतातर्तिः। जवेन वेगगमनेन समुत्थितो योऽनिलस्तेनाघूर्णितानि चूर्णितानि शालश्चन्दनद्रुमाश्च यया सा जवानिलाघूर्णितानि चूर्णितानि शालश्चन्दनद्रुमाश्च यया सा जवानिलाघूर्णितशालचन्दना। तथा परितः प्रसारिणी सञ्चरन्ती। अत्युन्नता गणा वनेषु समचरन्नतो वनानां नीचत्वमिवाकार्षुः। प्रथमसेना गामुका वनान्यधश्चकारेवेत्यर्थः ॥34 ॥

ततः सदर्पं प्रतनुं तपस्यया मदसृतिक्षाममिवैकवारणम्।
परिज्वलन्तं निधनाय भूभृतां दहन्तमाशा इव जातवेदसम् ॥ 14.35 ॥

ततो गणा अनीलवाजिनमर्जुनं समासेदुरिति 'गुरुक्रियारम्भे' श्लोकेन सम्बन्धः। कीदृशं सदर्पं तावत्यपि बले आगते सावलेपम्। तथा तपस्यया तपश्चरणेन व्रतचर्यया

प्रतनुं कृशम्। अत एव मदसृत्या क्षाममेवकारणमेकाकिनं हस्तिनमिव सोऽपि दर्पस्तनुश्च भवति। तथा भृभृतामसुरावताराणां राज्ञां निधनाय मारणार्थं परिज्वलन्तम्। तपस्तेजसा दीप्यमानमतो दिशो दहन्तामग्निमिव ॥35॥

अनादरेपात्तधृतैकसायकं जयेऽनुकूले सुहृदिव सस्पृहम्।
शनैरपूर्ण[22]प्रतिभारपेलवे निवेशयन्तं नयने बलोदधौ ॥14.36॥

तथानादरेणावहेलयोपात्तस्तूर्णादुद्धतः करेण वृत एकः सायको येन। तथानुकूले सुहृदि सख्याविव जये सस्पृहम् एकेनैव शरेण शत्रुसैन्यं जेष्यामीति कृतनिश्चयम्। तथाऽपूर्णः स्वबलस्यानुरूपो यः प्रतिभारः प्रतिपक्षसंभ्रमस्तेन पेलवे निरादरे नयने कटकसमुद्रे शनैः किञ्चिन्निवेशयन्तम्। मद्बलस्यैतद्बलं नानुरूपमिति सावलेपं पश्यन्तम्। यद्वा प्रतिभारपेलव इति सप्तम्यन्तं। प्रतिपक्षे भार इव दुर्विषहत्वात् प्रतिभारः अपूर्णः प्रतिभारः प्रतियोद्धा यत्र। अत एव पेलवे अपर्याप्ते इत्यर्थः ॥36॥

निषण्णमापत्प्रतिकारकारणे शरासने धैर्य इवानुपायिनि।
अलङ्घनीयं प्रकृतावपि स्थितं निवातनिष्कम्पमिवापगापतिम् ॥14.37॥

तथा वैरिभ्यः संभाव्यमानानामापदां प्रतिकारस्य निवारणस्य कारणे हेतुभूते। तथानपायिन्यपायरहिते शरासने निषण्णं न्यस्तभारम्। धैर्ये इव यथा धैर्ये निषण्णं तथा धनुषीत्यर्थः। धनुषि निषण्णता सलीलं तत्र विन्यस्तदेहभारस्यावस्थानात्। धैर्यं चापन्निवारणं निरपायं च। तथा प्रकृतौ स्वभावेऽपि स्थितमलङ्घनीयम् यथा निवातेन वाताभावेन निष्कम्पमापगापतिं समुद्रमिव। सोऽपि प्रकृतिस्थोऽप्यलङ्घनीयः ॥37॥

उपेयुषीं विभ्रतमन्तकद्युतिं वधाददूरे पतितस्य दंष्ट्रिणः।
पुरः [23]समावेदितत्पशुं द्विजैः पतिं पशूनामिव हूतमध्वरे ॥14.38॥

तथाऽदूरे निकटे पतितस्य दंष्ट्रिणः सूकरस्य वधादुपेयुषीं प्राप्तामन्तकद्युतिं सूकरहननात्साक्षाद्यममिव लक्ष्माणमित्यर्थः। अतः पशूनां पतिं रुद्रमिव। कीदृशं मध्वरे हूतं मखे ऋत्विग्भिराहूतम्। पुरोऽग्रे समावेदित उपाकृतस्तत्पशुः। तस्य रुद्रस्य पशुस्तत्पशुः रुद्रपशूराख्युर्यस्य तम्। आखुः रुद्रायेति श्रुतिदर्शनात्। रुद्रस्यार्जुनो रुद्रपशोराखोः समानाकृतित्वात्सूकर उपमानम् ॥38॥

निजेन नीतं विजितान्यगौरवं गभीरतां धैर्यगुणेन भूयसा
वनोदयेनेव घनोरुवीरुधा समन्धकारीकृतमुत्तमाचलम् ॥14.39॥

तथा निजेन स्वाभाविकेन भूयसा बहुतरेण धैर्यगुणेन गभीरतामविचिन्तनीयमहिमत्वं नीतं प्रापितम्। तथा विजितमन्येषां गौरवं गरिमा येन तम्। कमिवोत्तमाचलमिव महागिरिमिव कीदृशं घनानिरन्तरा उरवो बृहत्यो वीरुधो यस्य तेन वनोदयेन समन्धकारीकृतं दुर्गाहीकृतम्। गिरिश्चगरीयान् ॥39॥

---

22. प्रतिकार
23. समावेशितसत्

महर्षभस्कन्धमनूनकन्धरं बृहच्छिलावप्रघनेन वक्षसा।
समुज्झिहीर्षुं जगतीं महाभरां महावराहं महतोऽर्णवादिव ॥ 14.40 ॥

तथा महर्षभस्कन्धं तरुणवृषभसदृशां। तथाऽनूनकन्धरं स्थूलतरग्रीवम्। तथा बृहच्छिलामयो यो वप्रस्तद्वद्घनेन वक्षसोपलक्षितम्। तथा महान्यो भरोऽसुरकृतोपद्रव-स्तस्माज्जगतीं भूमिं समुज्झिहीर्षुमुद्धर्तुकामम्। यथा महतः युगान्तसिन्धोः समुद्राद्भुवमुद्धर्तुमिच्छन्नमादिवराहम् ॥40 ॥

हरिन्मणिश्याममुदग्रविग्रहं प्रकाशमानं परिभूय देहिनः।
मनुष्यभावे पुरुषं पुरातनं स्थितं जलादर्श इवांशुमालिनीम् ॥ 14.41 ॥

तथा हरिन्मणिरिन्द्रानीलः स इव श्यामः तम्। उपमानं सामान्यवचनैरिति समासः तपः क्लेशवशादिति भावः। तथोदग्रविग्रहमुन्नतशरीरम्। तथा देहिनः परिभूय प्रकाशमानं सर्वेभ्यः पुरुषान्तरेभ्योऽधिकशोभमानम्। तथा पुरातनं पुरुषं नरम्। कीदृशं मनुष्यभावे स्थितम् नरस्य भगवतोऽवतारं मनुष्यरूपमित्यर्थः। यथा जालमिव निर्मलत्वेन प्रतिबिम्बात्सत्त्वादादर्शो दर्पणस्तत्र स्थितमंशुमालिनमर्कमिव वारिप्रतिबिम्बतार्क-सदृशम् ॥41 ॥

गुरुक्रियारम्भफलैरलंकृतं गतिं प्रतापस्य जगत्प्रमाथिनः।
गणाः समासेदुरनीलवाजिनं [24]महाचलं तोयघना घना इव ॥ 14.42 ॥

तथा गुरुभिः क्रियारम्भाणां तपोरूपाणां विधीनां कालैरलङ्कृतम्। तथा जगत्प्रमाथिनः त्रिजगज्जयिनः प्रतापस्य तेजसः गतिमाश्रयम्। के कमिव तोयघना जलपूर्णा घना मेघा यथा महाचलं महागिरिमासीदन्ति। पर्वतोऽपि फलैर्भूषितः तापस्य च स्थानम्। अयमर्थः यथा मेघानां जलधाराभिः पर्वतो न भिद्यते। तथा गणानां शरवृष्टिभिरर्जुनः। यद्वा यथा गिरिर्मेघेभ्यो महांस्तथा गणेभ्यो पार्थ इत्यर्थः। अथवा यथा जलमन्थरा मेघा महागिरिमावृणुते तथा तं प्रमथा आवव्रुः ॥42 ॥ अष्टाभिः कुलकम् ॥

यथास्वमाशंसितविक्रमाः पुरा मुनिप्रभावक्षततेजसः परे।
ययुः क्षणादप्रतिपत्ति[25]दीनतां [26]महान्हि भारः प्रतिहन्ति पौरुषम् ॥ 14.43 ॥

तेषां गणानां मध्यात्परे केचिदप्रतिपत्तिदीनतां क्षणाद्ययुः। अप्रतिपत्त्या निरुत्साहेन दैन्यं प्रापुः। पुरः प्रथमं यथा स्वम् यथात्मीयमाशंसितः संभावितो विक्रमो यैः। अहमेव खड्गेन हन्म्यहमेव शरैरहमेव गदयेति चिकीर्षितपौरुषाः। प्रथमं यदि सर्वे यथात्मीयं संभावितपराक्रमास्तत्कथमप्रतित्तिदीनतामोजः क्षयेन क्लैब्यं जग्मुरित्याह मुनिप्रभावेण क्षततेजसः। सामान्येन समर्थयति महान्भारः पौरुषं प्रतिहन्ति। स्वस्मादधिकं जेतव्यं दृष्ट्वा ग्लानिर्जायते ॥43 ॥

---

24. तपात्यये
25. मूढताम्
26. महानुभावः

ततः प्रजह्रे सममेव तत्र तैरपेक्षितान्योन्यबलोपपत्तिभिः।
महोदयानामपि सङ्गवृत्तितां सहायसाध्याः प्रदिशन्ति सिद्धयः॥ 14.44॥

तैर्गणैस्तत्रार्जुने सममेव प्रजह्रे प्रहृतम्। अपेक्षितान्योन्यं बलोपपत्तिभिः, अन्योन्यं सामर्थ्यमाकाङ्क्षिभिः। युक्तमेतत् सिद्धयो महोदयानामपि सङ्गवृत्तितामुपदिशन्ति। सङ्गे वृत्तिर्भावो येषां तद्भावः सङ्गवृत्तिता ससहायत्वम्। महानुदयो महिमा येषां तेऽपि संपत्प्राप्त्यर्थं सङ्गातेनावतिष्ठन्ते। कृतो यतः सहायसाध्यां यस्मात्सहायैः करणभूतैः सह वा साधयितुं शक्याः सिद्धयो नान्यथा॥44॥

किरातसैन्यादुरुचाप[27]चोदिताः समं समुत्पेतुरुपात्तरंहसः।
महावनादुन्मनसः खगा इव प्रवृत्त[28]पक्षध्वनयः शिलीमुखाः॥ 14.45॥

किरातकटकाश्शिलीमुखाः शराः समं समुत्पेतुः युगपन्निर्जग्मुः। तडयच्चापं तेन चोदिताः प्रेरिताः। तथोपात्तरंहसो गृहीतवेगाः। तथा प्रवृत्तः पक्षाणां ध्वनिर्येषां तथाविधां। महावनात्खगाः पक्षिण उन्मनस उत्कण्ठितचित्ता यथा समुद्गच्छन्ति तथा शवरबलादिषवो युगपन्निरीयुरितर्थः। तेऽपि सवेगाः सशब्दाश्च भवन्ति॥45॥

गभीररन्ध्रेषु भृशं महीभृतः प्रतिस्वनै[29]रुन्नदितेषु सानुषु।
धनुर्निनादेन जवादुपेषुषा [30]विभज्यमाना इव दध्वनुर्दिशः॥ 14.46॥

गभीराण्यगाधानि रन्ध्राणि गुहा येषु तेषु महीभृतः सानुषु प्रतिस्वनैः प्रतिशब्दैरुन्नदितेषु शब्दवत्सुकृतेषु सत्सुदिशो दध्वनुः शब्दायन्ते स्म। अत उत्प्रेक्ष्यते जवादुपेयुषा समागतवता धनुर्निनादेन चापशब्देन विभज्यमाना द्विधा इव। बलवांश्च वेगागतः सन् पदार्थं भनक्ति। स च भग्नः सन् शब्दायते॥46॥

विधूनयन्ती गहनानि भूरुहां तिरोहितोपन्तनभोदिगन्तरा।
महीयसी वृष्टिरिवानिलोरिता रवं वितेने गणमार्गणावलिः॥ 14.47॥

गणानां मार्गणावलिः शरपङ्क्तिः रवं शब्दं वितेने। भूरुहां गहनानि तरुकाननानि विधूनयत्री। तथाऽच्छादितनिकटाकाशदिङ्मध्या। यथा वायुना प्रेरिता महती वृष्टिः शब्दं करोति तथा प्रमथेषु संहतिः शब्दं चकार। वृष्टिरपि तरुगहनानि कम्पयति स्थगिताकाशदिक्व भवति॥47॥

त्रयीमृतूनामनिलाशिनः सतः प्रयाति पोषं वपुषि प्रहृष्यतः।
रणाय जिष्णोर्विदुषेव सत्वरं घनत्वमीये शिथिलेन वर्मणा॥ 14.48॥

तपश्चरणेन कृशत्वाच्छिथिलेन वर्मणा कवचेन घनत्वं लग्नत्वमीये प्राप्तम्। क्ववपुषि, कस्य जिष्णोः, किमर्थं रणाय। शिथिलत्वहेतुमाह ऋतूणां त्रयीं मासषट्कनिलाशिनो वायुभक्षस्य सतः। घनत्वे हेतुमाह रमागमनात्प्रहृष्यतस्तुष्यतः स्तूलत्वं

---

27. नोदिताः
28. पत्र
29. उन्नमितेषु
30. विभिद्यमाना

प्राप्नुवति शरीरे। प्रहर्षाद्धि समुच्छ्वसद्रोमाञ्चं वपुः पीवरीभवति। अंसलेन वपुषा परिपूरितमत्र वर्मसंष्लिष्टं निश्चलमास्ते। अत उत्प्रेक्ष्यते विदुषेव। यदेदानीं मया शिथिलेन स्थीयते तदा पार्थः पराजयमेव प्राप्नोति इति जानतेव वर्मणाङ्गलग्नेन भूतम् ॥48॥

पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य रोदसी समन्ततस्तस्य धनुर्दुधूषतः।
सरोषमुल्केव पपात भीषणा बलेषु दृष्टिर्विनिपातशंसिनी ॥ 14.49 ॥

तस्य दृष्टिर्बलेषु सरोषं पपात। कदा रोदसी भूमिमाकाशं च वितन्य व्याप्य शस्त्रेषु पतत्सु सत्सु। धनुर्दुधूषतो धवितुमिच्छतः आस्फालयतः। कीदृशी भीषणा भयङ्करी। अतो रिपूणां विनिपातं विनाशं शंसतीति। अत उत्प्रेक्ष्यते उल्केव। उल्का हि उत्पातरूपत्वान्नाशं शंसति यद्वोपमेयम्। एते वशका मयि शस्त्राणि पातयन्तीति दृष्टिं सरोषां सैन्येष्वक्षिपत् ॥49॥

दिशः समूहन्निव [31]सहंरन्निव प्रभां रवेराकुलयन्निवानिलम्।
मुनिश्चचाल क्षयकालदारुणः क्षितिं सशैलां चलयन्निवेषुभिः ॥ 14.50 ॥

मुनिश्चचाल शत्रून् प्रति प्रतस्थे। किं कुर्वन्निषुभिर्दिशः समूहन्निव पञ्चभूता इव कुर्वन्। रवेः प्रभां संहरन्निव। अनिलमाकुलयन्निव। रुन्धन्निव सशैलां। क्षितिं चालयन्निव। तावन्तः शरास्तेन विक्षिप्ता यावद्भिर्दिश आच्छादिताः रवेरश्मयो न दृष्टाः वायुर्निरुद्धगतिः संपन्नः भूः कम्पिता। अत एव क्षयकालवदारुणः क्रूरा। युगान्तसमयोऽपि सशैला गां चालयति। क्वचिद्विक्षिपन्निव प्रभां रवेरिति पाठः ॥50॥

विमुक्तमाशंसितेशत्रुनिर्जयैरनेकमेकावसरं वनेचरैः।
[32]मुनिर्जघानायुधमन्तरा शरैः क्रियाफलं काल इवातिपातितः ॥ 14.51 ॥

अशंसितः संभावितः शत्रुनिर्जयो यैस्तैर्वनेचरैः किरातैरेकावसरं युगपद्विमुक्तमनेकमायुधमस्त्रं मुनिः शरैः करणैरन्तरा मध्यप्राप्तमेव जघान अप्राप्तमेवाच्छिनदित्यर्थः। यथातिपातित उल्लङ्घितः कालः क्रियाफलं हन्ति तथा बहुभिर्गणैर्बहुविधानि युगपदायुधानि क्षिप्तानि सशरैरन्तरा अप्राप्तान्येव जघान। अशंसितो निश्चितः शत्रुर्निर्जितो यैस्ते अशंसितशत्रुनिर्जया वनेचराः। एष हतो मयेत्येवं प्रत्येकं मन्यमानैर्विमुक्तमित्यर्थः। एकोऽवसरः कालो यत्र इति मोक्षक्रियाविशेषणम्। उल्लङ्घितो हि कालः कृष्यादीना क्रियाणां फलं नाशयति ॥51॥

गतैः परेषामविभावनीयतां निवारयद्भिर्विपदं विदूरगैः।
भृशं बभूवोपचितो बृहत्फलैः शरैरुपायैरिव पाण्डुनन्दनः ॥ 14.52 ॥

पाण्डुनन्दनः पार्थ उपचितः प्राप्तोऽपचयो बभूव। कैः शरैः कीदृशैः परेषां शत्रूणामविभावनीयतामदृश्यत्वं गतैः सर्वतः पातित्वात्। तथा विपदां पराभवं निवारयद्भिः

---

31. विक्षिपन्निव
32. स निर्जघान

विदूरं गच्छद्भिः शिक्षाकौशलातिशयात्। बृहन्ति पृथूनि बालानि येषां तैः। यथा स एवोपायैः सामादिभिरुपयितो बभूव। तत्पक्षे विभावनीयतामलक्ष्यत्वं मन्त्रसंवरणात्, विदूरगैःपुरमण्डलेषु प्रयुज्यमानत्वात् बृहत्फलैर्महार्थसाधकत्वात्। शरैरुपचयस्तदाढ्यता उपायैस्तु वृद्धिमत्वम् ॥52॥

दिवः पृथिव्यां ककुभां नु मण्डलात्पतन्ति बिम्बादुत तिग्मतेजसः।
सकृद्विकृष्टादुत[33] कार्मुकान्मुनेः शराः शरीरादिति तेऽभिमेनिरे ॥14.53॥

दिवे नभसः सकाशाश्शरा नु पतन्ति किं स्विन्निर्यान्ति। एवं पृथिव्यादिभिः पंचम्यन्तैरन्वयो योज्य। इत्येवं ते गणा ऊहामासुः। किं वा पृथिव्या निर्यान्ति, किं वा दिङ्मण्डलान्निर्यान्ति, उत सूर्यान्निर्यान्ति, किं वा मुनेः शरीरादेव निःसरन्तीत्येवं ते गणा ऊहामासुः मेनिरे वा। पतन्त एवाङ्गेषुदृश्यन्ते नागच्छन्तोऽत एते विकल्पाः। आदानसन्धानविकर्षणादीनामलक्ष्यमाणत्वात्सकृद्विकृष्टादित्युक्तम्। एष यदि शरान्विसृजेत्कथमियन्तः समकालं निर्गच्छेयुः। यदि च धनुराकृष्यैव विसृजेत्तच्चिरेण शराः पतेयुः। तस्मादाकाशादिभ्यः शराः पतन्ति ॥53॥

गणाधिपानामविधाय निर्गतैःपरासुतां मर्मविदारणैरपि।
जवादतीये हिमवानधोमुखैः कृतापराधैरिव तस्य पत्रिभिः ॥14.54॥

तस्य पत्रिभिः शरैर्हिमवानतीये उल्लङ्घितः। अधोमुखैः फलगौरवात्। अत उत्प्रेक्ष्यते कृतापराधैरिव। तमेवापराधं विशेषेण दर्शयति मर्मविदारणैर्मर्माणि विदारयद्भिरपि। गणाधिपानां परासुतां परागता सुत्वं प्राणहरणमसंपाद्य निर्गतैस्तेषाममरत्वात्। यश्चापराधी सोऽधोमुखो दूरं गच्छति ॥54॥

द्विषां क्षतीर्याः प्रथमे शिलीमुखा विभिद्य देहावरणानि चक्रिरे।
न तासु पेते विशिखैः पुनर्मुनेररुन्तुदत्वं महतां ह्यगोचरः ॥14.55॥

द्विषां देहावरणानि कवचादीनि विभिद्य पार्थसम्बन्धिनः प्रथमे शराः क्षतीः क्षतानि चक्रिरे। तासु क्षतिषु क्षतिस्थानेषु मुनेर्विशिखैः शरैः पुनर्न पेते पतितम्। एकैकस्मिन्नेव शरे पतिते सति गणैरपसरं कृतमित्यर्थः। युक्तमेतत् अरुन्तुदत्वं मर्मव्यत्वं महतामगोचरः महान्तो मर्मव्यधं न कुर्वन्तीत्यर्थः। क्षतस्थानमत्र मर्म ॥55॥

समुज्झिता यावदराति निर्यती सहैव चापान्मुनिबाणसंहतिः।
प्रभा हिमांशोरिव पङ्कजावलिं निनाय सङ्कोचमुमापतेश्चमूम् ॥14.56॥

---

33. अथ

यावन्तो रातयो यावदराति यावदवधारण इति समासः। यावती शत्रूणां सङ्ख्या तावत्सङ्ख्या विकीर्णा। तथा चापाद्धनुषः सकाशात्सह युगपदिव निर्यती निर्यान्ती मुनिबाणसंहतिरुमापतेश्चमूं सङ्कोचमेकत्रावस्थानं परिमण्डलतां निनाय। यथा चन्द्रस्य दीप्तिः पद्मपङ्क्तिं सङ्कोचयति ॥56॥

अजिह्ममोजिष्ठममो[34]घमक्रमं क्रियासु बह्वीषु पृथङ्नियोजितम्।
प्रसेहिरे सादयितुं न सादिताः शरौघमुत्साहिमिवास्य विद्विषः ॥14.57॥

अस्य शरौघं सादयितुं प्रतिहन्तुं विद्वषो न प्रसेहिरे। यतः सादिता पराभूताः। अजिह्मं सरलमोजिष्ठ वेगवन्तममोघं सफलम्। अक्रमं निरन्तरप्रवृत्तत्वादविश्रान्तं बह्वीषु क्रियासु च्छेदभेदादिषु नियोजितम्। यथोत्साहम् तत्पक्षे अह्मि प्रकटारम्भम्। बह्वीषु क्रियासु भुक्तिमुक्त्यादिषु ॥57॥

शिवध्वजिन्यः प्रतियोधमग्रतः स्फुरन्तमुग्रेषुमयूखमालिनम्।
तमेकदेशस्थमनेकदेशगा निदध्युरर्कं युगपत्प्रजा इव ॥14.58॥

एकस्मिन्देशे तिष्ठन्तं प्रतियोधमग्रे स्फुरन्तं शिवध्वजिन्यो हरसेना ददृशुः। उग्रा दुःसहा इषव एव मयूखानां माला विद्यते यस्य तम्। सेनाः कथं भूताः अनेकदेशस्थाः यथार्कं नियतदेशस्थं गगनदेशे व्यवस्थितमेव युगपदग्रे स्फुरन्तं पश्यन्ति ताश्चानेकदेशस्थाम्। तथैकैको योधः पुरस्ताच्चातुर्यादेशकालं तं युध्यमानं ददर्शेत्यर्थः। योधस्य योधस्य प्रतियोधम् ॥58॥

मुनेः शरौघेण तदुग्ररंहसा बलं प्रकोपादिव विष्वगायता।
विधूनितं भ्रान्तिमियाय सङ्गिनीं महानिलेनेव निदाघजं रजः ॥14.59॥

तद्बलं सङ्गिनीमविचलां भ्रान्तिं भ्रमणमियाय। कीदृशं विष्वगायता सर्वत आगच्चता मुनेः शराणामोघेण प्रकोपादिव विधूनितं शराणामपि कोप इवागत इत्यर्थः। उग्ररंहसा तीव्रवेगेन। यथा महानिलेन विधूनित निदाघजं रजो भ्रान्तिमेति ॥59॥

तपोबलेनैष विधाय भूयसीस्तनूरदृश्याः स्विदिषून्निरस्यति।
अमुष्य मायाविहितं निहन्ति नः प्रतीपमागत्य किमु स्वमायुधम् ॥14.60॥

हता गुणैरस्य भयेन वा मुनेस्तिरोहिताः स्वित्प्रहरन्ति देवताः।
कथं न्वमी सन्ततमस्य सायका भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः ॥14.61॥

जयेन कश्चिद्विरमेदयं रणाद्भवेदपि स्वस्ति चराचराय वा।
तताप.कीर्णा नृपसूनुमार्गणैरिति प्रतर्काकुलिता पताकिनी ॥14.62॥

नृपसूनोर्मार्गणैः कीर्णा विक्षिप्ता सती पताकिनी चमूस्तताप। कीदृशीत्येवंप्रकरैः प्रतर्कैरुहैराकुलिता। तानेव तर्कान्दर्शयति। एष ऋषि तपोबलेन प्रभावेण

---

34. अक्लमम्

भूयसीर्बह्वीस्तथादृश्यास्तनूर्विधायानेकदेहान्निर्माय स्विच्छरान्किरति। बा पक्षान्तरे अमुष्य मायया विहतं पराङ्मुखीकृतं नोऽस्माकं स्वमायुधं प्रतीपमागत्य निहन्ति स्वित्। वा पक्षान्तरे अस्य गुणैर्हृता रञ्जिता अस्माद्भयेन वा देवता नः प्रहरन्ति। कीदृश्यस्तिरोहिता अदृश्याम्। एषां तर्काणां हेतुमाह सन्ततमविच्छिन्नपातिनोऽमी सायकाः कथमस्य भवन्ति। यथा जलधेः समुद्रस्योर्मयः सततं भवन्ति। तथा जयेनास्माञ्जित्वाऽयं रणात्कश्चिद्विरमेत्समरं त्यजेत्। वा पक्षान्तरे चराचराप स्थावरजङ्गमाय स्वस्ति अपि भवेत्। अस्मान्संहृत्य जगत्संहारमपि मुनिः किमु करोतीत्यर्थः ॥60, 61, 62॥ **तिलकम्॥**

अमर्षिणा कृत्यमिव क्षमाश्रयं मदोद्धतेनेव हितं प्रियं वचः।
बलीयसा तद्विधिनेव पौरुषं बलं निरस्तं न रराज जिष्णुना॥14.63॥

यथा क्षमासाध्यं कृत्यं कार्यममर्षिणाऽक्षमावता निरस्तं न राजति। यथा मदोद्धतेन निरस्तं हितं प्रियं च वचो न राजति। यथा विधिना निरस्तं पौरुषं न राजति। तथा बलीयसा बलवता जिष्णुनार्जुनेन निरस्तमवमानितं तद्बलं न रराज। यथाऽक्षमा वाक्षमासाध्यं कार्यं निरस्यति। तच्च कार्यं निरस्तं सन्नराजति। एवं मदोद्धतो धनादिदर्पावलिप्तस्तेन हितमन्येषां प्रियं वचस्तिरस्कृतं न शोभते। विधिना दैवेनावसादितं पौरुषं न शोभते। तथाऽर्जुनेन पराजितं बलं ददीपे॥63॥

प्रतिदिशं प्लवगाधिपलक्ष्मणा विशिखसंहतितापितमूर्तिभिः।
रविकर[35]क्षपितैरिव वारिभिः शिवबलैः परिमण्डलतादधे॥14.64॥

प्लवगाधिपो वानरराजो लक्ष्यकेतुर्यस्य तेनार्जुनेन प्रतिदिशं दिशि दिशि विशिखसंहत्या शरसमूहने तापिता मूर्तिर्येषां तैः शिवबलैः परिमण्डलता दधे एकत्रैव सङ्कुचितम्। यथा रविकरैः क्षपितैः शोषितैर्वारिभिः परिमण्डलाश्रियते सङ्कोचीयते॥64॥

[36]प्रमनसि शरजालच्छन्नविश्वान्तराले
विधुवति धनुराविर्मण्डलं पाण्डुसूनौ।
[37]कथामिव जयलक्ष्मीर्भीतभीता विहातुं
विषमनयनसेनापक्षपातं विषेहे॥14.65॥

प्रकृष्टं मनो यस्य तस्मिन् तथाऽऽविष्कृतं मण्डलं यस्य तद्धनुर्विधुवति तथा शरजालेन च्छन्नं विश्वान्तरालं येन तथाविधे पाण्डुसूनो सति भीतभीतातिभीतेव जयलक्ष्मीर्विषमनयनस्येश्वरस्य सेनायां पक्षपातमनुरागं विहातुं त्यक्तुं कथमपि विषेहे समर्थासीदिति भद्रम्॥65॥

इति श्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां चतुर्दशः सर्गः॥14॥

---

35. ग्लपिते:
36. प्रवितत
37. कथमपि

॥पञ्चदशः सर्गः॥

अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः।
भेजे दिशः परित्यक्तमहेष्वासा च सा चमूः॥15.1॥

वृत्रहा इन्द्रस्तस्यापत्यं वार्त्रघ्नः पार्थस्तस्य शरेभ्यस्तत्र युद्धभूमौ भूतानि प्राणिनस्तत्रसुः भयं: प्राप्तः। अतः परित्यक्ता महान्त इष्वासा धनूंषि यया सा चमूर्दिशो भेजे पलायामासेत्यर्थः॥1॥

अपश्यद्भिरिवेशानं रणान्निववृते गणैः।
[1]मुह्यतीव हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमज्वलितं मनः॥15.2॥

गणै रणान्निववृते सङ्ग्रामस्त्यक्तः, ईशानमपश्यद्भिरिव। स्वामिनोऽसन्निधानेन हि भीताः सन्तः पलायन्ते। तत्रैव सन्भगवान्कथं न दृष्ट इत्याह कृच्छ्रेषु विपत्सु सत्सु सम्भ्रमेणाकुलत्वेन ज्वलितं सन्मनः मुह्यति मोहं धत्ते॥2॥

खण्डिताशंसया तेषां पराङ्मुखतया तया।
आविवेश कृपा [2]केतूकृतोच्चैर्वानरं नरम्॥15.3॥

कृपा कुरुणा केतूकृतो ध्वजीकृत उच्चैः वानरो येन तं नरमर्जुनमाविवेश। कया हेतुभूतया तया पराङ्मुखतया तेषां पलायनेन। कीदृश्या खण्डिताशंसा जयसंभावना यया॥3॥

शत्रुष्वपि दयास्य कथमुदभूदित्याह॥

आस्थामालम्ब्य नीतेषु वशं क्षुद्रेष्वरातिषु।
व्यक्तिमायाति महतां महात्म्यमनुकम्पया॥15.4॥

महतां म्माहात्ममनुकम्पया दयया व्यक्तिमायाति। दयैव माहात्म्यव्यञ्जिका इत्यर्थः। केष्वास्थामालम्ब्य धैर्यमाश्रित्य वशं नीतेष्वायत्तीकृतेष्वरातिषु शत्रुषु। महान्तो हि बलेन शत्रूञ्जित्वा तेषु कारुण्यं कुर्वन्ति॥4॥

---

1. मुह्यतेव
2. केता

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययायायः।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन्॥15.5॥

स पार्थो लीलां क्रीडां ललौ आददे। किं कुर्वन् शशन् वल्गन्। सासिः महासिना खड्गेन वर्तते यः। तथा सासुसूः असून्सुवन्ति प्रेरयन्ति असुस्वः शराः तैः सह वर्तते सासुसूः। तथा सासः अस्यन्ते शरा अनेनेत्यासो धनुः सहासेन धनुषा वर्तते यः। तथा ललः ललयतीति ललः रोषणाशीलः। तथाऽलोलोऽचपलः अगृध्नुर्वा। तथा शशिन ईशः परमेश्वरस्तस्य शिशुः कुमारस्तं शृणाति हिनस्ति सः। स कः यः पार्थ इयाय युद्धार्थं जगाम। कस्मै यातव्यो गन्तव्यो येयः अभियोज्यस्तस्मै। तथा याय यातीति यः तस्मै अभियोक्त्रे। अभियोज्याभियोक्तृभ्यां सह रणमकार्षीदित्यर्थः॥ **एकाक्षरपादः॥5॥**

त्रासजिह्मं यत[3]श्चैनान् मन्दमेवान्वियाय सः।
नातिपीडयितुं भग्नानिच्छन्ति हि महौजसः॥15.6॥

त्रासेन जिह्मं वक्रं यत्र तत्रेत्यर्थः। यतो गच्छतः पलायमानानेनान्गणान् स पार्थो मन्दं शनैरेवान्वियायाऽनुदुद्राव। युक्तमेतत् महौजसौ भग्नानतिपीडयितुं नेच्छन्ति॥6॥

अथाग्रे हसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना।
सेनान्या ते जगदिरे किञ्चिदायस्तचेतसा॥15.7॥

सेनान्या कुमारेण ते जगदिरे इति कथिताः। साचि-तिर्यक्स्थितेनाऽलोलयशसा किञ्चिदायस्तं क्षुभितं चेतो यस्य तथा हसता। उपूपध्मानीयानामभावान्निरोष्ठ्यः॥7॥

मा विहासिष्ट समरं समरन्तव्यसंयतः।
क्षतं क्षुण्णासुरगणैरगणैरिव किं यशः॥15.8॥

हे समरन्तव्यसंयतः रत्नव्यं क्रीडा संयद्युद्धं समे रन्तव्यसंयतो लीलायुद्धे येषां तेषामामन्त्रणम्। यूयं समरं युद्धं मा विहासिष्ट मा त्यजत। भवद्भिर्यशः किं क्षुण्णं नाशितम्। क्षता असुरगणा यैस्तैः अगणैर्गणैतरैरिव समूहहीनैरिव वेति व्याख्येयम्॥8॥

विवस्वदंशुसंश्लेषद्विगुणीकृततेजसः।
अमी वो मोघमुद्गूर्णा हसन्तीव महासयः॥15.9॥

अमोघं निष्फलमुद्गूर्णा उद्यमिता अमी महान्तोऽसयः खड्गाः वो हसन्तीव। विवस्वतोंऽशुनां संश्लेषेण द्विगुणीकृतं तेजो येषां ते। महान्तश्च तेऽसयः खड्गा वो

---

3. एतान्

युष्मान् हसन्तीव। हसे हेतुमाह मोघं निष्प्रयोजनतयोद्गूर्णा आकृष्टाः। अल्पेऽपि शत्रौ किमियान्संरम्भ इति हासोत्पत्तिः नखच्छेदे वस्तुनि शस्त्रग्रहणस्यायुक्तत्वात् ॥9 ॥

वनेऽवने वनसदां मार्गं मार्गमुपेयुषाम्।
बाणैर्बाणैः [4]सहासक्तं शङ्केऽशङ्केन शाम्यति ॥15.10 ॥

अहमिति शङ्के चिन्तयामि। बालैः बणनं शब्दोऽस्त्येषां तैः सशब्दैः बाणैः सहासक्तमऽशमऽपयशो वः केन शाम्यति निवर्तते। यद्वा केन शाम्यति न केनचिदिति मन्ये। कीदृशानां वनसदां वनचारिणामवने प्रीतिकारिणि वने मार्गं मृगसम्बन्धिनं मार्गमुपेयुषाम्। पलायनपराणामित्यर्थः। अल्पाच्छत्रोः पलायनेनापयशो जातमित्यर्थः ॥10 ॥

एतमेवार्थं पुनरपि कथयति

पातितोत्तुङ्गमाहात्म्यैः संहतायतकीर्तिभिः।
गुर्वीं कामापदं हन्तुं कृतमावृत्तिसाहसम् ॥15.11 ॥

लोठितोन्नतमहत्त्वैर्गलितसहायशोभिर्भवद्भिः कामापदं हन्तुमपसादयितुमिदं पराङ्मुखता साहसं कृतम्। न चास्मादद्य काचिदापत्। अत्रोपपत्तिं दर्शयति ॥11 ॥

नासुरोऽयं न वा नागो [5]धरासंस्थो न राक्षसः।
ना सुखोऽयं नवाभोगो [6]धरासंस्थो हि राजसः ॥15.12 ॥

अयं धरासंस्थो भूमिगतोऽसुरो न भवति। तथायं धरासंस्थो नागो न भवति। तथायं धरासंस्थो राक्षसो न भवति। किं तर्ह्ययमित्याह अयं ना मनुष्यो भवति। कीदृक् सुखः, सुखजय्यः। यतो नवाभोगः नवमभोगं भोगाभावं तपो यस्य सः। तथाऽधरा नीचा असंस्था स्थितिर्यस्य। तत्र हेतुः यस्माद्राजसो रजोगुणवान् राजसत्वं च दृश्यमानाद्व्यवहारात् ॥12 ॥

गोमूत्रिकाबन्धः ॥

प्रत्यावर्तनार्थमधिक्षेपमाह ॥

मन्दमस्यन्निषुलतां घृणया मुनिरेष वः।
प्रणुदत्यागतावज्ञं जघनेषु पशूनिवः ॥15.13 ॥

आगतावज्ञं सावलेपमत एव मन्दं शरलतामाकर्षन्नेष मुनिस्तापसो वो युष्मान् पशूनिव जघनेषु प्रणुदति। अत उत्प्रेक्ष्यते घृणया करुणयेवेति प्रतीयमानोत्प्रेक्षेयम्। मुनिशब्दः साभिप्रायः ॥13 ॥

---

4. समासक्तम्
5. धरासंस्थः
6. धरणिस्थ

एवं गतेऽपि यूयमनेन न जिता इति प्रतिपादयितुमाह॥

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नाऽनेना नुन्ननुन्ननुत्॥15.14॥

हे नानानना: नानाविधानि सर्वदिग्वर्तीनि आननानि मुखानि येषां तथाविधा:। ऊननुन्नो ना कर्ता नुन्नो न न भवतीत्यन्वय:। ऊनेन निकृष्टेन नुन्नो जितो न भवति। ऊनेन कृत: पराजय:पराजयो न गण्यते। अत्र हेतुमाह अनुन्नेन: अनुन्नोऽपराजित इन: स्वामी यस्य स:। स्वामिन्यपराजिते सति भृत्य: पराजितोऽप्यपराजित एवेत्यर्थ:। अनुन्नोऽपि ना कर्ताऽनाऽपुरुषो न भवति। स्वयमपराजितेऽपि पराजितो भवतीत्यर्थ:। अत्र हेतुमाह नुन्नेनो जितप्रभु:। एष चास्माकं प्रभुर्न केनापि जितोऽतो यूयमपराजिता एवेत्यर्थ:। एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्वामिपराजय भृत्यपरजय इति प्रतिपादितम्। यद्यप्येवंविधया पराजयाभावोपपत्त्या वयमपराजिता एव भवामस्तथाप्यस्मत्पराजयाभासात्प्रताप: प्रबलीभूत इति गणनां विकल्पमाशङ्क्याह अनुन्ननुत् ना कर्ता नुन्नो न भवति अनुन्नात्। स्वामिपराजयाभावादजितान्नुदति य: सोऽनुन्ननुत्। ना पुरुषो नुत् जेता न भवति। अजडितस्वमिकान्योधाञ्जयन्नपि पुरुषो जेता न भवतीत्यर्थ:। अत्र हेतुमाह केनानेन पूर्वपादत्रयनिर्दिष्टोपपत्तिबलेन। तस्माद्यूयमनेन नैव जिता इति मन्तव्यमित्यर्थ:॥14॥

एकाक्षर:॥

अथ यदि मन्यध्वं रणेऽस्मिञ्जीवितमात्रं रक्षित्वा रणान्तरे यशोजयाम इति तन्नयुक्तमित्याह॥

वरं कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुण: पुमान्।
प्रकृत्या ह्यमणि: श्रेयान्नालङ्कारच्युतोपल:॥15.15॥

आदौ कृता: पश्चाद्ध्वस्ता गुणा येन तस्मात्पुरुषादगुण: कदाचिदप्यगुण: पुमान् वरं भवति। प्रकृत्या निर्गुणां कश्चिन्न निन्दति। कृतध्वस्तगुणं तु सर्वे निन्दतीत्यर्थ:। अत्रार्थान्तरन्यासमाह। प्रकृत्या मणिरहितोऽलङ्कारो वलयादि: श्रेयान्भवति। च्युत: पतित उपलो मणिर्यस्य सोऽलङ्कारो मनोहरो न भवति। भवद्भि: पुरुषगुण: सर्वत्र दर्शितोऽत्र यदि त्यज्यते तदा पुनर्यश: प्राप्तिर्दुर्लभेत्यर्थ:॥15॥

न चायं रणो रणान्तरेभ्यो महानिति प्रतिपादयितुमाह॥

स्यन्दना नो चतुरगा: सुरेभा वाऽविपत्तय:।
स्यन्दना नो च तुरगा: सुरेभा वा विपत्तय:॥15.16॥

चतुरगाश्चतुरगामिन: स्यन्दना रथा नो भवन्ति। तथाऽविपत्तयो विपद्रहिता: सुरेभा देवहस्तिनश्च न सन्ति। वा शब्दश्चार्थे। स्यन्दन्ते सदं स्रवन्तीति स्यन्दना: तुरगाश्च न

सन्ति। तथा सुरेभावाः शोभनं रेभं शब्दमवन्ति वर्धयन्तीति। तथाविधाः विपत्तयो विविधा पदातयश्च न सन्ति। अत्रेत्यध्याहार्यं सर्ववाक्ये योज्यम्॥ समुद्गकः॥16॥

एवंविधेऽपि अस्मिन् युद्धे पलायनाद्यत्संपन्नं तदाह॥

भवद्भिरधुनारातिपरिहापितपौरुषैः।
हृदैरिवार्कनिष्पीतैः प्राप्तः पङ्को [7]दुरुत्सहः॥15.17॥

अरातिना परिहापितं हारितं पौरुषं यैस्तैर्भवद्भिधुना पङ्केऽपयशो दुर्निवारः प्राप्तः। अर्केण निष्पीतैः सरोभिर्यथा पङ्कः कर्दमः प्राप्यते॥17॥

दुर्गेऽपि सति किं पलायध्वमित्याह॥

वेत्रशाककुजे शैलेऽलेशैजेऽकुकशात्रवे।
यात किं विदिशो जेतुं तुंजेशो दिवि किं तया॥15.18॥

शैले विदिशो जेतुं यूयं किं यात गच्छतेति सम्बन्धः। शैले कीदृशे वेत्रशाककुजे वेत्राणि शाकाश्च कुजा भूम्युत्पन्ना यत्र। तथाऽलेशैजे न लेशेन एजते कम्पते तस्मिन्। स्वल्पेन जेतुमशक्येत्यर्थः। दुर्गेऽपि हि सति यदि शत्रुः समर्थः स्यात्तदा पलायनमदोषावहमित्याह किं तया कुत्सितत्वेन कारणेन अकुलो ग्रहणासमर्थः शात्रवो यत्र। न च यूयमसमर्था इत्याह दिवि तुञ्जेशाः। दिवि स्वर्गे ये तुञ्जा बाधका तेभ्य ईशते प्रभवन्ति तथाविधाः। "तुञ्ज" हिंसायाम्॥18॥ **प्रतिलोमानुलोमपादः॥**

कुमार एवं वदति न तु भगवानिति शङ्कानिवारयितुमाह॥

अयं वः क्लैब्यमापन्नान् दृष्टपृष्ठानरातिना।
[8]वाञ्छतीशश्च्युताचारान् दारानिव [9]निगूहितुम्॥15.19॥

वैक्लव्यमापन्नान्धैर्यभ्रष्टानत एवारातिना दृष्टपृष्ठान्। पलायमानानित्यर्थः। युष्मान्निगृहितुं निह्नोतुं वाञ्छति। तथा युष्माकं पलायनमयं निह्नुते॥19॥

ननु हो मथना राघो घोरा नाथमहो नु न।
तयदातवदा भीमा माभीदा बत दायत॥15.20॥

ननु प्रश्नो हो आमन्त्रणे बत खेदे यूयं नु न दायत कथं न युध्यत प्रत्यावर्तनेनेति शेषः। यूयं कीदृशाः मथनाः, तथा राघः समर्थाः, तथा घोराः, तथा नाथमहो नाथं महन्ति

---

7. दुरुत्तरः
8. इच्छति
9. निगोपितुम्

पूजयन्तीति नाथमहः। तथा तया रक्षकाः दाताः शत्रुखण्डिनः वदा वाग्युद्धज्ञाः ते तयदातवदाः। तथा भीमाः। तथा माभीदा अभयप्रदाः। अनुर्भावितेऽन्वन्तस्य वा दायतेर्नाथमहः कर्मत्वेन योज्यम्। स्वामियशोऽभवत्पलायनेन नश्यतीति तात्पर्यम्॥20॥

शात्रव समर्थेऽपि स्वयमेव भवद्भिः शौर्यं त्यक्तमित्येतदाह॥

किं त्यक्तापास्तदेवत्वमानुष्यकपरिग्रहैः।
ज्वलितान्यगुणैर्गुर्वी स्थिता तेजसि [10]मान्यता॥15.21॥

देवत्वमानुष्यकयोः परिग्रहोऽपास्तोऽजितो यैस्ते देवेभ्यो मनुष्येभ्योऽप्यधिकैरित्यर्थः। तेजसि स्थिता मान्यता किं भवद्भिस्त्यक्ता। कीदृशी अन्यगुणैरौदार्यादिभिर्ज्वलिता। केन हेतुना भवन्तः पलायन्त इत्यर्थः॥21॥

शूरकातरयोर्दोषाञ्श्लोकद्वयेनाह॥

निशितासिरतोऽभीको न्येजतेऽमरणा रुचा।
सारतो न विरोधी नः स्वाभासो भरवानुत॥15.22॥

तनुवारभसो भास्वानधीरोऽविनतोरसा।
चारुणा रमते जन्ये कोऽभीतो रसिताशिनि॥15.23॥

हे अमरणा अमराः अभीको निर्भयः शूरः पुरुषो जन्ये युद्धे रुचा तेजसा करणभूतेन न्येजते निष्कम्पो भवति। कीदृशः निशिते तीक्ष्णे असौ खड्गे रतः। तथा सारतो बलेन न न विरोधी अपि तु विरोधी एव। तथा स्वाभासः सुष्ठ्वभासते स्वाभासः। तथा भरवानुत भारो धूर्यस्य तथाविधश्च। का तस्य दोषानाह। कोऽभीतो जन्ये युद्धे रमते। कीदृशस्तनुवारेण वर्मणा बभस्ते इति तनुवारभसः। सकवचोऽपीत्यर्थः। अभास्वान्निस्तेजाः तथाऽधिरो धैर्यरहितः। कीदृशोऽपि अविनतो रसोन्नतेन वक्षसोपलक्षितोऽपि। महाकायेऽपि भीतः सन्। युद्धे न शोभते इत्यर्थः। जन्ये कीदृशे रसिताशिनि रसितेन सिंहनादेनाश्नाति निगिलति तथाविधे। अतो भयं त्यक्त्वा धैर्यं गृहीत्वा युध्यध्वमिति तात्पर्यम्॥22, 23॥ **प्रतिलोमानुलोमेन श्लोकद्वयम्॥**

आसुरे लोकवित्रासविधायिनि महाहवे।
युष्माभिरुन्नतिं नीतं निरस्तमिह पौरुषम्॥15.24॥

असुरसम्बन्धिनि महायुद्धे भवद्भिरुन्नतत्वं नीतमपि पौरुषमस्मिन्युद्धे निरस्तं नाशितम्। निर्भिन्नपातितेत्यादिना श्लोकपञ्चकेन दैत्याहवं विशिनष्टि॥24॥

---

10. मानिता

[11]निर्भिन्नपातिताश्वीयनिरुद्धरथवर्त्मनि।
हतद्विपनगष्ठ्यूतरुधिराम्बुनदाकुले॥15.25॥

निर्भिन्नं तदनुपातितं यदश्वीयमश्वसमूहस्तेन निरुद्धं रथवर्त्म यत्र। तथा ये द्विपनगा हस्तिपर्वतास्तेभ्यः ष्ठ्यूतैर्निर्गतै रुधिराम्बुनदैराकुले दुस्तरे॥25॥

देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा।
काकारेभभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि॥15.26॥

तथा देवान्विजिगीषूनाकानति जयप्राप्त्याभासयति। तथा कावादे ईषद्वादो वाग्युद्धं यत्र। तथा वाहिकास्वस्वकाहि वाहिकया वाहनेन करणभूतेन सुष्ठु अस्वकान् परानाजिहीते गच्छतीति वाहिकास्वस्वकाहि। 'वा' शब्दश्चार्थे। तथा काकारेभभरे। कं, मदजलमाकिरन्तीति काकारा इभभरा गजगणा यत्र। तथा निस्वभव्यव्यभस्वनि निस्वा निस्तेजसो भव्याः सतेजसस्तान्सर्वान्व्ययन्ति संवृण्वन्ति ये ते निस्वभव्यव्याः निस्तेजसां सतेजसां च रक्षकास्तान् बभस्ति पराजयते तथाविधे। अकाका इत्यामन्त्रणं काका इवेति काका न काका। अकाका अनिन्द्या इत्यर्थः॥26॥ **सर्वतोभद्रः॥**

प्रनृत्तशववित्रस्त[12]तुरङ्गाक्षिप्तसारथौ।
मारुतापूर्णतूणीरविक्रुष्टहतसादिनि॥15.27॥

प्रनृत्ता नर्तितुं प्रवृत्ता ये शिवाः कबन्धास्तेभ्यो वित्रस्ता ये तुरङ्गास्तैराक्षिप्ताः क्षोभिताः सारथयो यत्र। तथा मारुतेन पूर्णाः पूरिता ये निषङ्गाः शून्यतूणीरास्तैः शब्दायमानत्वाद्विक्रुष्ट्य इव शोचिता इव हता व्यपादिताः सादिनोऽश्ववारा यत्र॥27॥

ससत्त्वरतिदे नित्यं सदरामर्षनाशिनि।
त्वराधिककसन्नादे रमकत्वमकर्षति॥15.28॥

ससत्त्वरतिदे सह सत्त्वेन पौरुषेण वर्तन्ते ये ते ससत्त्वाः ससत्त्वानां धीराणां रतिं सक्तिं ददाति। तथा सह दरेण भयेन वर्तन्ते सदराः सदराणां कातराणाममर्षं रोषं नाशयति। तथा त्वरयाऽधिकः कसन् सिंहनादो यत्र। तथा रमकत्वमकर्षति रणरसनाशिनि तथाविध आहवे॥28॥ **अर्धभ्रमः॥**

इति शासति सेनान्यां गच्छतस्ताननेकधा।
निषिध्य हसता किंचि[13]त्तत्र तस्थेऽन्धकारिणा॥15.29॥

---

11. विभिन्न
12. तुरग
13. तस्थे तत्र

सेनान्यां कुमारे इत्येवं शासत्युपदिशत्यप्यनेकधा गच्छतो बहुभिर्मार्गैः पलायमानाँस्तान् गणान्निषिध्य व्यावर्त्य किंचिद्धसतान्धकारिणा तत्र तस्थे स्थितम् ॥29॥ निरौष्ठयः॥

मुनीषुदहनातप्ताँल्लज्जया निविवृत्सतः।
शिवः प्रह्लादयामास तान्निषेधहिमाम्बुना॥15.30॥

मुनीषव एव दहनस्तेनातप्तान्सन्तापितानपि स्वयमेव लज्जया निविवृत्सतो व्यावृत्तिकामाँस्ताञ्शिवो निषेधहिमाम्बुना शीतजलेन आह्लादयामासातोषयत्। तापवाँश्च हिमजलेनाह्लादं प्राप्नोति ॥30॥

दूनास्तेऽरिबलादूना निरेभा बहु मेनिरे।
भीताः शितशराभीताः शङ्करं तत्र शङ्करम्॥15.31॥

ते शङ्करं हरमेव बहु मेनिरे। बहुमाने निमित्तमाह दूना उपतप्ताः। तथाऽरिबलादूनाः शत्रुबलापेक्षया ऊनाः। तथा निरेभाः निःशब्दाः। यतो भीताः। कुत इत्याह शितशराभीताः शितशरानऽभीताः प्राप्ताः। यद्वा शितशरेण तीक्ष्णेषुणार्जुनेनाऽभीता अभिमुखं प्रतिपन्नाः। शमभयप्रदानेन सुखं करोति तम् ॥31॥ **(पादाद्यन्तयमकम्)**

महेषुजलधौ शत्रोर्वर्तमाना दुरुत्तरे।
प्राप्य पारमिवेशानमाशश्वास पताकिनी॥15.32॥

दुस्तरे शत्रुसम्बन्धिनि शरसमुद्रे तिष्ठन्ती सेना पारमिव हरं प्राप्य शश्वासाभयं प्रापत् ॥32॥

स बभार रणापेतां चमूं पश्चादवस्थिताम्।
पुरःसूर्यादपावृत्तां छायामिव महातरुः॥15.33॥

युद्धान्निवृत्तां पश्चात्कृतस्थितं सेनां पुरोऽग्रे वर्तमानः स बभार। यथा सूर्यादपावृत्तामत एव पश्चादवस्थितां छायां महातरुर्बिभर्ति ॥33॥

मुञ्चतीशे शराञ्जिष्णौ पिनाकस्वनपूरितः।
दध्वान ध्वनयन्नाशाः स्फुटन्निव धराधरः॥15.34॥

जिष्णौ अर्जुने विषये इशे हरे शरान्मुञ्चति सति पिनाकशब्दपूरितः स गिरिर्दिशो ध्वनयन्नत एव स्फुटन्निव दध्वान शब्दं चक्रे ॥34॥

तद्रणा ददृशु[14] र्भीताश्चित्रसंस्था इवाचलाः।
विस्मयेन तयोर्युद्धं चित्रसंस्था इवाचलाः॥15.35॥

---

14. भीमम्

गणास्तत्तयोर्युद्धं ददृशुः। कीदृशा विस्मयेनाचलाः चपलत्वरहिताः। अत एव चित्रसंस्था इवालेख्य लिखिता इव। तथा चित्रा नाना प्रकारा संस्था येषां तथाविधा अचला इव पर्वतसदृशाः। आश्चर्यवतां चपलत्वाभावात् ॥34॥ **द्विचतुर्यमकम्॥**

परिमोहयमाणेन शिक्षालाघवलीलया।
जैष्णवी विशिखश्रेणी परिजह्रे पिनाकिना॥15.36॥

शिक्षयाऽभ्यासेन यल्लाघवं चातुर्यं तत्र लीलासौष्ठवं तया परिमोहयमाणेन मोहयता पिनाकिना जैष्णवी विशिष्टश्रेणी अर्जुनसम्बन्धिनी शरपङ्क्तिः परिजहे तिरस्कृता ॥36॥

अवद्यन्पत्रिणः शम्भोः सायकैरवसायकैः।
पाण्डवः परिचक्राम शिक्षया रणशिक्षया॥15.37॥

अवसायकैरन्तकारिभिः सायकै शरैः करणभूतैः शम्भोः पत्रिणः शरान् खण्डयन्पाण्डवः परिक्रममकरोत् कया शिक्षया शक्तुमिच्छ्या। तथा रणशिक्षया युद्धकौशलेन ॥37॥ **आद्यन्तयमकम्॥**

चारचुश्चुश्चिरारेची चञ्चच्चीररुचा रुचः।
चचार रुचिरश्चारु चारैराचाररञ्चुरः॥15.38॥

स पार्थश्चारैर्गोमूत्रिकादिभिर्मण्डलैश्चचार ववल्ग। कथं चारु शोभनम्। चार्विति चरणक्रियाविशेषणम्। कीदृशश्चारैः प्रणिधिभिश्चञ्चुः प्रख्यातः। तथा चिरारेचीं रणभूमिं शून्यीकरोति यः सः चिररेची। तथा चञ्चच्चीररुचा रुचः चञ्चतो वल्गतः। चीरस्य रुचा दीप्त्या करणभूतया रुचः शोभमानः। तथा रुचिरो दर्शनीयः। तथाऽऽचारचञ्चुरः आचारेण रणव्यवहारेण चञ्चुरः अत्यर्थं व्यवहर्ता। चरेर्यङ् चरफलो रुश्चेति चात्परस्यात इत्युत्वे यणो चिचेति टाङ्लुकिचञ्चुर इति रूपम। चरित्र व्यवहारार्थो न गत्यर्थः ॥38॥ **द्वयक्षरः॥**

स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकं धुनानः स बृहद्धनुः।
धृतोल्कानलयोगेन तुल्यमंशुमता बभौ॥15.39॥

स्फुरन्ती पिशङ्गी मौर्वी यस्य तथा बृहच्च धनुर्धुनानः परामृशन् स पार्थः सूर्येण सदृशं बभासे। सूर्येण कीदृशेन धतोल्काग्निसंयोगेन। धनुष अग्निः उल्का मौर्व्या पार्थस्यार्क उपमानम्। तुल्यमिति। क्रियाविशेषणम् ॥39॥

पार्थबाणाः पशुपतेरावव्रुर्विशिखावलिम्।
पयोमुच इवारन्ध्राः सावित्रीमंशुसंहतिम्॥15.40॥

अरन्ध्रा निरन्तराः पार्थबाणाः पशुपतेः शरश्रोणिं रुरुधुः। यथा मेघाः सावित्रीं सूर्यसम्बन्धिनीं शरपङ्क्तिमावृण्वन्ति रुन्धन्ति ॥40॥

शरवृष्टिं विधूयोर्वीमुदस्तां सव्यसाचिना।
रुरोध मार्गणैर्मार्गं तपनस्य त्रिलोचनः ॥15.41॥

त्रिलोचनस्तपनस्य मार्गं मार्गणैरुरोध। सव्यसाचिना पार्थेनोदस्तां कीर्णां शरपङ्क्तिं विधूय तिरस्कृत्यार्जनशरान्निवार्य हरः स्वशरैराच्छादयत् ॥41॥

तेन व्यातेनिरे भीमा [15]भीमार्जुनफलाननाः।
न नानुकम्प्य विशिखाः शिखाधरजवाससः ॥15.42॥

तेन हरेण विशिखाः शराः न नानुकम्प्यापि तु सानुकम्पमेव व्यातेनिरे कीर्णाः। भीमा भयावहाः। तथा भीमार्जुनभीतिनिवारणं फलं येषां तान्याननानि शल्यानि येषां ते। तथा शिखाधरा मयूरास्तेषु जायन्ते मयूरपक्षास्ते वासांसि पक्षा येषां तथाविधाः॥42॥ शृङ्खला॥

द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः।
हैमीषुमाला शुशुभे विद्युतामिव संहतिः ॥15.43॥

द्युवियती नाकाकाशौ गच्छति। तथा तारशब्दहतश्रवणा काञ्चनी शरमाला शुशुभे। यथा विद्युतां पक्तिः शोभते। सा चनाकाकाशौ गच्छति सगर्जिता च। द्यौरन्तरिक्षम् ॥43॥

विलङ्घ्य पत्रिणं [16]पङ्क्तिर्भिन्नः शिवशिलीमुखैः।
ज्यायो वीर्यमुपाश्रित्य न चकम्पे कपिध्वजः ॥15.44॥

शरपङ्क्तिर्विदार्य हरशरैर्विद्धोऽप्यर्जुनो महद्धैर्यं गृहीत्वा नाऽकम्पत्। प्रधानमत्वावष्टम्भवशान्न चचालेत्यर्थः॥44॥

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्तः सुधासितः।
दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवाबभौ ॥15.45॥

ईशस्य शिवस्य रणे सङ्ग्रामे युक्तोऽभिनिवेष्टो ना नरः पर्थो जगति आबभौ हरेरिन्द्रस्य कान्तः प्रियः। सुष्ठु दधातीति सुधः तादृशोऽवसितो निश्चितः। दानं वर्षतीति बहुधनप्रद इत्यर्थः। कृताभीष्टार्थविषया आशंसा येन कृताशंसः। अगराजो हिमवान् स इव। सोऽपि जगत्याः पृथिव्याः शरणं धारणं तत्र युक्तः सक्तः। हरीणां वानराणां कान्तोऽभिमत आश्रयत्वात्। सुधया सोक्कलेन सितः शुक्लः दानवैः दैत्यैः ऋषिकृता

---

15. भीमार्जन
16. पङ्क्तिम्

आशंसा चित्तवृत्तिर्यस्मिन्। तपस्यद्भिर्दैत्यै ऋषिवद्यत्राशंसा कृतेत्यर्थः। अनृषिः ऋषिकृता ऋषिरिव कृताशंसा यत्रेत्यर्थः। **इत्येकोऽर्थः॥** तथा पार्थोऽन्यश्च कीदृशो बभौ जगती भुवं श्यन्ति बाधन्त इति जगतीशा असुराः तेषां रणे युक्तः योग्यः। हरेः कृष्णस्य नारायणस्य कान्तः सखा सुधा वसुधा तत्र सितो बद्धः तद्रक्षकः। दानवर्षी पूर्ववत्। कृतमशम कल्याणं यैस्तान्स्यति हन्ति। क इव नागराज इव, ऐरावण इव। सोऽपि जगतीशानां दैत्यानां रणे युद्धे युक्तः। जगतीशार्थः पूर्ववत्। हरेरिन्द्रस्य कान्तः सुधेव सितो धवलः दानं मदं वर्षतीति। कृताशंसः पूर्ववत्। कृतमशुभं यैस्तान्स्यतीति **द्वितीयोऽर्थः॥** तथा पार्थोऽन्यश्च कीदृशो बभौ। जगत्या भूमेः शरणं त्राणं तत्र युक्तः सन्नद्धः। हरयः सिंहस्तद्वत्कान्तो विक्रमादिना। दैत्या ऋषिवज्जगदुपद्रवार्थं तपस्यन्तस्येषामीर्गमनं जयार्थं यात्रा तत्र कृतेच्छः। नागराजो भगवाञ्शेष इव। सोऽपि जगती शरणे भूधारणे युक्तो निषण्णः। हरेर्विष्णोः प्रियः शय्यारूपत्वात्। सुधा पीयूषं तत्र सितः सक्तः नागानां तदभिलाषात्। दानवाश्च ऋषयश्च ईर्लक्ष्मीश्च एतैः सर्वैरासमन्तात् कृता आशंसा स्तुतिर्यस्य स दानवर्षी कृताशंसः, महीधारणादिना हेतुना। **इति तृतीयोऽर्थः॥45॥ अर्थत्रयवाची॥**

विफलीकृतयत्नस्य क्षतबाणस्य शम्भुना।
गाण्डीव[17]धनुषः खेभ्यो [18]निश्चचार हुताशनः॥15.46॥

शम्भुना क्षता निरवशेषीकृता बाणा यस्याऽत एव विफलीकृतयत्नस्य सतो गाण्डीवधनुषोऽर्जुनस्य खेभ्यो नेत्रादीन्द्रियेभ्यः सकाशादग्निर्निष्क्रान्त॥46॥

स पिशङ्गजटावलिः किरन्नुरु तेजः परमेण मन्युना।
ज्वलितौषधिजातवेदसा हिमशैलेन समं विदिद्युते॥15.47॥

लोहितजटापङ्क्तिस्तथा रोषेण तीव्रं तेजः क्षिपन् स पार्थो हिमाचलेन तुल्यं विदिद्युते। ज्वलित औषधि जातवेदा यस्य तेन एवंविधेन हिमवता तुल्यबलम्॥47॥

शतशो विशिखानवद्यते भृशमस्मै रणेवेगशालिने।
प्रथयन्ननिवार्यवीर्यतां प्रतिजघायेषुमघातुकं [19]हरः॥15.48॥

हन्ति तच्छीलोऽघातुकः न घातुकोऽघातुकः बाधनावहं शरं हरोऽक्षिपत्। अबाधकशरक्षेपणे हेतुमाह अनिवार्यवीर्यतां प्रथयन्। वीर्यमनिवार्यं प्रथयितुमित्यार्थः। कस्मै अस्मै। कीदृशाय शतशो विशिखाञ् शतसङ्ख्याञ्शरानवद्यते खण्डयते। अत्र हेतुर्भृशं रणवेगशोभिने॥48॥

---

17. धन्वनः
18. निश्चक्राम
19. शिवः

शम्भोर्धनुर्मण्डलतः प्रवृत्तं तं मण्डलादंशुमिवांशुभर्तुः।
निवारयिष्यन्विदधे सिताश्वः शिलीमुखच्छायवृतां धरित्रीम्॥15.49॥

अंशुमतो मण्डलादर्कबिम्बाद्रश्मिमिव शिवस्य चापमण्डलार्न्निर्गतं तं शरं निवारयितुमर्जुनः शिलीमुखानां सम्बन्धिन्या च्छायया च्छन्नां गामकरोत्। शरजालच्छायया भूमिमावरिष्टेत्यर्थः। बहूनां शिलीमुखानां छाया शिलीमुखच्छायम्। छायाबाहुल्य इति नपुंसकत्वम् ॥49॥

घनं विदार्यार्जुनबणपूगं ससारवाणोऽयुगलोचनस्य।
घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससार बाणोऽयुगलोचनस्य॥15.50॥

अयुगलोचनस्य त्रिलोचनस्य सम्बन्धी वाणः ससार जगाम। पार्थशरेषु बहुष्वग्रस्थेष्वपि कथं जगामेत्याह घनं संहतमर्जुनशरभरं विदार्य। अन्यश्च किं कृत्वा अर्जुनावृक्षविशेषा। बाणाश्च वृक्षविशेषास्तेषां पूगं खण्डं विदार्य। यद्वा विदार्याविदारी संज्ञया लतया घनं संहतम्। वाणः कीदृशः ससारवाणः वणनं वाणः शब्दः ससार उत्कृष्टो वाणः शब्दो यस्य स ससारवाणः। यद्वा सारशब्दाभ्यां सहितः। तथाऽयुक् एकाकी। अयुगलोचनस्य कीदृशस्य अलोचनस्य न लोचनः ज्ञातुमशक्यस्य॥50॥ **समुद्गकबन्धः॥**

रुज[20]न्हरेषु[21]न्मुहुराशुपातिनो मुहुः शरौघैरपवारयन्दिशः।
चलाचलोऽनेक इव क्रियावशान्महर्षिसङ्घैर्बुबुधे धनञ्जयः॥15.51॥

युद्धं द्रष्टुमागतैर्महर्षिसङ्घैर्धनञ्जयोऽर्जुन एकोऽप्यनेक इव बुबुधे। अनेकत्वानुबोधे हेतुमाह क्रिया वशादनेककार्यसामर्थ्याश्चलाचलश्चातुर्येण चरन्। तामेवानेकक्रियां दर्शयति मुहुः शरौघैः हरशरन्खण्डयन्, दिश आच्छादयन्॥51॥

[22]विकासमीयुर्जगतीशमार्गणा [23]विकासमीयुर्जगतीशमार्गणाः।
[24]विकासमीयुर्जगतीशमार्गणा [25]विकासमीयुर्जगतीशमार्गणाः॥15.52॥

जगत्या ईशः पृथ्वीपतिरर्जुनस्तस्य मार्गणाः शरा विकासमीयुः,विस्तारं प्रापुः। सर्वतः प्रससृरित्यर्थः। त एवेशमार्गणाः शिवान्वेषिणः सन्तो विकासं वीनां पक्षिणां कासो

---

20. महेषून्
21. बहुधा
22. विकाश
23. विकाश
24. विकाश
25. विकाश

गमनं यत्र तमाकाशमीयुर्जग्मुः। जगतीं पृथ्वीं श्यन्ति बाधन्ते जगतीशा असुराः। जगतीशान्। मारयन्तीतिजगतीशमारस्तथाविधाश्च ते गणा विकासं कस्य मुखस्याभावो विकं दुःखं तस्यासुः विपतनं तमीयुः। यद्वा ते गणा विकासमीयुः प्रहर्षाद्विविधं गमनं प्रापुः। तथा जगतीं पृथ्वीं शमयन्ति निरुपद्रवां कुर्वन्ति इति जगतीशमाः। ऋचां गणाः ऋग्गणाः ऋग्गणमणीयन्त आर्गणाः ऋग्गणाख्यायिनः ते विकासमीयुः हृदयस्य प्रसादमापुः प्रापुरित्यर्थः। 'अचो रहाभ्यां द्व' (8/4/46 पा.)। इति गकारस्य द्वित्वम्॥52॥ **महायमकम्॥**

संपश्यतामिति शिवेन वितायमानं
लक्ष्मीवतः क्षितिपतेस्तनयस्य वीर्यम्।
अङ्गान्यभिन्नमपि तत्त्वविदां मुनीनां
रोमाञ्चमञ्चिततरं बिभारांबभूवुः॥15.53॥

पार्थस्य वीर्यं पौरुषं स्वतः सिद्धमपि भगवता पक्षपाताद्वितायमानं विस्तार्यमाणं दिदृक्षा। गतानां मुनीनां सम्यक्पश्यतां तत्त्वज्ञानांमपि शिव पक्षपातं पश्यताम्। यदि वा दृष्ट तत्त्वतया वावर्जनीयानामृषीणामङ्गानि अवयवा अञ्चिततरं पूजिततरं रोमञ्चं पुलकं बिभरांबभूवुः दधुः। संपश्यतामिति दृशेः संपूर्वस्येह सकर्मकत्वादात्मने-पदाभावादानशोभावः॥53॥

इति श्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां पञ्चदशः सर्गः॥

॥षोडशः सर्गः॥

ततः किराताधिपतेरलध्वीमाजिक्रियां वीक्ष्य विवृद्धमन्युः।
स तर्कयामास विविक्ततर्कश्चिरं विचिन्वन्निति कारणानि॥16.1॥

किराताधिपतेराजिक्रियां सङ्ग्रामे विजयं महान्तं दृष्ट्वाऽधिकीभूतरोषः स कारणानि विचिन्वञ्शवरराजेन प्राप्ते जये हेतून् विमृशँस्तर्कयामास ऊहानकरोत्। विविक्ततर्को विमर्शकुशलः॥1॥

मदस्तुतिश्यामितगण्डलेखाः क्रामन्ति विक्रान्तनराधिरूढाः।
सहिष्णवो नेह युधामभिज्ञा नागा नगोच्छ्रायमिवाक्षिपन्तः॥16.2॥

इह नागा न क्रामन्ति। अत्र हस्तिनो न युध्यन्ते। कथं मम शक्तिरवस्यतीत्युत्तरग्रन्थेन सहान्वयः। मदस्तुतिश्यामिता गण्डलेखा येषां ते। तथा विक्रान्तैर्विक्रमवद्भिर्नरैरधिरूढाः तया सहिष्णवः सबलाः युधामभिज्ञाः सङ्ग्रामज्ञाः। अत एव नगानां शैलानामुच्छ्रायमौन्यत्वमिवाक्षिपन्तः॥2॥

विचित्रया चित्रयतेव भिन्नां रुचं रवेः केतनरत्नभासा।
महारथौघेन न सन्निरुद्धा पयोदमन्द्रध्वनिना धरित्री॥16.3॥

महारथानामोघेन धरित्री न सन्निरुद्धा भूमिर्नाच्छादिता। पर्यादवन् मन्द्रो ध्वनिर्यस्य तेन। तथा विचित्रया केतनेषु रत्नानां भासा रवेः रुचं दीप्तं चित्रयतेव विचित्रवर्णामिव कुर्वता। मेघाश्चेन्द्रचापेन चित्रा भवन्ति॥3॥

समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमाल[1]मभिस्फुरच्चामरफेनपङ्क्ति।
विभिन्नमर्याद[2]मवातनोति नाश्वीयमाशा जलधेरिवाम्भः॥16.4॥

अश्वानां समूहेन श्वीयं कर्तृ आशा नातनोति नाच्छादयति। प्रासा आयुधविशेषा एव महोर्मिमाला समुल्लसन्ती यस्य तत्। तथा चामराण्येव फेनास्तेषां पङ्क्तिरभिस्फुरन्ती

---

1. परिस्फुरत्
2. इहातनोति

यत्र तत्। तथा विभिन्नमर्यादं निरवधिकम्। तथा जलधरेऽम्भो दिशश्छादयति। तत्पक्षे मर्यादा वेला। उत्प्रेक्षा वेयम्॥4॥

हताहतेत्युद्धतभीमघोषैः समुज्झिता योद्धृभिरभ्यमित्रम्।
न हेतयः प्राप्ततडित्तिषिः खे विवस्वदंशुज्वलिताः पतन्ति॥16.05॥

हतेय आयुधानि खे न पतन्ति आकाशे न गच्छन्ति। अस्माभिः शत्रवो हता यूयं च शत्रून् हतेत्येवं रूपो भीमो दुःसहो घोषः शब्दो येषां तैर्योद्धृभिर्योधैः प्रत्यमित्रं शत्रुमुखमभ्युज्झिताः। तथा विवस्वतोऽशुभिर्ज्वलिताः। अत एव प्राप्ततडितस्त्विडभ्यभिस्ताः विद्युद्भ्रमाधायिन्य इत्यर्थः॥5॥

अभ्यायतः संततधूमधूम्रं व्यापि प्रभाजालमिवान्तकस्य।
रजः प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्नं तनोति न व्योमनि मातरिश्वा॥16.6॥

प्रतूर्णं द्रुतगामि यदश्वरथाङ्गं वाजिरथचक्रास्तैर्नुन्नं रजः कर्मभूतं मातरिश्वा वायुर्व्योमनि न तनोति विस्तारयति। सन्ततं सान्द्रं यद्धूमं तद्वद्धूम्रं धूसरं च। अत्र उत्प्रेक्ष्यते अभ्यायतः सम्मुखमागच्छतोऽयमस्य प्रभाजालमिव॥6॥

भूरेणुना रासभधूसरेण तिरोहिते वर्त्मनि लोचनानाम्।
नास्त्यत्र तेजस्विभिरुत्सुकानामह्नि प्रदोषः सुरसुन्दरीणाम्॥16.7॥

अत्र युद्धेऽप्सरसां दिनेऽपि प्रदोषो नास्ति। दिनस्य प्रदोषाभावे हेतुमाह तेजस्विभिरुत्सुकानां प्रसितोत्सुकानां तृतीया च' इति तृतीया। वीरेषूत्कण्ठयान्यत्राप्सरसो दिवेव लीलामारभन्ते। इह तु तन्नास्तीति भावः। अह्नः मायत्वे उपपत्तिमप्याह। रासभः खरस्तद्वद्धूसरेण भुवो रेणुना लोचनानां वर्त्मनि तिरोहिते छादिते सति भूग्रहणं रजसोऽतिशयप्रतिपादनार्थम्। पर्वतादौ हि कठिनत्वान्न तथा रजसः स्फुरणम्॥7॥

रथाङ्गसंक्रिडितमश्वहेषा बृंहन्ति मत्तद्विपबृंहितानि।
सङ्घर्षयोगादिव मूर्च्छितानि ह्लादं निगृह्णन्ति न दुन्दुभीनाम्॥16.8॥

चक्राणां वाजिनां मत्तहस्तिनां च नादाभीरीणां शब्दं नात्राच्छादयन्ति। सङ्घर्षः स्पर्धा उद्योगादिव मूर्च्छितानीत्युत्प्रेक्षा। यद्वा सङ्घर्षयोगादिव न गृह्णन्तीति योज्यम्। स्पर्धाकरं हि संहरती भूय घ्नन्त्रि॥ 8॥

अस्मिन्यशः पौरुष[3]लोलुभानामरातिभिः प्रत्युरसं क्षतानाम्।
मूर्च्छान्तरायं मुहुराच्छिनत्ति नासारशीतं करिशीकराम्भः॥16.9॥

---

3. लोलुपानम्

आसारोधारा संपातस्तद्वच्छीतं करिशीकराम्भः कर्तृमूर्च्छ्याऽन्तरायो मूर्च्छा एवान्तरायो युद्धस्य विघ्नः तं नेहोच्छिनत्ति निवारयति। कीदृशानामरातिभिः शत्रुभिः प्रत्युरसं वक्षसि क्षतानाम्। प्रत्युरसमित्यव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्य इति टच्॥9॥

असृङ्नदीनामुपचीयमानै[4]र्विष्टम्भयद्भिः पदवीं ध्वजिन्याः।
उच्छ्रायमायान्ति न शोणितौघैः पङ्कैरिवाश्यानघनैस्तटानि॥16.10॥

असृग्रक्तं तन्नदीनां तटानि नेह युद्धे उच्छ्रायमौन्नत्यमायान्ति। उच्छ्रायप्राप्तौ हेतुमाह। कैराश्यानैः। अत एव घनैः शोणितौघैः उपचीयमानैर्वर्धमानैः। तथा सेनायां संचारं विघ्नयद्भिः। अतः संभाव्यते पङ्कैरिव। आस्त्यानेति पाठे युक्तः॥10॥

परिक्षते वक्षसि दन्तिदन्तै[5]र्जायाङ्कशीता नभसः पतन्ती।
नेह प्रमोहं प्रियसाहसानां मन्दारमाला विरलीकरोति॥16.11॥

दन्तिनां दन्तैर्विदलिते वक्षसि नभसः पतन्ती जायाङ्कवच्छीता मन्दारमाला साहसकारिणां मोहं मूर्च्छामिह न निवारयति॥11॥

निषादिसन्नाहमणिप्रभौघे परीयमाणे करिशीकरेण।
अर्कीत्विषोन्मीलितमभ्युदेति न खण्डमाखण्डलकार्मुकस्य॥16.12॥

करिणां शीकरेण करजलेन परिचीयमाने व्याप्यमाने निषादिसन्नाहमणिप्रभौघे हस्तिपककवचरत्नरश्मिसमूहे विषये सूर्यप्रभयोज्जृम्भितमिन्द्रचापस्य खण्डमत्र युद्धे न स्फुरति॥12॥

महीभृता पक्षवतेव भिन्ना विगाह्य मध्यं परवारणेन।
नावर्तमाना निनदन्ति भीममपां निधेराप इव ध्वजिन्यः॥16.13॥

आवर्तमानाभ्रमन्त्यो ध्वजिन्यः सेना नेह निनदन्ति न क्रन्दन्ति। भ्रमणक्रन्दयोर्हेतुमाह परवारणेन मध्यं विगाह्य क्षोभयित्वा भिन्ना मथिताः। अतः संभाव्यते पक्षवता महीभृता पर्वतेनेव। अपांनिधेराप इव समुद्रस्य जलानीव। उपमावेयम्॥13॥

महारथानां प्रतिदन्त्यनीकमधिस्यदस्यन्दनमुत्थितानाम्।
आमूललूनैरतिमन्युनेव मातङ्गहस्तैर्व्रियते न पन्थाः॥16.14॥

अधिकः स्यदो जवो येषामेवंविधाः स्यन्दना रथा यत्रैवं हस्तिकटकसंमुखमुत्थितानां

---

4. विदारयद्भिः
5. प्रीयाङ्क

महारथानां पन्थाः करिकरैर्न रुध्यते अतिमन्युनेवेति संभावनम्। आमूललूनैरित्यतिमन्यत्वे हेतुः ॥14॥

धृतोत्पलापीड इव प्रियायाः शिरोरुहाणां शिथिलः कलापः।
न बर्हभारः पतितस्य शङ्कोर्निषादिवक्षःस्थलमातनोति ॥16.15॥

पतितस्य शङ्कोः शरविशेषस्य बर्हाणां पक्षाणां भारो निषादिनां हस्तिपकानां वक्षःस्थलं नातनोति आच्छादयति। निषादिनां वीरत्वात्संभाव्यते। धृतोत्पलापीडः सोत्पलमालः शिथिलो दयितायाः केशपाश इव ॥15॥

उज्झत्सु संहार इवास्तसंख्यमह्नाय तेजस्विषु जीवितानि।
लोकत्रयास्वादनलोलजिह्वं न व्याददात्याननमत्र मृत्युः ॥16.16॥

संहारे कल्पान्ते इव युद्धेऽस्तसंख्यमतीतगणनं तेजस्विषु प्राणाँस्त्यजत्सु सत्सु अत्र युद्धे मृत्युः काल आस्यं न व्याददाति न विकासयति। लोकत्रयस्यास्वादने निगरणे लोला लम्पटा जिह्वा यस्य तत् ॥16॥

इयं च दुर्वारमहारथानामाक्षिप्य [6]कीर्तिं [7]महतीं बलानाम्।
शक्तिर्ममावस्यति हीनयुद्धे सौरीव [8]तारावलिधाम्नि दीप्तिः ॥16.17॥

दुर्वारा महारथा येषु तेषां बलानां कीर्तिमाक्षिप्य हत्वा मम शक्तिः सामर्थ्यमत्र हीनैः सह युद्धे वस्यति गलति उः पक्षान्तरे। शक्तेः सूर्यदीप्तिः हीनयुद्धस्य तारातेज उपमानम्। अधिकं अल्पत्वं च गुणः साम्यहेतुः प्रसिद्धतया नो पातुः। युक्त्या कल्पितोपमेयम् ॥17॥

माया स्विदेषा मतिविभ्रमः [9]स्विद्भवस्तं नु मे वीर्यमुताहमन्यः।
गाण्डीवमुक्ता हि [10]तथापुरेव पराकमन्ते न शराः किराते ॥16.18॥

एषा माया स्विद्भवति कोऽपि शवररूपमभिनीय युद्धं किं करोतीत्यर्थः। एष ममैव मतिविभ्रमः स्वित्। ममैव बुद्धिभ्रमः किं सम्पन्न इत्यर्थः। मम पौरुषं किं वा गलितम्। किं वाहमन्यः, सोऽर्जुनो न भवामीत्यर्थः। तथा हि मया गाण्डीवान्निजचापान्मुक्ताः शराः किरातेन पराक्रमन्ते यथा पुरा पूर्वं गाण्डीवमुक्ताः शराः पराक्रमन्ते ॥18॥

---

6. वीर्यम्
7. महातम्
8. ताराधिप
9. वा
10. यथा

पुंसः पदं मध्यममुत्तमस्य द्विधेव कुर्वन्धनुषः प्रणादैः।
नूनं तथा नैष यथास्य वेशः प्रच्छन्नमप्यूहते हि चेष्टा॥16.19॥

धनुषः प्रणादैरास्फालनशब्दैरुत्तमस्य पुंसो विष्णोर्मध्यमं पदमाकाशं द्विधेव कुर्वन्विदारयन्निवैष नूनं सम्भावनायां तथा न भवति यथास्य वेशः। किरातवेशधार्य यं नूनं किरातो न भवति। तत्र हेतुः धनुः क्रेङ्कारैः खविदारणम्। यस्माच्चेष्टा प्रच्छन्नमपि छन्नात्मानमप्यूहयते बोधयति॥19॥

धनुः प्रबन्धध्वनितं रुषेव सकृद्विकृ[11]ष्टावततेव मौर्वी।
सन्धानमुत्कर्षमिव व्युदस्य मुष्टेरसम्भेद इवापवर्गे॥16.20॥

असिंववष्टब्ध[12]नतौ समाधिः शिरोधराया रहितप्रयासः।
धृता विकाराँस्त्यजता मुखेन प्रसादलक्ष्मीः शशलाञ्छनस्य॥16.21॥

प्रहीयते कार्यवशागतेषु स्थानेषु [13]विस्त्रब्धतया न देहः।
स्थितप्रयातेषु ससौष्ठवश्च लक्ष्येषु पातः सदृशः शराणाम्॥16.22॥

परस्य भूयान्विवरेऽभियोगः प्रसह्य संरक्षणमात्मरन्ध्रे।
भीष्मेऽप्यसम्भाव्यमिदं गुरौ वा न संभवत्येव वनेचरेषु॥16.23॥

इदमीदृशं कौशलं भीष्मे गुरौ द्रोणाचार्येऽपि वा न सम्भावनीयम्। वनेचरेषु न संभवत्येव। कीदृशं कौशलमित्याह रुषा क्रुधेव धनुरविचलस्तनितं भवति। तथा सकृदेकवारं विकृष्टा मौर्वी ज्या अवतता असंह्यतेव भवति। तथोत्कर्षमाकर्षणं व्युदस्य त्यक्त्वेव शराणां धनुषि सन्धानं भवति। तथापवर्गे शरमोक्षावसरे मुष्टेरसंभेदो विश्लेष इव भवति॥ तथाऽसाववष्टब्धौ भराक्रान्ताविव नतौ। तथा निष्प्रयासः कन्धरायाः समाधिः स्तब्धता। तथा मुखेन चन्द्रश्रीरिव धृता। कीदृशेन मुखेन प्रायेणैव हि धानुष्काः प्रहरणसमये यान् मुखाद्यङ्गविकारान् कुर्वते तान् विकाराँस्त्यजता। मुखेन शशलाञ्छनस्य चन्द्रस्य प्रसादं लक्ष्मीर्धृता निर्विकारं मुखं शशिबिम्बमिव प्रसन्नमित्यर्थः॥ तथा कार्यवशेनागतेषु स्थानेषु प्रत्यालीढादिकेष्वस्य देहो विस्त्रब्धतया स्वभावेन न प्रहीयते। प्रकृतिस्थ एवास्त इत्यर्थः। तथा स्थितेषु स्थिरेषु वृक्षाग्रादिषु प्रयातेषु मृगादिषु ईदृशेषु लक्ष्येषु शरव्येषु शराणां पातः सदृशः सौष्ठवसहितः। स्थिरवच्चलमपि लक्ष्यमस्य शरः पातयन्तीत्यर्थः।

---

11. विततेव
12. नता
13. विष्टब्धतया

तथा परस्य शत्रोर्विवरे च्छिद्रे सति भूयानभियोगः महान्सद्यः करितागुणः। आत्मरन्ध्रे सति विषयभूते वासं रक्षणं संवरणम्। अतो नायं वनेचरः। यथास्य वेशस्तथा नूनं नैष इति तात्पर्यम् ॥23॥ **चक्कलम्॥**

अप्राकृतस्याहवदुर्मदस्य निवार्यमस्यास्त्रबलेन वीर्यम्।
अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्ते[14]र्महापकारा हि रिपोर्विवृद्धिः॥16.24॥

अप्राकृतस्य निःसामान्यस्य तथा युद्धशौण्डस्यास्यास्त्रबलेन करणभूतेन मया वीर्य निवार्यम्। हिर्यस्मादर्थे अत्यल्पस्यापि श्रोत्रवृद्धिरपकारिणी भवति। यतो रोगसमस्थितिः। रोगस्याल्पस्यापि वृद्धिरपकरोति ॥24॥

स संप्रधार्यैवमहार्यसारः सारं विनेष्यन् [15]सबलस्य शत्रोः।
प्रस्वापनास्त्रं द्रुतमाजहार ध्वान्तं घनानद्ध इवार्धरात्रः॥16.25॥

स पार्थः प्रस्वापनास्त्र प्रस्वाप्यते येन तदस्त्रमाजहार आविश्चकार। किं करिष्यन् प्रबलस्य शत्रोः सारं विनेष्यन्। शत्रुबलं जेतुकामः। एवं सम्प्रधार्य विनिश्चित्य। स कीदृक्, अहार्यमनिवार्यं सारं वीर्यं यस्य सः। यथा घनैर्मेघैरानद्धो वृतोऽर्धरात्रो ध्वान्तमाहरति। तच्च प्रस्वापनम् ॥25॥

प्रसक्तदावानलधूमधूम्रा [16]सारुन्धती धाम सहस्ररश्मेः।
महावनानीव [17]निशातमिस्त्रा छाया ततानेशबलानि काली॥16.26॥

काली कृष्णा छाया ईशस्य बलानि सैन्यानि छादयामास। प्रसक्तो विच्छिन्नो यो दावाग्निधूमस्तद्वद्धूम्रा। तथार्कस्य तेज आवृण्वती। यथा तमिस्त्रा तमः प्रधाना निशा सा च धूम्रा सूर्यतेजो रुन्धाना महावनानि तनोति ॥26॥

आसादिता तत्प्रथमं प्रसह्य प्रगल्भतायाः पदवीं हरन्ती।
सभेव भीमा विदधे गणनां निद्रा निरासं प्रतिभागुणस्य॥16.27॥

।नद्राकर्त्री प्रतिभा गुणस्य निरासमकरोत्। प्रतिभापटुत्वं स एव गुणस्तन्निरासमकरोत्। तदेव प्रथमं प्राथम्यं यत्र तत्प्रथमम् तस्मिन्समय एव। प्रथमं गणानां निद्रा प्राप्ता देवानामस्वप्नत्वात्। तथा प्रागल्भ्यमार्गं बलाद्धरन्ती। यथा भीमा खलावृता सभा तत्पूर्वं प्राप्ता। प्रागल्भ्यं ग्लपयन्ती बुद्धि गुणस्य हानिं विधत्ते ॥27॥

---

14. महापकाराय
15. सगणस्य
16. निरुन्धती
17. महा

गुरुस्थिराण्युत्तमवंशजत्वाद्विज्ञातसाराण्यनुशीलनेन।
केचित्समाश्रित्य [18]गुणानतानि सुहृत्कुलानीव धनूंषि तस्थुः ॥16.28॥

धनूंषि समाश्रित्यालम्ब्य केचित्तस्थुः। कीदृशानि उत्तमात्सासाराद्वंशाज्जातत्वेन गुरूणि स्थिराणि च। तथानुशीलनेनाभ्यासेन विज्ञातः सारो येषां तानि। तथा गुणैर्मौर्वीभिरानतानि। यथा सुहृत्कुलानि। तानि च केचिद्विपद्यालम्ब्य तिष्ठन्ति। तत्पक्षे वंशः कुलं स्थिराणि स्थिरसौहार्दानि गुणैरानतानि विनीतानि ॥28॥

कृतान्तदुर्वृत्त इवापरेषां पुरः प्रतिद्वन्द्विनि पाण्डवास्त्रे।
अतर्कितं [19]पाणिगतानिपेतुः क्रियाफलानीव तदायुधानि ॥16.29॥

अपरेषाँछेषां चित्पाणिगतान्यायुधानि तदा पेतुः। कस्मिन्सति पाण्डवास्त्रे प्रस्वापनास्त्रे पुरः प्रतिद्वन्द्विनि परिपन्थिनी विरोधिनि सति, अतर्कितमविस्पष्टम्। यथा कृतान्तस्य क्रूरस्य प्रतिकूलस्य विधेः दुर्वृत्ते प्रतिकूलत्वे प्रतिद्विन्द्विनि विरुद्धेऽग्रवर्तिनि सति पाणिगतान्यपि हस्तप्राप्तानि क्रियाणां सेवादीनां फलान्यशङ्कितं नश्यन्ति। तथार्जुनास्त्रे विजृम्भमाणे निद्रायमाणानां हस्तेभ्यो हतेयः पतिताः। दुर्वृत्तं दुष्टा चेष्टा ॥29॥

अंसस्थलैः केचिदभिन्नधैर्याः स्कन्धेषु संश्लेषवतां तरूणाम्।
मदेन मीलन्नयनाः सलीलं नागा इव स्रस्तकरा निषेदुः ॥16.30॥

मदेनाभिन्ना धैर्याधैर्यादभ्रष्टा, अनुपविष्टा एवेत्यर्थः। केचिदंसस्थलैः संश्लेषवतां तरूणाँस्कन्धेषु केचिन्निषेदुः। मीलन्नयना मुकुलितनेत्राः स्रस्तकराः। के इव, नागा हस्तिन इव। ते चानुपविष्टा एव स्कन्दैर्निषीदन्ति ॥30॥

तिरोहितेन्दोरथ शम्भुमूर्ध्नः प्रणम्यमानं तपसां निवासैः।
सुमेरुश्रृङ्गादिव बिम्बमार्कं पिशङ्गमुच्चैरुदियाय तेजः ॥16.31॥

तपसां निवासैस्तपस्विभिः प्रणम्यमानं तेजः शम्भुमूर्ध्नो निरगात्, तिरोहितेन्दोरनाविष्कृतचन्द्रात्। यथा मेरुशिखरात्सूर्यमण्डलम् ॥31॥

छायां विनिर्धूय तमोमयीं तां तत्त्वस्य संवित्तिरिवापविद्याम्।
ययौ विकासं द्युतिरिन्दुमौलेरालोकमभ्यादिशती गणेभ्यः ॥16.32॥

तां तमोमयीं छायां विनिर्धूय निवार्य प्रकाशमभ्यादिशतीन्दुमौलेः सम्बन्धिनी द्युतिर्विकासं ययौ। यथा तत्त्वस्य परमार्थस्य संवित्तिर्ज्ञानमपविद्यामज्ञानं जित्वा विकासं

---

18. गुणान्वितानि
19. पाणितलान्निपेतुः

याति। निरतिशयं प्रकाशमुत्पादयन्ती प्रथयते। तथा तां पूर्वनिर्विष्टां छायां तिरस्कृत्य शशिशेखरस्य शीर्षण्यं ज्योतिः प्रससार। अपविद्या विपरीतख्यातिः तत्त्वस्य संवित् सम्यग्ज्ञानम्। प्रकृत्यादिमहाभूतान्तश्चतुर्विंशतिसङ्ख्यो गणस्तत्त्वम् ॥32॥

त्विषां ततिः पाटलिताम्बुवाहा सा सर्वतः पूर्व[20]तरीव सन्ध्या।
निनाय तेषां द्रुतमुल्लसन्ती विनिद्रतां लोचनपङ्कजानि ॥16.33॥

सर्वतः पाटलिता अम्बुवाहा यया सा तथा उल्लसन्ती त्विषां ततिः तेषां नेत्रपद्मानि द्रुतं विनिद्रतां निनाय। यथा पूर्वतरी पूर्वा सन्ध्या समुद्गाच्छन्ती पद्मानि वै निद्रयं नयति। पाटलिताः कपिशीकृता अम्बुवाहा यया सा रक्तीकृतमेघा ॥33॥

पृथग्विधान्यस्त्रविरामबुद्धाः शस्त्राणि भूयः प्रतिपेदिरे ते।
मुक्ता वितानेन बलाहकानां ज्योतींषि रम्या इव दिग्विभागाः ॥16.34॥

यथा मेघावरणेन मुक्ता दिक्प्रदेशा ज्योतींषि प्रतिपद्यन्ते तथास्त्रस्य प्रस्वापनास्त्रस्य विरामे निवृत्तौ बुद्धाः प्रबुद्धाः सन्तस्ते पृथग्विधानि नानाप्रकाराणि अस्त्राणि भूयस्ते प्रतिपेदिरे। लब्धप्रबोधास्ते पुनरस्त्राणि जगृहुरित्यर्थः ॥34॥

द्यौरुन्ननामेव दिशः प्रसेदुः स्फुटं विसस्रे सवितुर्मयूखैः।
क्षयं गतायामिव यामवत्यां पुनः समीयाय दिनं दिनश्रीः ॥16.35॥

यामवत्यां रात्राविवक्षीणायां द्यौरुन्ननामेव औन्नत्यमिव प्रापत् दिशः प्रासीदन्। पुनः सूर्यस्य रश्मिभिर्विसस्रे विसृतम्। दिनलक्ष्मीर्दिवसं प्रापत् ॥35॥

महास्त्रदुर्गे शिथिलप्रयत्नं दिग्वारणेनेव परेण रुग्णे।
भुजङ्गपाशान्भुजवीर्यशाली [21]निबन्धनाय प्रजिघाय जिष्णुः ॥16.36॥

परेण शत्रुणा शिथिलोऽल्पः प्रयत्नः प्रयासो यत्रैवं महास्त्रमेव दुर्गं कोट्टं तस्मिन्भग्ने सति जिष्णुः पार्थो बन्धनार्थं भुजङ्गपाशान्नागास्त्र प्रादुष्कृतवान्। हस्ती च कोट्टं सावलेपं भनक्ति ॥36॥

जिह्वाशतान्युल्लसय[22]न्त्यसक्तं लसत्तडिल्लोलविषानलानि।
त्रासान्निरस्ता भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्तत्पदवीं विवव्रे ॥16.37॥

भुजगेन्द्रसेना तत्पदवीं देवमार्गमाकाशं विवव्रे व्याप। लसन्ती या तडित्तद्वल्लोलो

---

20. सरीव
21. प्रबन्धनाय
22. अजस्रम्

विषानलो येषां तानि जिह्वाशतान्युल्लसयन्ती बहिर्निःसारयन्तीं नभश्चरैर्देवैस्त्रात् फणिदंशभयान्निरस्तां त्युक्तम् ॥37 ॥

दिङ्नागहस्ताकृतिमुद्वहद्भिर्भोगैः प्रशस्तासितरत्ननीलैः ।
रराज सर्पावलिरुल्लसन्ती तरङ्गमालेव नभोर्णवस्य ॥ 16.38 ॥

दिङ्नागानां हस्तवदाकृतिमुद्वहवद्भिः निर्मलेन्द्रनीलैः कायैः करणभूतैराकाश-समुद्रस्य वीचि पङ्क्तिरिव सर्पमाला बभासे ॥38 ॥

निःश्वासधूमैः स्थगितांशु[23]जालः फणावतामुत्फणमण्डलानाम् ।
गच्छन्निवास्तं वपुरभ्युवाह विलोचनानां सुखमुष्णरश्मिः ॥ 16.39 ॥

उच्चैः फणामण्डला येषां तेषां फणावतां सर्पाणां निःश्वासधूमैराच्छादितरश्मिचयः सूर्योऽस्तं गच्छन्निव नेत्राणां मुखं मुखदर्शनं मण्डलमूढवान् ॥39 ॥

प्रतप्तचामीकर[24]भास्वरेण दिशः प्रकाशेन पिशङ्गयन्त्यः ।
निश्चक्रमुः प्राणहरेक्षणानां ज्वाला महोल्का इव लोचनेभ्यः ॥ 16.40 ॥

प्राणहरं जीवननाशनमीक्षणं दृष्टिर्येषां दृष्टिविषाणां सर्पाणांमीक्षणेभ्यो ज्वाला निर्जग्मुः। प्रतप्तचामीकरवद्भास्वरेण प्रकाशेन दिशो दिगन्तान्पिशङ्गयन्त्यः कपिशी-कुर्वन्त्यः। अत उत्प्रेक्ष्यते महोल्का इव ॥40 ॥

आक्षिप्तसंपातमपेतशोभमुद्वह्नि धूमाकुलदिग्विभागम् ।
वृतं नभोभोगि[25]बलैरवस्थां परोपरुद्धस्य पुरस्य भेजे ॥ 16.41 ॥

आक्षिप्तो निवृतः संपातो नभश्चरसंचारो यत्र। तथा शोभाहीनं तथोद्गताग्नि। तथा धूमधूसरितदिगन्तम् यतो नागकटकच्छादितं नभः शत्रुवेष्टितस्य नगरस्यावस्थामाप ॥41 ॥

तमाशु चक्षुःश्रवसां समूह[26]मस्त्रेण ताक्ष्र्योदयकारणेन ।
नेता नयेनेव परोपजापं निवारयामास पतिः पशूनाम् ॥ 16.42 ॥

पशूनां पतिः हरस्तं चक्षुःश्रवसां सर्पाणां समूहमाशु। गरुडागमकारिण मन्त्रेण करणभूतेन निवारयामास। यथा नयेन करणभूतेन नेता नायकः परोपजापं मण्डलभेदं निवारयति ॥42 ॥

---

23. जालम्
24. भासुरेण
25. कुलैः
26. मन्त्रेण

प्रतिघ्नतीभिः कृतमीलितानि द्युलोकभाजामपि लोचनानि।
गरुन्मतां संहतिभिर्विहायः क्षणप्रकाशाभिरिवावतेने॥16.43॥

गरुन्मतां संहतिभिर्गरुडपङ्क्तिभिर्विहायो नभो वितेने व्याप्तम्। द्युलोकभाजां देवानामपि नेत्राणि प्रतिघ्नतीभिः कृतं मीलितं सङ्कोचो यैस्तानि। क्षणप्रकाशाभिर्विद्युद्भिरिवेत्युत्प्रेक्षा॥43॥

ततः सुपर्णव्रजपक्षजन्मा नानागतिर्मण्डलयञ्जवेन।
जरत्तृणानीव वियन्निनाय वनस्पतीनां गहनानि वायुः॥16.44॥

गरुडगणपक्षजानोर्वायुर्वृक्षवनानि जीर्णतृणानीवाकाशमनैषीत्। नानाविधा गतिर्यस्य तथा मण्डलयन् आवर्त्तयन्॥44॥

मनःशिलाभङ्गनिभेन पश्चान्निरुध्यमानं निकरेण भासाम्।
व्यूढैरुरोभिश्च [27]विपूर्यमाणं नभः ससर्पेव पुरः खगानाम्॥16.45॥

नभः ससर्पेव चचालेव। कुत्र पुरोऽग्रतः। सर्पणे हेतुमाह व्यूढैर्विपुलैरुरोभिः पूर्यमाणम्। पश्चादपि नभो दृश्यत इति कथं पुरश्चलनमुत्प्रेक्षितम्। मनःशिलाचूर्णसदृशेन गरुडसम्बन्धिना दीप्ति च येन पश्चान्निरुध्यमानम्। प्रायेण पुरो धावतां पश्चादनुगता रुचो भवन्ति॥45॥

दरीमुखैरासवरागताम्रं विकासि रुक्मच्छदधाम पीत्वा।
जवानिलाघूर्णितसानुजालो हिमाचलः क्षीब इवाचकम्पे॥16.46॥

आसवरागताम्रं रुक्मच्छदां सुवर्णपक्षाणां गरुडानां धाम तेजः सविकासं गुहा मुखैः पीत्वा क्षीब इव हिमाद्रिर्वेगो स्थितवातभ्रान्तशिखरजालः कम्पितवान्। अन्योऽपि व्यात्तेन मुखेन मदिरां पीत्वा क्षीबः सन्कम्पते॥46॥

प्रवृत्तनक्तन्दिवसन्धिदीप्तैर्नभस्तलं गां च पिशङ्गयद्भिः।
अन्तर्हितार्कैः परितः पतद्भिश्छायाः समाचिक्षिपिरे वनानाम्॥16.47॥

प्रवृत्तो यो नक्तन्दिवसन्धिः सन्ध्या तद्वद्दीप्तैस्तथा खं भुवं चारुणयद्भिस्तथा तिरोहितसूर्यैः पतद्भिर्गरुडैः परितः सर्वतः सद्भिर्वनानां छायाः समाचिक्षिपिरे निवर्तिताः। एकपार्श्वस्थे तेजसि छायायाः प्रवृत्तेः गरुडानां च सर्वदिक्षु भ्रमणात्॥47॥

स भोगिसङ्घ शममुग्रधाम्नां सैन्येन निन्ये विनतासुतानाम्।
महाध्वरे विघ्यपचारदोषः कर्मान्तरेणेव महोदयेन॥16.48॥

---

27. विनुद्यमानम्

उग्रं धाम तेजो येषां तेषां गरुडानां सैन्येन सर्पगणः क्षयं नीतः। यथा महति मुखे विधेरचचारेण विधुरत्वेन दोषः कर्मान्तरेण प्रायश्चित्तरूपेण शमं नीयते ॥48॥

साफल्यमस्त्रे रिपुपौरुषस्य कृत्वा गते भाग्य इवापवर्गम्।
अनिन्धनस्य प्रसभं समन्युः [28]समादधेऽस्त्रं ज्वलनस्य जिष्णुः ॥16.49॥

शत्रुपौरुषकारस्य सफलतां कृत्वा सर्पास्त्रे भाग्य इवापवर्गं नाशं गते सति सक्रोधः सोऽर्जुनो निरिन्धनस्येन्धननिरपेक्षस्य ज्वलनस्याग्नेरस्त्रमस्मरत्। समादधे इति पाठः समीचिनः ॥49॥

ऊर्ध्वं तिरश्चिनमधश्च कीर्णैर्ज्वालासटैर्लङ्घितमेघपङ्क्तिः।
आयस्तसिंहाकृतिरुत्पपात प्राण्यन्तमिच्छन्निव जातवेदाः ॥16.50॥

ऊर्ध्वं तथा तिरश्चीनं तथाऽधश्च कीर्णैः जवाला एव सटाः केसरास्तैः लङ्घिता मेघपङ्क्तिर्यैः। तथाऽऽयस्तः क्षुभितो यः सिंहस्तद्वदाकृतिर्यस्य स जातवेदा वह्निः प्राणिनामन्तं क्षयमिच्छन्निवोत्पपातो स्थितवान्। विभाषान् चेरदिक्स्त्रियामिति खस्येनेतिरश्चीनशब्दः ॥50॥

भित्त्वेव भाभिः सवितुर्मयूखाञ्ज्वाल विष्वग्विसृतस्फुलिङ्गः।
विशीर्यमाणाश्मनिनाद[29]भीमं ध्वनिं वितन्वन्नकृशः [30]कृषाणुः ॥16.51॥

भाभिर्दीप्तिभिरर्कस्य रश्मीन्भित्वेव पराभूयेव महानग्निर्जज्वाल सर्वतो निःसृताग्निकणः। तथा विदीर्यमाणानामश्मनां निनादवद्भीमं ध्वनिं कुर्वद्भिः ॥51॥

चयानिवाद्रीनिव तुङ्गशृङ्गान् क्वचित्पुराणीव हिरण्मयानि।
महावनानीव च किंशुकानां ततान वह्निः पवनानुवृत्त्या ॥16.52॥

पवनमानस्यानुवृत्त्या करणभूतया वह्निर्हिरण्यमयांश्चयान्राशीनिव ततान। तथा हिरण्यमयानद्रीनिव ततान। तथा हिरण्यमयानि पुराणीव तितान्। तथा किंशुकानां पलाशानां महावनानीव ततान विस्तारयामास ॥52॥

मुहुश्चलत्पल्लव[31]लोहिताभिरुच्चैः शिखाभिः शिखिनोऽवलीढाः।
तलेषु मुक्ताविशदा बभूवुः सान्द्राञ्जनश्यामरुचः पयोदाः ॥16.53॥

सन्द्राञ्जनवच्छ्यामरुचोऽपि पयोदास्तलेषु मुक्ता वद्विशदा ब्रभूवुः। अत्र हेतुमाह।

---

28. समाददे
29. धीरम्
30. कृशानुः
31. लोहिनीभिः

चलन्तोऽनुवत्त्वाद्ये पल्लवास्तद्वल्लोहितार्भिरग्नेर्ज्वलार्भिरवलीढाः पीतजलाः ॥53॥

लिलिक्षतीव क्षयकालरौद्रे लोकं विलोलार्चिषि लोहिताश्वे।
पिनाकिना हूतमहाम्बुवाहमस्त्रं पुनः पाशभृतः प्रणिन्ये ॥16.54॥

क्षयकालवद्रौद्रे भयावहे तथा समिद्धानि दीप्तानि अर्चिषि यस्य तस्मिन्नोहिदश्वेऽग्नौ लोकं लिलिक्षत्यास्वादयितुमिच्छतीव सति आहूता महान्तोऽम्बुवाहा यत्र तत्पाशभृतो वरुणस्यास्त्र पिनाकिना प्रणिन्ये उत्पादितम् ॥54॥

ततो धरित्रीधरतुल्यरोधसस्तडिल्लतालिङ्गितनीलमूर्तयः।
अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीरपः प्रसक्तं मुमुचुः पयोमुचः ॥16.55॥

पयोमुचो मेघाः प्रसक्तमनवरतमपो जलानि ववषुः। धरित्रीधराणां पर्वतानां तुल्यं रोध आभोगो येषा। तथा विद्युत् सहितनीलाकृतयः। अधोमुखी या आकाशसरित्तद्व-न्निपतन्ति ॥55॥

पराहतध्वस्तशिखे शिखावतो वपुष्यधिक्षिप्तसमिद्धतेजसि।
कृतास्पदास्तप्त इवायसि ध्वनिं पयोनिपाताः प्रथमे वितेनिरे ॥16.56॥

प्रथमे पयोनिपाता ध्वनिं वितेनिरे। हेतुमाह शिखावतोऽग्नेर्वपुषि कृतास्पदाः पतन्तः। अत एवाचौपराहताः पश्चादध्वस्ताः शिखा यस्य। तथाधिक्षिप्तं न्यक्कृतं समिद्धमपि तेजो यस्य तस्मिन्। तप्तेऽयसि लोहे इव। यथा तप्ते शस्त्रे पतिता जलकणाः कणत्कारं शब्दं विस्तारयन्ति। तथाग्नावपि पतिताश्चक्रुः ॥56॥

महानले भिन्नसिताभ्रपातिभिः समेत्य सद्[32]क्वथितेन फेनताम्।
व्रजद्भिरार्द्रेन्धनवत्परिक्षयं जलैर्वितेने दिवि धूमसन्ततिः ॥16.57॥

भिन्नानि खण्डशो गतानि यान्यभ्राणि तद्वत्पातिभिर्जलैः सद्यः क्वथितेन हेतुना फेनतां प्राप्य दिवि धूमसन्ततिः कृता आर्द्रेन्धनैरिव। पतितामेव जलानां तापवशेन फेनत्वे जाते सितमेघसादृश्यम् ॥57॥

स्वकेतुभिः[33]पाण्डुविनीलपाटलैः समागताः शक्रधनुष्प्रभाभिदः।
असंस्थितामादधिरे विभावसोर्विचित्रचीनांशुकचारुतां त्विषः ॥16.58॥

पाण्डवो त्विनीलाः पाटलाश्च तैः स्वकेतुभिर्धूमैः समागता मिलिताः। अत एव

---

32. क्व थमेन
33. पाण्डुरनील

शक्रधनुषः प्रभां छिन्दन्ति जयन्ति। तथाविधा विभावसोरग्नेस्त्विषोऽसंस्थितां चपलां विचित्रचीनशोभामगृह्णन् ॥58॥

जलौघसंमूर्च्छनमूर्च्छितस्वनः प्रसक्तविद्युल्लसितैधितद्युतिः।
प्रशान्तिमेष्य[34]त्कृतधूममण्डलो बभूव भूयानिव तत्र पावकः॥16.59॥

प्रशान्तिमेष्यन्नपि तत्र पावको भूयानिवाभूत्। भूयस्त्वे हेतुमाह जलौघेन संमूर्च्छनमभिव्यापनं तेन मूर्च्छितो बहुलीकृतः स्वनो यस्य। तथा प्रसक्तेनाविच्छिर्शेन विद्युल्लसितेन एधिता वृद्धिं नीता द्युतिर्यस्य। तथा कृतं धूममण्डलं येन सः। भूयसोऽग्नेर्हि शब्दबाहुल्यादि भवति ॥59॥

प्रवृद्धसिन्धूर्मिचयस्थवीयसां चयैर्विभिन्नाः पयसां प्रपेदिरे।
उपात्तसन्ध्यारुचिभिः सरूपतां पयोदविच्छेदलवैः कृशानवः॥16.60॥

उपात्ता प्राप्ता सन्ध्यारुचिर्यैस्तैर्मेघखण्डैः सरूपतां साम्यं कृशानवः प्रापुः। प्रवृद्धस्य सिन्धोरूर्मिचयवत्स्थवीयसां स्थूलतराणां पयसां चयैः प्रवाहैर्भीन्नाः ॥60॥

उपैत्यनन्तद्युतिरप्यसंशयं विभिन्नमूलोऽनुदयाय सङ्क्षयम्।
तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः स हव्यवाहः प्रययौ पराभवम्॥16.61॥

अनन्ता द्युतयो यस्य सोऽपि विभिन्नमूलः सन्पुनरुदयाभावार्थं सङ्क्षयं याति। मूलविघटनात्पुनरुदयं न लभत इत्यर्थः। तथा हि तोयौघेन विभिन्ना विघटिता संहतिर्यस्य सोऽग्निः पराभवं प्रापत् ॥61॥

अथ विहितविधेयैराशु मुक्ता वितानै-
रसितनगनितम्बश्यामभासां घनानाम्।
विकस[35]दसितधाम्नां प्राप नीलोत्पलानां
श्रियमधिकविशुद्धां वह्निदाहादिव द्यौः॥16.62॥

आसत नगनितम्बस्येव श्यामाभा येषां तेषां घनानां वितानैर्विहितविधेयैः कृतकृत्यैः सद्भिर्मुक्ता त्यक्ता द्यौः विलसन्निर्मलतेजसामिन्द्रनीलानां शोभां प्रापत्। वह्निदाहादिवेत्युत्प्रेक्षणम्। वह्निदग्धं हि सुवर्णादिश्रियं लभते ॥62॥

इति विविधमुदासे सव्यसाची यदस्त्रं
बहुसमरनयज्ञः सादयिष्यन्नरातिम्।
विधिरिव विपरीतः पौरुषं न्यायवृत्तेः
सपदि तदुपनिन्ये रिक्ततां नीलकण्ठः॥16.63॥

---

34. घृत
35. अमल

बहून् समरनयाज्ञानानः सन्नरातिं सादयिष्यञ्शत्रुपराजयहेतोः सव्यसाची पार्थो यदस्त्रमेवमुदासे चिक्षेप तदस्त्र परमेश्वरो रिक्ततां निष्फलत्वमनैषीत्। यथा न्यायवृत्तेः पुरुषस्य पौरुषं प्रतिकुलो विधाता निष्फलतां नयति ॥63 ॥

वीतप्रभावतनुरप्यतनु[36]प्रतापः
प्रत्याचकाङ्क्ष जयिनीं [37]बलवीर्यलक्ष्मीम्।
अस्त्रेषु भूतपतिनापहृतेषु जिष्णु-
र्वर्षिष्यता दिनकृतेव जलेषु लोकः ॥16.64 ॥

भूतपतिनास्त्रेषु हृतेषु सत्सु वीतेन शान्तेन प्रभावेण तनुर्लघुरप्यतनुर्महान्प्रतापो यस्य स पार्थो बलवीर्यसमृद्धिं प्रत्याकाङ्क्षितवान्। यथा वर्षिष्यता सूर्येण जलेषु शोषितेषु लोके बलसमृद्धिं प्रत्याकाङ्क्षति। भूतपतिपक्षे वर्षिष्यता प्रसादं करिष्यतेति भद्रम् ॥64 ॥

इति श्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां षोडशः सर्गः ॥16 ॥

---

36. प्रभावः
37. भुजवीर्य

॥सप्तदशः सर्गः॥

अथापदामुद्धरणक्षमेषु मित्रेष्विवास्त्रेषु तिरोहितेषु।
धृतिं गुरुश्रीर्गुरुणाभिपुष्यन् [1]सपौरुषेणेव शरासनेन॥ 17.1॥

भूरिप्रभावेण रणाभियोगात्प्रितो विजिह्मश्च तदीयवृध्या।
स्पष्टोऽप्यविस्पष्टवपुश्प्रकाशः सर्पन्महाधूम इवाद्रिवह्निः॥ 17.2॥

तेजः समाश्रित्य परैरहार्यं निजं महन्मित्रमिवोरुधैर्यम्।
आसादयन्नस्खलित[2]स्वभावो भीमे भुजालम्बमिवारिदुर्गे॥ 17.3॥

[3]वंशोचितत्वादभिमानवत्या संप्राप्तया संप्रियतामसुभ्यः।
समक्षमादित्सितया परेण वध्वेव कीर्त्या परितप्यमानः॥ 17.4॥

पतिं नगानामिव बद्धमूलमुन्मूलयिष्यंस्तरसा विपक्षम्।
लघुप्रयत्नं निगृहीत[4]धैर्यस्त्रिमार्गगावेग इवेश्वरेण॥ 17.5॥

संस्कार[5]युक्त्या रमयत्सुचेतः प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु।
जयं [6]जयार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे॥ 17.6॥

शृणन्तीति शरास्तेषु यथार्थेषु सायकेषु। तथा संस्कारयुक्त्या संस्कार-स्तीक्ष्णत्वापादनं तस्य युक्त्या चेतस्तोषयत्सु। तथा प्रकृष्टो योगो नियोगः शिक्षागुरुपदेशः गुणाः सरलत्वादयशस्ते भूषणं येषामेवंविधेषु पार्थोऽर्जुनो जयमाशशंस संभावितवान्। यथा शब्देषु विद्वान् भावार्थमाशंसति। शब्दपते संस्कारः स्वादिप्रत्ययादिकृतः प्रयोगः सम्बन्धः शिक्षाकरणादिविभागः गुणः प्रसादः॥ आपदां शत्रुकृतानां विपदां सतीनां।

---

1. स्वपौरुषेण
2. स्वभावम्
3. वंशोदित
4. वीर्य
5. वत्वाद्
6. यथार्थेषु

षष्ठी चानादर (2/3/38 पा.) इति षष्ठी। ताभ्यः सकाशादुद्धरणसमर्थेष्वत एव मित्रसदृशेष्वस्त्रेष्वन्तर्हितेषु पौरुषेण शरासनेन च धैर्यं बिभ्रत्। समसहजं पौरुषमतः किमस्त्रैरित्यन्तश्चिन्तयन्॥ महाप्रभावेण हरेण महारणेष्वभियोगात्प्रीतो विकसंस्तथा तदीयया हरसम्बन्धिन्या वृद्धया जयेन विजिह्मः सङ्कुचितः। प्रभावेणेति पर्यायवक्रतयास्त्राणां प्रभावादेव ग्लपनं न तु पौरुषादिति सूचयति। अत एव पर्वताग्निरिव। कीदृक् सर्पन् महाधूमो यस्य। अत एव स्पष्टोऽपि ज्वलन्नपि अविस्पष्टो ग्लानो वपुष्प्रकाशो यस्य सः। वनानामार्द्रत्वान्महाधूमत्वम्। अत एवाद्रिग्रहणम्॥ परैः शत्रुभिरहार्यं हन्तुमशक्यमजय्यं धैयवन्मित्रमिव स्मृत्वा धैर्यं प्राप्नुवन्। यतोऽस्खलितस्वभावो विकाररहितः भीमे दुरारोहे अरिरेव दुर्गं तस्मिन्भूजालम्बमिव। भुजालम्बे च दुर्गादि मुखमारुह्यते॥ स्वकुलयोग्यत्वादभिमानो विद्यते यस्याः तथा प्राणेभ्योऽपि प्रियतां प्राप्तया। तथा परेण शत्रुणा प्रत्यक्षमेव हन्तुमारब्धया कीर्त्या वध्वा द्रौपद्येव सन्तप्यमानः। द्रौपदीपक्षे वंशे महाकुलीनत्वेनोचितत्वात्। वंशे कुरुकुले उचितत्वात्साभिमानयेति वा॥ लघुरल्पः प्रयत्नो यत्रैवं कृत्वा भगवता निरुद्धतेजः। निरोधे हेतुमाह नगानां पतिं हिमवन्तमिव। बद्धमूलं विपक्षं शत्रुमुन्मूलयिष्यञ्जेतुत्रकामः। अत एव गङ्गाप्रवाह इव। स च पक्षरहितं हिमवन्तमुत्पाटयिष्यन्नीश्वरेण सावहेलं निरुद्धः। भाविप्रसादसूचनार्थं गङ्गाप्रवाहसाम्यम्। गङ्गा हि भगवच्छिरोभूषणभूता श्रूयते॥6॥ **षड्भिः कुलकम्॥**

भूयः समाधानविवृद्धतेजा नैवं पुरा युद्धमिति व्यथावान्।
स निर्ववामास्त्रममर्षनुन्नं विषं महानाग इवेक्षणाभ्याम्॥17.7॥

समाधानेन दुर्योधनादिकृतावमानस्मरणेन भूयो बहुकृत्वा विवृद्धं तेजो यस्य तथैवमीदृशं युद्धं पुरा न कदाचिदभूदिति व्यथावान्। सोद्वेगः स पार्थो नेत्राभ्यां सकाशाद्रक्तं क्रोधोत्पादितममुञ्चत्। यथा फणीन्द्रो विषम्। सर्पस्य हि दृष्टौ विषम्। समाधानं युद्धसङ्कल्प इति केचित्॥7॥

तस्याहवायासविलोलमौलेः संरम्भताम्रायतलोचनस्य।
निर्वापयिष्यन्निव रोषतप्तं प्रस्नापयामास मुखं निदाघः॥17.8॥

रणक्षोभस्खलज्जटस्य तथा रोषारुणवितताक्षस्यार्जुनस्य रोषाग्निज्वलितं मुखं धर्मः स्नपितवान्। अतः संभाव्यते निर्वापयिष्यञ्शमयिष्यन्निव॥8॥

कोधान्धकारान्तरितो रणाय भ्रूभेद[7]लेखाः स बभार तिस्रः।
घनोपरुद्धः प्रभवाय वृष्टेरुर्ध्वांशुराजीरिव [8]धर्मरश्मिः॥17.9॥

---

7. रेखाः
8. तिग्मरश्मिः

क्रोधेनान्धकारः कालिमा तेनान्तरितच्छादितः स योद्धुं तिस्रो भ्रूभङ्गलेखाः बभार। यथाऽभ्रावृतः सूर्यो वर्षणं कर्तुमूर्ध्वरश्मिलेखाः ॥9 ॥

स प्रध्वनय्याम्बुदनादि चापं हस्तेन दिग्नाग इवादिंशृङ्गम्।
बलानि शम्भोरिषुभिस्तताप चेतांसि चिन्ताभिरिवाशरीरः ॥17.10 ॥

मेघगर्जितसमशब्दं धनुर्हस्तेनास्फाल्य स हरस्य कटाकाञ्शरैरव्यथयत्। यथैरावणः पर्वतशृङ्गम् हस्तेनाकृष्य ध्वनयति। ध्वनेर्गर्जितं अर्जुनस्य दिग्नागो धनुषोऽद्रिशिखर उपमानम्। यथा कामो जनानां चेतांसि चिन्ताभिस्तपति। तपने शराणां चिन्ता बलानां मनांसि पार्थस्य काम उपमानम् ॥10 ॥

सद्वादितेवाभिनिविष्टबुद्धौ गुणाभ्यसूयेव विपक्षपाते।
अगोचरे वागिव चोपरेमे [9]गतिः शराणां शितिकण्ठकाये ॥17.11 ॥

अभिनिविभ्य सनवती बुद्धिर्यस्य तस्मिन्यथा हितोक्तिः। यथा च पक्षपातरिहते गुणमत्सरो। यथा च बुद्ध्यागोचरे प्ररब्रह्मणि वाणी। तथा हरवपुषि विशये शराणां सौष्ठवमगलत्। अर्जुनशराणां शीलकण्ठं प्रति न्यक्कृतम्। उपरेमे इति विभाषाकर्मकादित्यादिन्यात्मनेपदम् ॥11 ॥

उमापतिं पाण्डुसुतप्रणुन्नाः शिलीमुखा न व्यथयांबभूवुः।
[10]अभ्युत्थितस्यासुमतां समूहमर्कस्य पादा इव हैमनस्य ॥17.12 ॥

पार्थप्रहिताः शरा हरं नाव्यथयन्। हेमन्तभाविनः सूर्यस्य यथा रश्मयः प्राणिगणम् ॥12 ॥

संप्रीयमाणोऽनुबभूव तीव्रं पराक्रमं तस्य पतिर्गणानाम्।
विषाणभेदं हिमवानसह्यं वप्रानतस्येव सुरद्विपस्य ॥17.13 ॥

यथा वप्रानतस्य तटाघातक्रीडा प्रसक्तस्यैरावणस्य हिमालयो दुःसहं दशनाघातमनुभवति। तथा तीव्रं पार्थस्य विक्रमं स हरस्तुष्यन् सेहे ॥13 ॥

अत्र हेतुमाह ॥

तस्मै हि [11]भारोद्वहने समर्थं प्रदास्यता बाहुमिव प्रतापम्।
चिरं विषेहेऽभिभवस्तदानीं सकारणानामपि कारणेन ॥17.14 ॥

---

9. शक्तिः
10. अभ्युत्थितस्यादिपतेर्नितम्बमर्कस्य पादा इव हैमनस्य ॥
11. भारोद्धरेण

भुजमिव भारोद्वहने शक्तं प्रतापं पार्थाय यस्माद्दास्यता भगवतापि समर्थ्यकृतोऽभिभवः पराजयः सेहे। महभ्दिः सह स्पर्धया ह्यल्पानां प्रतापः स्फुरतीति। पार्थकृते पौरुषे महेश्वरेण कृतादवलेपात्प्रतापोत्पत्तेरुपपत्तिमाह ॥14 ॥

प्रत्याहतौजाः कृतसत्त्ववेगः पराक्रमं ज्यायसि यस्तनोति।
तेजांसि भानोरिव निष्पतन्ति यशांसि वीर्यज्वलितानि तस्य ॥ 17.15 ॥

प्रथमं ज्यायसा संहततेजास्तदनुकृतधैर्योत्कर्षो यो ज्यासंसि महति विषये पौरुषं करोति। तस्य वीर्येण ज्वलिता वियशांसि सूर्यस्य तेजांसीव प्रसरन्ति। प्रथमं जितोऽपि तावतैवानिवर्तमानः पुनर्महति यद्युद्यते तेनाद्भुतकर्मणा प्रतापः प्रसरतीत्यर्थः ॥15 ॥

प्रतापवतः पृथिवीभारोद्वहने युक्तिमाह ॥

[12]दृष्टापदानाद्व्यथतेऽरिलोकः प्रध्वंसमेति व्यथिताच्च तेजः।
तेजोविहीनं [13]प्रजहाति दर्पः शान्तार्चिषं दीपमिव प्रकाशः ॥ 17.16 ॥

ततः प्रयात्यस्तमदावलेपः स जय्यतायाः पदवीं जिगीषोः।
गन्धेन जेतुः प्रमुखागतस्य प्रतिद्विपस्येव मतङ्गजौघः ॥ 17.17 ॥

दृष्टमपदानमद्भुतं कर्म प्राग्भराभावोऽपि पुनर्विजयप्राप्तिलक्षणं यस्य तस्माद्वैरिवर्गो बिभेति। भीतात्तेजो हीयते। निस्तेजसमहङ्कारस्त्यजति। यथा मन्दज्योतिषं प्रदीपं प्रकाशः। अतस्त्यक्तो मदावलेपोऽहङ्कारो येन स जिगीषोर्जेतुं शक्यत्वं प्राप्नोति। गन्धेनजयनशीलस्य संमुखमागतस्य गन्धगजस्य यथा गजवर्गः ॥17 ॥ युग्मम् ॥

प्रकृते उपसंहरन्नाह ॥

एवं प्रतिद्वन्द्विषु तस्य कीर्तिं मौलीन्दुलेखाविशदां विधास्यन्।
इयेष पर्यायजयावसादां रणक्रियां शंभुरनुक्रमेण ॥ 17.18 ॥

मुकुटशशिकलाशुभ्रं कीर्तिं प्रतिद्वन्द्विषु शत्रुषु विषये तस्य स्थापयिष्यन्। ईश्वरो रणक्रियामभिलषितवान्। एवं पूर्वोक्तेन निमित्तेन पर्यायजयावसादाम्। एकत्रानवस्थानं पर्यायः तेन जयावसादौ जयपराजयौ यस्यां ताम्। अनुक्रमेण क्षणेक्षणाम् ॥18 ॥

मुनेर्विचित्रैरिषुभिः स [14]भूयो निन्ये वशं भूतपतेर्बलौघ।
सह्यात्मलाभेन समुत्पतद्भिर्जातिस्वभावैरिव जीवलोकः ॥ 17.19 ॥

---

12. दृष्टावदानात्
13. विजहाति
14. भूयान्

विचित्रैर्मर्मघातित्वादाश्चर्यकारिभिर्नाना रूपैर्वा मुनेः शरैः स हरस्य कटको वशं भङ्गभूयोऽपि नीतः। आत्मा लक्षणया शरीरं सदुत्पत्या सह सम्भवद्भिर्जातिस्वभावैर्हिंसाहिंसारूपैः प्राणिलोको वशमस्वातन्त्रं यथा नीयते ॥19॥

वितन्वतस्तस्य शरान्धकारं त्रस्तानि सैन्यानि रवं निशेमुः।
प्रवर्षतः सन्ततवेपथूनि क्षपाघनस्येव गवां कुलानि ॥17.20॥

शरैरन्धकारशरा एव वान्धकारस्तं वितन्वतस्तस्य सिंहनादं त्रस्तानि कम्पमानानि बलौघानि निशेमुः शुश्रुवुः। यथा प्रवर्षतः प्रकृष्टाभिर्जलधाराभिर्वर्षतः। अत एव शीतान्तत्वाद्भृशं कम्पमानानि रात्रिमेघस्य रवं यथा गोकुलानि मृष्यन्ति ॥20॥

स सायकान्साध्वसविप्लुतानां क्षिपनपरेषामतिसौष्ठवेन।
शशीव दोषावृतलोचनानां विभिद्यमानः पृथगाबभासे ॥17.21॥

साध्वधैर्यपरिप्लुतानामुपद्रुतानां परेषां शरानतिबलेन किरन्बिभिद्यमानः सहस्रधा बभासे। पृथक् पृथक् पूर्वादर्जुनादन्यदाबभासे। यथा दोषेण तिमिरेण वृतानि लोचनानि येषां तेषाम्। यथा चन्द्रो विभिद्यमानो द्विधा भवन् पृथग्भिन्नरूपश्च भासते ॥21॥

क्षोभेण तेनाथ गणाधिपानां भेदं ययावाकृतिरीश्वरस्य।
तरङ्गकम्पेन महाह्रदानां छायामयस्येव दीनस्य [15]भर्तुः ॥17.22॥

तेन क्षोभेण व्याकुलत्वेन हरस्य वपूर्भेदमगात्। कोधमनाटयदित्यर्थः। आकृतिग्रहणं भृवच्छेदार्थम्। सरोवराणां लहरी कम्पेन प्रतिबिम्बितस्यार्कस्य यथा मण्डलभेदं याति ॥22॥

यदि भगवते मुखादौब्जाभङ्गादिकं दृष्टं तर्हि मनः प्रसन्नमेवेति कथं ज्ञायत इत्याह॥

प्रसेदिवांसं न तमाप कोपः कुतः परस्मिन्पुरुषे [16]रजो वा।
आकारवैशम्यमिदं च भेजे दुर्लक्षचिह्ना महतां हि वृत्तिः ॥17.23॥

कोपस्तं नाप यतः प्रसेदिवासं शौर्यतपोभ्यां प्रसन्नम्। वा पक्षान्तरे परेस्मिन्पुरुषे वागगोचरे रजोगुणः भूतः। प्रसन्नभूतोऽपि क्षोभलक्षणान्यवहत्। यदि प्रसन्नस्तर्हि प्रसादलक्षणानि परिवर्ज। प्रसादलक्षणानि किमवहदित्याह हि निश्चये महतां वृत्तिरचिन्त्यरूपाऽविचिन्त्या। प्रसन्नस्यापि यत्क्रोधलक्षणानि तत्र हेतुरचिन्त्यरूपः। अयमत्र भावः। यदि भगवानर्जुनस्य प्रतापोत्पत्तये क्रोधमनाटयत् तत्सम्यङ्न प्रतिभाति। यतो रावणाद्याः प्रसन्नेन सहसेव यथा संवर्धितास्तथा पार्थमपि किं नेश्वरोऽवर्धयदित्यचिन्त्यम् ॥23॥

---

15. कर्तुः
16. विकारः

विस्फार्यमाणस्य ततो भुजाभ्यां भूतानि भर्त्रा धनुरन्तकस्य।
भिन्नाकृतिं ज्यां ददृशुः स्फुरन्तीं क्रुद्धस्य जिह्वामिव तक्षकस्य ॥ 17.24 ॥

जिह्वामिव विस्फुरन्तीं सव्यापसव्याभ्यां यः। स च क्षिणाभ्यां भुजाभ्यां हरेणाकृष्टमाणस्य धनुर्यमस्य स्फुरन्तीं मौर्वीं भूतानि ददृशुः। बृहत्वात् क्रुद्धस्य तक्षकस्य जिह्वायाः सदृशीमपश्यत्। सापि द्विधा गता चलति। धनुरेवान्तक धनुरन्तक इति पूर्वत्रापि परार्थशब्दप्रयोगस्येव। भर्तेति तृण्वन्तम् ॥24 ॥

सव्यापसव्यध्वनितोग्रचापं पार्थः किराताधिपमाशशङ्के।
[17]वैशम्यसम्पादितकर्णतालं यन्ता गजं व्यालमिवापराद्धः ॥ 17.25 ॥

सव्यापसव्याभ्यां सदर्थिणाभ्यां ध्वनित उग्रचापो धनुर्येन तं शवरनृपमर्जुनः शङ्कितवान्। स पार्थोऽर्जुनः किराताधिपं शिवमाशशङ्के। भटेन्द्रोऽयं किमपि करिष्यतीति शङ्कितवान्। यथा वैशम्येन पृथक् पृथक् संपादितकर्णतालं मत्तहस्तिनं कृतापराधो हस्तिपकः। व्यालगजं क्षुद्रहस्तिनमिति केचित्। कर्णतालः कर्णचालानिका यथापराद्धः कृतापराधो यन्ता हस्तिपकः ॥25 ॥

निजघ्निरे [18]चास्य हरेषुजालैः पतन्ति वृन्दानि शिलीमुखानाम्।
[19]तेजस्विभिः सिन्धुमुखागतानि यादांसि यादोभिरिवाम्बुराशेः ॥ 17.26 ॥

पार्थस्य शरौघा हरशरभरैर्निहताः नदीमुखागता नक्राः। समुद्रनक्रैरनलयद्भिर्निहन्यन्ते। अस्य शिलीमुखानां वृन्दानि पतन्ति आयन्ति। हरेषुजालैर्निजघ्निरे। पतन्तीति सन्ततं प्रथमा बहुवचनम् ॥26 ॥

विभेदमन्तः पदवीनिरोधं विध्वंसनं चाविदितप्रयोगः।
नेतारिलोकेषु करोति यद्यत्तत्तश्चकारास्य शरेषु शंभुः ॥ 17.27 ॥

नायकः शत्रुलोकेषु यद्यत् करोति तत्तदस्य शरेषु हरोऽकरोत्। यतो विभेदादि चकार। अन्तर्विभेदो मध्ये सम्बद्धं संहताना वृथा भावश्च, पदवीनिरोधो मार्गरोधः, विध्वंसनं विनाश, अविदितोऽज्ञातः प्रयोगः शरसन्धानादिकं समाधिविनियोगश्च यस्य सः ॥27 ॥

सोढावगीतप्रथमायुधस्य कोधोज्झितै[20]र्वेगिभिरापतद्भिः।
[21]लूनैरपि त्रासितवाहिनीकैः पेते कृतार्थैरिव तस्य बाणैः ॥ 17.28 ॥

---

17. पर्याय
18. तस्य
19. ऊर्जस्विभिः
20. वेगितया
21. छिन्नैरपि

प्रथमं सोढान्यवगीतानि अनादृतानि आयुधानि यस्य तस्य पार्थस्य शरैः पेते पतितम्। अत एव क्रोधेन कीर्णैर्वेगिभिः सवेगैरागच्छद्भिः। ततो हरेण शरलूनैरपि वेगसंस्कारवशात् त्रासितगणसैन्यैरत एव कृतार्थैः कृतकृत्यैः शराणां चातुर्यं शत्रूणां त्रसनम्। सोढान्यवगीतं सावहेलं प्रथमान्यायुधानि यस्य सः सोढवगीतप्रथमायुधस्यानन्तर-मधिक्रोधप्रमुक्तैरित्यर्थः ॥28॥

अलङ्कृतानामृजुतागुणेन गुरूपदिष्टां गतिमास्थितानाम्।
सतामिवापर्वणि मार्गणानां भङ्गः स जिष्णोर्धृतिमुन्ममाथ ॥17.29॥

तथाऽपर्वण्यस्थाने शराणां भङ्गश्छेदः पार्थस्य धृतिमुन्मथितवान्। गुरुणा द्रोणाचार्येणोपदिष्टां दर्शितां गतिमास्थितानामाश्रितानां सतामुपाध्यायविहितमाचारमास्थितानां शराणां पर्वस्वच्छेदो भवति। ततो न्यस्तमुच्छेदं सतां मार्गणानां प्रणयिनामित्यन्ये तद्भङ्गं याच्ञा व्यर्थताम्। तथा सतां साधूनामपर्वण्यकाण्डे भङ्गो विपद्यन्यस्य दृश्यमानो धैर्यमपहरति। तथा शराणामकालेपर्वणोऽन्यत्र वा प्रदेशच्छेदोऽर्जुनस्य जयास्थामपास्थदित्यर्थः। शराणामृजुतागुणः स्पष्टतासतां स्वच्छशयत्वम्। ऋजुता गुणेन स्पष्टत्वेन निर्मलाशयत्वेन च भूषितानां गतिं गमनमाचारं चाश्रितानाम् ॥29॥

बाणच्छिस्ते विशिखाः स्मरारेरवाङ्मुखीभूतफलाः पतन्तः।
अखण्डितं पाण्डवसायकेभ्यः कृतस्य सद्यः प्रतिकारमापुः ॥17.30॥

अर्जुनस्य शरच्छेदकास्तथा गुरुत्वादवाङ्मुखीभूतशल्या अधोमुखाः पतन्तः शरुम्भुशराः सद्य एव कृतस्य प्रतिकारमापुः। शम्भुशरैर्हि पार्थसराणां निष्फलत्वं निपातनं च कृतम्। शम्भुशरश्चाधोमुखशल्याः पतिताः। सद्य इत्युत्कटकारित्वा। तथा च अत्युत्कटैः पुण्यपापैः सद्यस्तत्फलमश्नुते इति ॥30॥

चित्रीयमाणानतिलाघवेन प्रमाथिनस्ता[22]ञ्शिवमार्गणानाम्।
[23]शङ्काकुलाया निचखान दूरं बाणान्ध्वजिन्या हृदयेष्वरातिः ॥17.31॥

अतिलाघवेनातिवेगेनाश्चर्यकारिणो हरशराणां भेदकास्ताञ्शरान् शङ्काकुलायाँस्त्रा-सान्तरायाः सेनाया हृदयेष्वरातिः शत्रुरर्जुनोऽरोपयत्। चित्रट आश्चर्य इति क्यटि रूपम् ॥31॥

तस्यातियत्नादतिरिच्य[24]मानैः पराक्रमेऽन्योन्यविशेषणेन।
हन्ता पुरां भूरि पृषत्कवर्षं निरास नैदाघ इवाम्बु मेघः ॥17.32॥

---

22. भव
23. समाकुलया
24. माने

तस्य पार्थस्य पौरुषेति यत्नादधिके भवति सति पुरां हन्ता हरो बहुशरवर्षं मुमोच। यथा निदाघ मेघो जलम्। अन्यस्माद्विशेषणेनातिशयेनानिमित्तेनेति यत्न पृषत्कनिरसनयोर्द्वयो हेतुः। यद्वान्यस्याप्यन्यस्य विशेषणमिति कर्मव्यतिकारकृते द्विवचने समासाभावपक्षे प्रथमैकवचनं पूर्वपदस्य सोत्वमेत्वं च ॥32 ॥

अनामृशन्तः क्वचिदेव मर्म प्रियैषिणानुप्रहिताः शिवेन।
सुहृत्प्रयुक्ता इव [25]नर्मवाचः शरा मुनेः प्रीतिकरा बभूवुः ॥ 17.33 ॥

मर्म जीवितस्थानमनामृषन्तोऽस्पृशन्तो यतः प्रतापसिद्धिकामेन शिवेन विमृष्टाः शरासनेरर्जुनस्य हर्षकरा आसन्। मुनेरिति पर्यायवक्रतया त्वक्स्पर्शत्वं शराणां द्योतयति। यथा मित्रकथिता लीला वाचः। तत्पक्षे मर्मरहस्योद्घाटनम् ॥33 ॥

अस्त्रैः समानामतिरेकिणीं वा पश्यन्निषूणामपि तस्य शक्तिम्।
विषादवक्तव्यबलः प्रमाथी स्व[26]मालालम्भे बलमिन्दुमौलिः ॥ 17.34 ॥

शराणामपि शक्तिः सामर्थ्यम् अस्त्रैरधिकां वा सदृशीं वा पश्यन्विषादेनानुत्साहेन वक्तव्यम्। निन्द्यबलं सेना यस्य स हरः स्वं बलं गृहीतवान्। अन्यत्र प्रमाथी विजयी ॥34 ॥

ततस्तपोवीर्यसमुद्धतस्य पारं यियासोः समरार्णवस्य।
महेषुजाला[27]न्यधिकानि जिष्णोरर्कः पयांसीव समाचचाम ॥ 17.35 ॥

तपसा वीर्येणोद्धतस्य सतः सङ्ग्रामसम्बन्धिपारं गन्तुकामस्य पार्थस्य सर्वाणि विसृष्टान्यविसृष्टानि चेषुजालानि हरः शमितवान्। यथा पोरविः। यद्वा तपसा। निजेन च पौरुषेण चावलिप्तस्यात एव जलधिमुत्तितीर्षोरर्जुनस्येन्दुमौलिः शराणां चक्रवालानि मायया ग्रसिषेत्यर्थः ॥35 ॥

रिक्ते सविस्रम्भमथार्जुनस्य निषङ्गवक्त्रे निपपात पाणिः।
अन्यद्विपापीतजले सतर्षं मतङ्गजस्येव नगाश्मरन्ध्रे ॥ 17.36 ॥

अथ सम्भावने शिवप्रभावाच्छून्ये तूणाग्रे पार्थस्य करः पपात शरा हरेणार्थमिति भावः। यथा वनहस्ति पीतपानीये पर्वतपाषाण ऊहरे सपिपासं हस्तिनः करः पतति। सह तृष्णया सतर्षं इति पातक्रियाविशेषणम्। नगाश्मरन्ध्रं विवरम् ॥36 ॥

च्युते स तस्मिन्निषुधौ शरार्थाद्ध्रुवस्तार्थसारे सहसेव बन्धौ।
तत्कालमोघप्रणायः प्रपेदे निर्वाच्यताकाम इवाभिमुख्यम् ॥ 17.37 ॥

---

25. नर्मवादः
26. आललम्बे
27. अखिलानि

शरश्चासावर्थो वस्तु ततः च्युते हरप्रभावेणाविद्यमानशर इत्यर्थः। स पार्थ पाणिस्तस्मिस्थणेसां मुख्यं प्राप्तः। तत्काल एव मेघो निष्फलः प्रणयः शरयाच्ञा यस्य सः। अन्य चाक्षयरशरत्वात्। यथा ध्वस्तं विनष्टमन्नसारं द्रविणादि यस्य तस्मिन्बन्धो निर्वाच्यता कामः कश्चित्साम्मुख्यं प्रतिपद्यते। वाच्यं निन्दाकृतघ्नोऽयमित्येवमादिकः तस्यानिष्क्रान्त्वं यः कामयति स निर्वाच्यताकाम। नष्टार्थस्य बन्धोर्निकटगमनेन कृतघ्नोऽयं यदच्युतमित्रनिकटं नायातीति लोको निन्दां करोति ॥37॥

आघट्टयामास गतागताभ्यां सावेगमग्राङ्गुलिरस्य तूणौ।
विधेयमार्गे मति[28]रुन्मुखस्य नयप्रयोगाविव गां जिगीषोः ॥ 17.38 ॥

अस्याङ्गुलिर्निषङ्गौ गमनावगमनार्थमाघट्टयत्। एकमाकुलं स्पृष्ट्वा परं परस्पर्शोत्यर्थः। यथा गां भूमिं जिगीषोः कार्यपथे सम्मुखस्य मतिर्नयप्रयोगौ सन्धिविग्रहावावघट्टयति स्पृशति। नयप्रयोगौ सन्धिविग्रहौ नयग्रहणं गुणद्वन्द्वोपलक्षणम्। द्वयोः सन्धिविग्रहयोः प्रयोगावुपक्षेपौ ॥38॥

बभार शून्याकृतिरर्जुनस्तौ महेषुधी वीतमहेषुजालौ।
युगान्तसंशुष्कजालौ विजिह्मः पूर्वापरौ लोक इवाम्बुराशी ॥ 17.39 ॥

वीतं निवृत्तं महेषुजालं ययोस्तौ महेषुधी तूणौ पार्थोऽवहत्। शून्याकृतिर्लुप्तसत्त्वः किंकर्तव्यतामूढः। यथा कल्पान्तशुष्कजलौ समुद्रौ पूर्वापरौ लोके बिभर्ति। विजिह्मश्चकितोः श्रेष्ठश्रीश्च लोको भूमण्डलं भूमण्डलपर्यायो लोकः। यथा भूमण्डलशुष्कपयसी पूर्वापरौ समुद्रौ बिभर्ति तथार्जुनस्तूणौ बभार ॥39॥

तेनानिमित्तेन तथा न पार्थस्तयोर्यथा रिक्ततयानुतेपे।
स्वामापदं प्रोज्झय विपत्तिमग्नं शोचन्ति सन्तो ह्युपकारिपक्षम् ॥ 17.40 ॥

यथा तयोस्तूणयो रिक्तयार्जुनोऽनुतेपे पश्चात्तापमवाप तथा तेन शरनाशनलक्षणेनानिमित्तेन नानुतेपे। युक्तमेतत्, निजां विपदमवगणय्य सज्जना विपतपतितमश्रितपक्षमेव शोचन्ति ॥40॥

पश्चात्क्रियायै विधुरः स तस्मात्कृच्छ्रेण विश्लेषमियाय हस्तः।
[29]पराङ्मुखस्यापि कृतोपकारात्तूणीमुखान्मित्रकुलादिवार्यः ॥ 17.41 ॥

प्रतिक्रियायै शरप्रत्याहरणार्थं विधुरोऽसमर्थः पराङ्मुखस्य निराशस्यापि तस्य

---

28. उत्सुकस्य
29. परङ्मुखत्वेऽपि

हस्तस्तूणीद्वयात्कष्टेन विश्लिष्टवान्। कृतोपकारान्मित्रकुलाद्यथा प्रतिक्रियायै विपन्निवारणार्थमसमर्थः साधुन्मित्रकुलात्कष्टेन विश्लेषमेति। कृतघ्नत्वादपवाद-भयात्कृतोपकारस्यापद्यथा दुःखं करोति न तथा स्वदुःखमित्यर्थः। उपकारेत्यभीक्ष्णं उपकारी सश्चासौ पार्थः सहायः पक्षः ॥41॥

पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य भर्तुर्जज्ञे तदानीमुपकारिणीव।
संभावनायां [30]ह्यफलीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम्॥17.42॥

तस्य तूणद्वयस्य पश्चात्क्रियास्कन्दान्तनिवेशस्तस्मिन्काले उपकारकेव जाता। युक्तमेतत्। सम्भावनायामाशायां निष्फलायां कृतायां सत्यां स्वामिनोऽग्रे भृत्यानामासितव्यं स्थितिसाहसम्। आसितुं शक्यते इत्यर्थः। स्वामिदृष्टेरविषयभूतां स्थानमाश्रित्य तिष्ठन्तीत्यर्थः। यस्मात्संभावनायां निष्फलीभूतायां सत्यां प्रभोरग्रतोऽवस्थानं साहसम्। अक्षयावेताविति यो व्यवसायस्तस्मिन्नन्यथाभूते पत्युः। पुरस्तात्स्थितिर्लज्जया दुष्करम्। आसितव्यभावे कृत्यकर्तरीति षष्ठी ॥42॥

तं शम्भुराक्षिप्तमहेषुजालं लोहैः शरैर्मर्मसु निस्तुतोद।
हृतोत्तरं तत्त्वविचारमध्ये वक्तेव दोषैर्गुरुभिर्विपक्षम्॥17.43॥

आक्षिप्तं बलादुपहृतं महेषुजालं यस्य तं भगवान् मर्मस्थानेष्वविध्यत्। यथा तत्वविचारिणां प्राज्ञानां मध्ये सभायां हृतोत्तरं पराभूतप्रतिवाक्यं विपक्षं प्रतिवादिनं वक्ता। वादी बहुभिर्दोषैर्वारदषणादिभिर्व्यथयति ॥43॥

जहार चास्मादचिरेण वर्म ज्वलन्मणिद्योतित[31]हेमलेखम्।
चण्डः पतङ्गान्मरुदेकनीलं तडिद्वतः खण्डमिवाम्बुदस्य॥17.44॥

ज्वलद्भिर्मणिभिर्धोतिता हेमलेखा यस्य तद्वर्म कवचं चास्मात्पार्थाद्भगवानहार्षीत् यथा जलोद्रे केनैकमसमं नीलं विद्युत्सहितस्य मेघस्य खण्डं तीव्रो वायु हरति ॥44॥

[illegible]शनिर्धौततनोर्महासेः फणावतश्च त्वचि विच्युतायाम्।
प्रतिद्विपाबद्धरुवः समक्षं नागस्य चाक्षिप्तमुखच्छदस्य॥17.45॥

विबोधितस्य ध्वनिना घनानां हरेरपेतस्य च शैलरन्ध्रात्।
निरस्तधूमस्य च रात्रिवह्नेर्विना तनुत्रेण [32]रुचं स [33]लेभे॥17.46॥

---

30. अधरीकृतायाम्
31. हैमलेखम्
32. रुचिम्
33. भेजे

निराच्छदन निर्मलमूर्तेः खड्गस्य निर्मोके निर्मुक्ते सति सर्पस्य प्रतिगजकोपस्य निवारितमुखपटस्य हस्तिनः। तथा गर्जितेन चलितनिद्रस्यात एव गिरिकुहरान्निर्गतस्य सिंहस्य तथागत धूमस्य रात्रिपावकस्य च शोभां स निष्कवचो लब्धवान् ॥45, 46 ॥

अचित्ततायामपि नाम [34]सत्यामनूर्ध्वतां प्राप्य तदीयकृच्छ्रे।
महीं गतौ ताविषुधी तदानीं विवव्रतुश्चेतनयेव योगम् ॥ 17.47 ॥

पार्थसम्बन्धिकृच्छ्रे कष्टे युक्तामुचितामनूर्ध्वतामधोमुखत्वं प्राप्यतौ तूणौ नैसर्गिके चेतनाभावेऽपि चेतनया योगमिवावहताम्। चेतनावान्हि भृत्यः स्वामिविपदा विमनसो भवति ॥47 ॥

स्थितं विशुद्धे नभसीव सत्त्वे धाम्ना तपोवीर्यमयेन युक्तम्।
शस्त्राभिघातैस्तमजस्त्रमीशस्त्वष्टाविवस्वन्तमिवोल्लिलेख ॥ 17.48 ॥

विशुद्धे सत्त्वे धैर्ये स्थितं तपो वीर्यं च प्रकृतिर्यस्य तेन धाम्ना तेजसा युक्तं पार्थं मुहुर्मुहुरीशः शरप्रहारैरतक्षत्। यथाकाशे स्थितं तेजस्विनमर्कं विश्वकर्मातक्षत् ॥48 ॥

संरम्भवेगोज्झितवेदनेषु गात्रेषु बाधिर्यमुपागतेषु।
[35]बभूव तस्यागणिताहितोषोर्लोहस्तिरस्कार इवात्ममन्युः ॥ 17.49 ॥

संरम्भोद्रेकागणितव्ययेष्वङ्गेषु बाधिर्यमव्यथत्वमिव गतेषु सत्सु अगणितशत्रु-शरस्यात्ममन्युरात्मक्रोधः शस्त्रमयः कवचोऽभूत्। कवचवन्तं यथा शस्त्राणि न व्यथन्ति तथा तं निष्कवचमपि क्रोधवन्तं न बाधन्त इत्यर्थः। तिरस्कारः सन्नाह अगणिता अवज्ञाताः। अन्यच्च सस्रम्भवेग आवेगातिशयः। तेनोद्धृता अपनीता वेदना पीडा बहवो येषु तानि संरम्भवेगोद्धृतवेदनानि गात्राणि एवंविधेष्वङ्गेष्वत एव बाधिर्यं जडतामुपगतेषु सत्सु ॥49 ॥

ततोऽनूपूर्वायतवृत्तबाहुः श्रीमान्क्षरल्लोहित[36]पङ्कदिग्धः।
आस्कन्द्य वेगेन विमुक्तनादः क्षितिं विधुन्वन्निव पार्ष्णिघातैः ॥ 17.50 ॥

साम्यं गतेनाशनिना मघोनः शशाङ्क[37]लेखाकृतिपाण्डुरेण।
[38]हरं बिभित्सुर्धनुषा जघान [39]स्तम्भं विषाणेन महानिवेभः ॥ 17.51 ॥

---

34. युक्ताम्
35. मुनेर्बभूवागणितेषुराशेर्लौहस्ति....
36. दिग्धदेहः
37. खण्डकृति
38. शंभुम्
39. स्तम्बम्

पूर्वमनुगतावयतौ दीर्घौ बाहू यस्य युक्तो निर्गच्छद्रुधिरलिप्तः पार्थो वेगेनोत्प्लुत्य चरणाधोभागताडनैर्महीं कम्पयन्निव हरं प्रजिहीर्षुर्धनुषा शक्रस्य वज्रेण साम्यं गतेन शशाङ्ककलाकुटिलेन पाण्डुरेण हरं हतवान्। यथानलस्तम्बं मदहस्तीदन्तेन हन्ति॥50, 51॥

[40]रवेन सा सन्निदधे पतन्ती [41]महेश्वरेणात्मनि चापयष्टिः।
समुद्धता सिन्धुरनेकमार्गा परे स्थितेनौजसि जह्नुनेव॥17.52॥

वेगेन पतन्ति सा चापयष्टिः हरेण परे तेजसि स्थितेन सन्निदधे, सन्निहिता। यथाऽनेकमार्गगा सिन्धुः त्रिपथगा नदी गगनाद्वेगेन पतन्ती सती जह्नुना परे ब्रह्ममये तेजसि स्थितेन सुशरीरे स्थापिता। तथा सा धनुर्लतावेशेन निपतन्ती महेश्वरेण परस्मिन् परमात्मनि लक्षणे तेजसि स्थितेनात्मनि निहिता परममोज अन्तरं तेजः॥

विकार्मुकः कर्मसु [42]शोच्यपूज्यः परिच्युतौदार्य इवोपचारः।
विचिक्षिपे शूलभृता सलीलं स पत्रिभिर्दूरमदूरपातैः॥17.53॥

धनुर्दण्डरहितोऽत एव कर्मसु युद्धेषु सुष्ठ्वतीव शोच्योऽपि पूज्यः धैर्यावष्टम्भात्। समीपे पतद्भिः शरैः करणभूतैहरिण स पार्थोऽधिक्षिप्तः। यथोदार्यरहित उपचार आचारः स यथापदि च्युतौदार्यः कर्मण्ययुक्तः शोच्यः पूजनीयश्च भवति॥53॥

उपोढकल्याणफलोऽभिरक्षन् वीरव्रतं पुण्यरणाश्रमस्थः।
[43]महोपवासैरिव संयतात्मा तेपे मुनिस्तैरिषुभिः शिवस्य॥17.54॥

उप समीपे ऊढं कल्याणं फलप्राप्तिलक्षणं येन तथा वीरव्रतमग्रे गमनमभिरक्षन् पुण्यरणच्छलरहितो यो रणः स एवाश्रमस्तत्रस्थो मुनिः तैः शिवस्य शरैः पार्थस्तेपे। यथा महोपवासैश्चान्द्रायणादिभिः शान्तात्मा मुनिस्तप्यते॥54॥

ततोऽग्रभूमिं व्यवसायसिद्धेः [44]सीमान्तमन्यैरतिदुस्तरं सः।
तेजः [45]प्रयासाश्रयमुत्तमासिं साक्षादहंकारमि[46]वालालम्भे॥17.55॥

---

40. रयेण
41. भवोद्भवेन
42. शोचनीयः
43. जपोपवासैः
44. सीमानम्
45. श्रियाम
46. आललम्भे

उत्साहसिद्धेरग्रभूमिं तथार्जुनव्यतिरिक्तैरतिदुस्तरं सीम्नोऽन्तम्। तथा तेजः प्रयासस्याश्रयस्थानमत एव मूर्तमहंकारमिवोत्तमं खड्गं गृहीतवान् ॥55॥

शरानवद्यन्ननवद्यकर्मा चचार चित्रं प्रविचारमार्गैः।
हस्तेन निस्त्रिंशभृ[47]तातिदीप्तः सार्कांशुना वारिधिरूर्मिणेव ॥ 17.56 ॥

मार्गैः गतप्रत्यागतरूपैः स चचार शम्भुप्रयुक्ताञ्शरानवद्यन्खण्डयन्। निर्दोषकर्मा खड्गभृता करेणातिदीप्तः। अत एव स सूर्यरश्मिना तरङ्गेनेव समुद्रः ॥56॥

यथा निजे वर्त्मनि भाति भाभिश्छायामयश्चाप्सु सहस्त्ररश्मिः।
तथा नभस्याशु वनस्थलीषु स्पष्टद्विमूर्तिर्ददृशे स भूतैः ॥ 17.57 ॥

यथा सूर्यः स्वमार्गे आकाशे तथा जलेषु प्रतिबिम्बमयश्च भाति। तथा सत्वरं भ्रमन् स पार्थो वनभूमिषु गगने च भूतैः प्रकटद्विमूर्ति ददृशे। उत्पलावफलाभ्यां आकाशे भूमौ च दृष्ट इत्यर्थः ॥57॥

शिवप्रणुन्नेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशादपवर्जिताङ्गः।
ज्वलन्नसिस्तस्य पपात पाणेर्घनस्य वप्रादिव वैद्युतोऽग्निः ॥ 17.58 ॥

हरप्रयूक्तेन शरेण मुष्टस्थानाच्छिन्नाङ्गः खड्गः तस्य हस्ताज्ज्वलन्नपतत्। यथा मेघस्य वप्रात्तटाद्विद्युदग्निः ॥58॥

आक्षिप्तचापावरणेषुजालश्छिन्नेत्तमासिः स मृधेऽवधूतः।
रिक्तः प्रकाशश्च बभूव भमे[48]रुत्सारितोद्यान इव प्रदेशः ॥ 17.59 ॥

अपहृतधनुः कवचशरव्रातस्तथा च्छिन्नमहाखड्गः। तथा युद्धे पराजितः पार्थः शरादिरहितत्वाद्रिक्तो धैर्यतेजोमयत्वात्प्रकाशश्चासीत्। यथा लूनोद्यानः प्रदेशो रिक्तः प्रकाशश्च ॥59॥

स [49]खण्डनाम् प्राप्य [50]परामर्षवान् भुजद्वितीयोऽपि विजेतुमिच्छया।
ससर्ज वृष्टिं परिरुग्णपादपां [51]जवेन रोषात्पयसामिवाश्मनाम् ॥ 17.60 ॥

शत्रोः सकाशात्पराभवं प्राप्य स पार्थो भुजमात्रमशिवोऽपि जेतुमभिलाषात्पाषाणानां वृष्टिं भग्नवृक्षां विकीर्णवान्। अतिनिरन्तरत्वात् पयसामित्युपमानम् ॥60॥

---

47. स दीप्तः
48. उत्सादित
49. खण्डनम्
50. पराद्
51. द्रवेतरेषांपयसा.....

[52]निरन्ध्रे [53]गमितवति क्षयं पृषत्कैर्भूतानामधिपतिना शिलावितानेे।
उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तरालं चिक्षेप क्षितिरुहजालमिन्द्रसूनुः ॥17.61॥

भूतानामधिपतिना हरेण प्रयुक्तैः शरैः पाषाणवर्षे क्षपं गतवति सति पार्थ उच्छ्रायेनाच्छादितनभोदिङ्मुख्यं येन तद् वृक्षाजालं क्षिप्तवान्। गमितवतीति स्वार्थे णिच्। हेतुणिचि त्वर्थासङ्गतिप्रसङ्गः। शमित इति वा पाठः॥61॥

निःशेषं शकलितवल्कलाङ्गसारैः कुर्वद्भिर्भुवमभितः कषायचित्राम्।
ईशानः सकुसुमपल्लवै[54]र्नगेन्द्रैरातेन बलिमिव रङ्गदेवताभ्यः ॥17.62॥

ईशानः सकुसुमपल्लवैर्नगेन्द्रैः वृक्षैः रणरङ्गदेवताभ्यो बलिमिव वितेने। कथं निःशेषं शकलित वल्कलाङ्गसारैः। शकलितानि वल्कलानि त्वदोऽङ्गानि शाखाश्छन्दादीनि सारोऽन्तर्ग्रन्थयो येषां ते शकलितवल्कलाङ्गसाराः। अभितः समन्ताद्भुवं भूमिं कषायेण रसेन चित्रामनेकवर्णामातन्वद्भिरेवंविधैस्तरुवरैः सपुष्पैः सपल्लवैश्चेतस्ततो विक्षिप्तै रणाजिरे देवताभ्य उपहारमिव कुर्वन्नीश्वरो दृश्यतेत्यर्थः। यद्वा पाटितत्वगङ्गमज्जाभिः सपुष्पपत्रैरत एव भूमिं कषायां चित्रां च कुर्वद्भिस्तैर्वृक्षैर्भगवान् रणरङ्गदेवेभ्यः प्रजामिवाकरोत्॥62॥

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः।
गाण्डीवी कनक[55]शिलाघनं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वृक्षः ॥17.63॥

यथा गङ्गायामकरस्तथा शरनद्याः संमुखेमेत्योन्मज्जन् गाण्डीवी पार्थो हरस्योरः। कनकपट्टविशालं भुजाभ्यामाहतवान्। आजघ्न इति चिन्त्यम्॥63॥

अभिलषत उपायं विक्रमं कीर्तिलक्ष्म्यो-
[56]रसुतरमरिसैन्यैरङ्गमभ्यागतस्य।
जनक इव शिशुत्वे सुप्रियस्यैकसूनो
रविनय[57]मविषेहे पाण्डवस्य स्मरारिः ॥17.64॥

भगवान् पार्थस्यौद्धत्यमपि सोढवान्। कीर्तिश्रियोरूपायं विक्रमं कांक्षतः शत्रुकुलैर्दुस्तरं समीपवर्तिनः। यथाङ्कस्थस्य च कस्य पुत्रस्य बाल्ये अविनयं पिता सहते॥64॥

इति श्रीजोनराजकृतायां किरातार्जुनीयटीकायां सप्तदशः सर्गः॥

---

52. निरन्ध्रम्
53. परिगमित
54. नगैस्तैः
55. शिलानिभम्
56. असुगमम्
57. अपि सेहे

॥अष्टादशः सर्गः॥

ॐ ततः उदग्र इव द्विरदे मुनौ रणमुपेयुषि भीमभुजायुधे।
[1]धनुरुदस्य सबाणधि शंकरः प्रतिजघान घनैरिव मुष्टिभिः॥18.1॥

उदग्रे मत्ते गजे इव भीमभुजमात्रयुधे पार्थे युद्धं कृतवति सति सबाणधि सतूणं धनुरुदस्य त्यक्त्वा हरो घनैरिव अयः कुण्ठनानि घनाः शस्त्रकुटकसमैर्मुष्टिभिर्हतवान्। बाहुयुद्धं तयोरभूदित्यर्थः॥1॥

हरपृथासुतयोर्ध्वनिरुत्पतन्नमृदुसंवलिताङ्गुलिपाणिजः।
स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः प्रतिननाद दरीषु [2]महीभृतः॥18.2॥

अमृदु निविडं वलिता अङ्गुलयो ययो पाण्योस्ताभ्यां जातः। तथा स्फुटन्त्योऽनल्पावृहत्यो याः शिलास्तासां रवद्दारुण उत्पन्हरपार्थयोः शब्दशैलस्य गुहासु प्रतिश्रुतिं प्राप॥2॥

शिवभुजाहृतिभिन्नपृथुक्षतिः सुखमिवानुबभूव कपिध्वजः।
क इव नाम बृहन्मनसां भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः॥18.3॥

शिवस्य भूजाभ्यामाहत्याभिन्नानि पृथूनि क्षतानि व्रणा यस्य स पार्थः सुखमिवान्वभूत्। पीडा दूरेस्तु प्रत्युतमुखानुभव इवान्वभूत्। युक्तमेतत्, महात्मनां धैर्यशालिनां अनुकृति चलया अपि क्षमः समर्थः। क इव नाम भवेत्। जयप्राप्त्यभावस्तु दण्डापूपिकया सिद्धः। सुखं च महेश्वराङ्गसङ्गजमत्र ज्ञेयम्॥3॥

व्रणमुखच्युतशोणितशीकरस्थगितशैलतटाभभुजान्तरः।
अभिनवौषसरागभृता बभौ जलधरेण समानमुमापतिः॥18.4॥

व्रणमुखेभ्यः द्युतैः शोणितशीकरैः स्थगितं शैलतटवदुरुभुजान्तरं वक्षो यस्य स उमापतिः किरातोत्तमो भगवान्नवसान्ध्य रागजुषा मेघेन समानं सदृशतया बभौ॥4॥

---

1. धनुरपास्य
2. दरीभृतः

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः॥18.5॥

शम्भोर्वक्षसि प्रहिताः पार्थमुष्टयः प्रतिघातमापुः। यथा सह्यपर्वतस्य तटे समुद्रलहर्यः पृथुतया महावेगाः॥5॥

निपतितेऽधिशिरोधरमायते सम[3]मरत्रियुगेऽयुगचक्षुषः।
त्रिचतुरेषु पदेषु किरीटिना लुलितदृष्टि मदादिव चस्खले॥18.6॥

अधिशिरोधरं कन्धराप्रदेशे विषयभूते अयुगचक्षुषो हरस्य सम्बन्ध्यरत्रियुगे समं युगपन्निपतिते सति किरीटिनार्जुनेन त्रिचतुरेषु पदेषु त्रिषु वा चतुर्षु वा पदेषु क्रमेषु सम्भ्रान्ते क्षणं चस्खले स्खलितम्। मदादिवेत्युत्प्रेक्ष्यते मत्तश्च स्खलति। चस्खले इति भावे लिट्। "अचतुरविचतुर्....०" (5/4/77 पा.) इत्यादिना त्रिशब्दः साधुः अरत्रिर्बद्धमुष्टित्याहुः॥6॥

अभिभ[4]वोत्थितमन्युविदीपितः समभिसृत्य भृशं जवमोजसा।
[5]करयुगेन विभज्य [6]समादधे शशिकलाभरणस्य भुजद्वयम्॥18.7॥

अभिभवादुत्थितं न मन्युना, दीपितो ज्वलितस्तेजसा वेगं सम्भृत्य पार्थो हस्तद्वयेनामर्ष्य बाहुद्वयं बद्धवान्। यद्वा ज्वलितः सन् भृशं जवं समभिहत्य सुतरां वेशमाहत्य पराक्रमेण विभज्य भुजद्वयं भगवतो भुजाभ्यां जग्राह। विभज्य कुटिलीकृत्य पोटयित्वा करे कृत्य जग्राहेत्यर्थः। मन्युः क्रोधः॥7॥

प्रववृतेऽथ महाहवमल्लयोरचलसंचलनाहरणो रणः।
करणशृङ्खलसङ्कलनागुरुर्गुरुभुजायुधगर्वितयोस्तयोः॥18.8॥

तयोरीश्वरार्जुनयोर्युद्धं प्रववृते। महाहवे मल्लयोः तथा भुजाभ्यां भुजायुधाभ्यां दृप्तयोः। अचलस्य संचलं कम्पमाहरन्ति। तथा करणानां घातपराघातानां परोपमर्दस्वात्मरक्षारूपं यच्छृङ्खलं तस्य सङ्कलनया योजनया गुरुः तयोरिति द्वयोरुपादानं समशौर्यप्रतिपत्त्यर्थम्॥8॥

अयमसौ भगवानुत पाण्डवः स्थितमवाङ्मुनिना शशिमौलिना।
समधिरूढमजेन नु जिष्णुना स्विदिति वेगवशान्मुमुहे गणैः॥18.9॥

---

3. अरत्नि
4. उदित
5. भुजयुगेन
6. समाददे

अयं किं भगवान्, किं पार्थः मुनिना किमधस्थितम्। किं स्विदीश्वरेण, किमजेन भगवतारूढम्। किंमर्जुनेनेति गणैरयवशान्मोहः प्राप्तः। तयोः शौर्यलाघवं सममासीदित्यर्थः ॥9॥

[7]प्रचलने चलितं स्थितमास्थिते [8]विनमने नतमुन्नतमुन्नतौ।
वृषकपिध्वजयोरसहिष्णुना मुहुरभावभयादिव भूभृता॥18.10॥

वृषकपिध्वजयोः प्रचलने सति पर्वतेन चलितं कम्पितम्। तयोरसिते आस्थिते सति पर्वतेन स्थितम्। तथा तयोर्विनमनं पर्वतेन नतम्। तथा तयोरुन्नमने सति पर्वतेनोन्नतम्। यतोऽसहिष्णुना संमर्दसहेन अतः। अभावभयादि वेत्युत्प्रेक्ष्यते। एतत्सम्मन्दान्तरेऽहमपि न भविष्यामीति भीत इव तावदद्रिरनुकृतवान्। दुर्बलो बलिनः सकाशादभावसाशङ्कमानस्तमनुकरोति ॥10॥

करण[9]विभ्रमनिःसृतयोस्तयोः कृतभुजध्वनि वल्गु विवल्गतोः।
चरणपातनिपातितरोधसः प्रससृपुःसरितः परितः स्थली॥18.11॥

करणेभ्यो बन्धेभ्यो विभ्रमेण हेलया निःसृतयोर्निर्गतयोः कृता भुजाहतिर्यत्रैवं वल्गु मनोहरं कृत्वा विवल्गतोस्तयोश्चरणपातेन निपातितानि रोधांसि तटानि याभिस्ताः सरितो नद्यः कर्त्र्यः स्थलीः परितः प्रससृपुः प्रसर्पितवत्यः ॥11॥

वियति वेगपरिप्लुतमन्तरा समभिसृत्य रयेण कपिध्वजः।
चरणयोश्चरणानमित[10]क्षितं निजगृहे तिसृणां जयिनं पुराम्॥18.12॥

आकाशे वेगेन करणबन्धनिस्सरणाज्जयप्राप्तिसिद्ध्यर्थं परिप्लुतं कृतोत्फालं सन्तं हरं रयेणान्तरा मध्ये समभिसृत्य गत्वा पार्थः पादयोः निजगृहे बद्धवान्। यदाकाशे वेगपरिप्लुतं वेगेने सोत्फालं गत्वान्तरा पार्थो हरं चरणयोर्बद्धवान्। पादाघातनमितभूमिः ॥12॥

विस्मितः सपदि तेन कर्मणा कर्मणां क्षयकरः परः पुमान्।
क्षेप्तुकाममवनौ तमक्लमं निष्पिपेष परिरभ्य वक्षसा॥18.13॥

तेन कर्मणा उत्प्लुत्य मध्ये चरणबन्धेन विस्मितः साश्चर्यः कमर्णां पुण्यापुण्यरूपाणां क्षयकरः परः पुमान् भगवान् भूमौ पातयितुं कामं पार्थं वक्षसा परिरभ्य क्लेशरहितं कृत्वाऽपीडयत् ॥13॥

---

7. प्रचलिते
8. विनमिते
9. शङ्कल
10. क्षितिः

तपसा तथा न मुदमस्य ययौ भगवान् यथा विपुलसत्त्वतया।
गुणसंहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम्॥18.14॥

तपसा करणभूतेन भगवान् प्रसादं न तथा गतो यथा महासत्त्वतया गतः। युक्तमेतत् सतां गुणश्रेणेरधिकं निजमेव धैर्यं उपकारकम्। तपोमुखा गुणा हि कृत्रिमाः सत्तं निजमकृत्रिमम्॥14॥

अथ हिमशुचिभस्मभूषितं शिरसि विराजितमिन्दुलेखया।
स्ववपुरतिमनोहरं हरं दधतमुदीक्ष्य ननाम पाण्डवः॥18.15॥

हिमसितभस्मात्कृतं तथा चन्द्रकलया मूर्ध्नि शोभितमत एव मनोहरं शरीरं दधतं हरं दृष्ट्वा प्रणतवान्॥15॥

सहशरधि [11]तथा निजं कार्मुकं वपुरतनु तथैव संवर्मितम्।
निहितमपि तथैव पश्यन्नसिं वृषभगतिरुपाययौ विस्मयम्॥18.16॥

सहशरधिभ्यां वर्तमानं स्वं धनु तथा प्राग्वत् संवर्मितं कवचितं वपुस्तथा। तथा निहितं स्वस्थाने न्यस्तमसिं पश्यन् स पार्थो वृषभवद्गतिर्यस्य स विस्मयं प्राप। कथं चापादयो रणकाले विनष्टा इदानीं स्पष्ट इति॥16॥

सिषिचुरवनिमम्बुवाहाः शनैः सुरकुसुममियाय चित्रं दिवः।
विमलरुचि भृशं नभो दुन्दुभेर्ध्वनिरखिलमनाहतस्यानशे॥18.17॥

मेघा भूमिं सिक्तवन्तः नानारूपं देवपुष्पं स्वगादपतत्। अनाहतस्य कोणघट्टनं विना दुन्दुभेः पटहस्य शब्दो निरभ्रं व्योम व्याप्तवान्॥17॥

आसेदुषां गोत्रभिदोऽनुवृत्त्या गोपायकानां भुवनत्रयस्य।
रोचिष्णुरत्नावलिभिर्विमानैर्द्यौराचिता तारकितेव रेजे॥18.18॥

इन्द्रस्यागमनेन हेतुना दिवमासेदुषां भुवनत्रयस्य गोपायकानां रक्षितृणां सम्बन्धिभिः स्फुरन्मणिश्रेणीभिर्विमानैः करणभूतैः द्यौराकाशतारकिता संजाता तारकेव दीदीपे॥18॥

हंसा बृहन्तः सुरसद्मवाहाः संहादिकण्ठाभरणाः पतन्तः।
चक्रुः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्व्योम्नः परिष्वङ्गमिवाग्रपक्षैः॥18.19॥

सुरसद्मानि विमानानि वहन्ति। एवंविधा बृहन्तो महान्तास्तथा संहियमाणाः कण्ठा एवाभरणं येषां ते। तथा आपतन्तो हंसा उत्कण्ठावशात्प्रयत्नेन विक्षिप्यमाणैरग्रपक्षैराकाश-

---

11. निजं तथा

स्यालिङ्गनमिव चक्रुः। ब्रह्माद्या देवाः सोत्कण्ठत्वात्। तत्स्थानमाकाशमार्गेणा-गच्छन्नित्यर्थः॥19॥

मुदितमधुलिहो [12]वितानाकृतीः स्रज उपरि वितत्य सान्तानिकीः।
जलद इव निषेदिवासं वृषे मरुदुपसुखयांबभूवेश्वरम्॥18.20॥

मुदिता मधुलिहा याभिस्तया वितानवदाकृतिर्यासां ताः सन्तानकपुष्पमालां विस्तार्य पवनो भगवन्तं मेघशुभ्रे वृषभे आरूढमसुखयत्॥20॥

कृतधृति परिवन्दितेनोच्चकैर्गणपतिभिरभिन्नरोमोद्गमैः।
तपसि कृतफले फलज्यायसी स्तुतिरिति जगदे हरेः सूनुना॥18.21॥

अभिन्नः सदृशो रोमोद्गमो रोमाञ्चो येषां तैर्गणेन्द्रैः कृता धृतिरसुरभयापगमं संभावनयम् यत्रैवं। त्वा सफलीभूते तपसि विषये श्लाषितेनार्जुनेन फलेनास्त्राद्य वाप्तिरूपेण ज्यायसी श्रेष्ठा स्तुतिर्जगदे॥21॥

शरणं भवन्तमतिकारुणिकं भव भक्तिगम्यमधिगम्य जनाः।
जितमृत्यवोऽजित भवन्ति भये ससुरासुरस्य जगतः शरणम्॥18.22॥

हे अजित अपराजित भव भक्तिगम्यं तथा करुणामयं त्वां शरणं प्राप्य जितमृत्यवो जनाः सुरासुरसहितस्य जगतो भये सति शरणं त्राणं भवन्ति॥22॥

विपदेति तावदवसादकरी न च कामसम्पदभिकामयते।
न नमन्ति चैकपुरुषं पुरुषास्तव यावदीश न नतिः क्रियते॥18.23॥

अवसादं कुर्वाणा विपत्तावदेति तावच्च प्रार्थितश्रीः पुरुषं नैति तावच्चैकमसमानं पुरुषं पुरुषा न नमन्ति यावदीश्वर तव प्रणामो न क्रियते॥23॥

[13]संशीलन्ते दानशीला विमुक्त्यै संपश्यन्तो जन्मदुःखं पुमांसः।
यन्निःसङ्गस्त्वं फलस्यानतेभ्यः [14]कारुण्यं तत्केवलं न स्वकार्यम्॥18.24॥

जन्मभिर्जन्ममरणैर्दुःखं पश्यन्तो जनन्तोऽनुभवन्तः पुरुषा मुक्त्यै मोक्षार्थं दानाचारादिशीलयन्ति। दुःखनिवारणार्थमुपायो युक्तः। त्वं पुनर्निसङ्गोऽपि निस्नेहोऽपि सन्नानतेभ्यः प्रणमद्भ्यो यत्फलसि वरं ददासि तत्केवलं कारुण्यं न तु सुकार्यम्। अयमर्थः सर्वे स्वार्थहेतोः प्रयत्नं कुर्वन्ति। त्वं पुनः परार्थप्रवृत्तये इत्यर्थः॥24॥

---

12. वितानीकृतिः
13. संसेवन्ते
14. तत्कारुण्यम्

प्राप्यते यदिह दूरमगत्वा यत्फलत्यपरलोकगताय।
तीर्थमस्ति न भवार्णवबाह्यं सार्वकामिकमृते भवतो[15]ऽन्यत्॥18.25॥

हे भव हर ते त्वां विनान्यतीर्थमेवंविधमित्यर्थः। दूरमनेकयोजनान्यगत्वा यत्प्राप्यते भगवत्तीर्थं तुसमीपतरम्, भगवतः सर्वमयत्वात्। तथा यत्तीर्थमपरलोकगताय जीविते एव फलति। तीर्थान्तरं परलोकफलदं, भगवत्तीर्थं तु इह जन्मन्येव फलदम्। मुक्तिप्रदत्वात्तथा भवार्णवाद्बाह्यम्॥25॥

व्रजति शुचि पदं त्वयि प्रीतिमान्प्रतिहतमतिरेति घोरां गतिम्।
इयमनघ निमित्तशक्तिः परा तव वरद न चित्तभेदः क्वचित्॥18.26॥

शुचिपदं त्वयि प्रीतिमान्व्रजति। त्वद्विषये भक्तिमान् निर्मलं स्थानं व्रजति। अपुनरावृत्तिलक्षणं स्थानमुपैति। यश्च प्रतिहतमति विप्रतिपन्नबुद्धिः स घोरां गतिमेति। तिर्यक्प्रेताधिकां योनिं प्रतिपद्यते। निष्क्रियस्य परात्मनः कुत एव रागद्वेषावित्याह हे अनघ वितरागद्वेषनिर्विकल्पं इयं निमित्तशक्तिः परा केवला भवति। निमित्तयोर्भक्ताभक्तयोः शक्तिः सामर्थ्यं हे वरद त्वयि भक्ते अभक्ते वा चित्तभेदेन भवति। सर्वत्र समदृष्टित्वमित्यर्थः॥26॥

दक्षिणां प्रणतदक्षिण मूर्तिं तत्त्वतः शिवकरिमविदित्वा।
रागिणापि विहिता तव भक्त्या संस्मृतिर्भव भवत्यभवाय॥18.27॥

हे प्रणतेभ्यो दक्षिण वरप्रद तव स्मृतिः स्मरणमजन्मने अभवाय भवति। तव दक्षिणां मूर्तिं तत्त्वतः स्वभावत एव शिवकरीमविदित्वा अज्ञात्वा रागिणा संसारिणा तव भक्त्या मूढेनापि भक्तिवशात् कृतं तव स्मरणं मुक्तिं ददातीत्यर्थः॥27॥

दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि विधाय
प्रेक्षाकारी याति पदं मुक्तमपायैः।
सम्यग्दृष्टिस्तस्य परं पश्यति यस्त्वां
यश्चोपास्ते साधु विधेयं स विधत्ते॥18.28॥

सः प्रेक्षाकारी सदृश्यानि दृष्ट्वा आचरणीयानि च विधाय उपायैर्युक्त्याभिज्ञाय ज्ञात्वा विधेयं चानुष्ठाय समीक्ष्यकारी शास्त्रविदनावृत्तिभयं स्थानमुपैति। ज्ञानकर्माभ्यां निःश्रेयसा व्याप्तिर्भवतीत्यर्थः। एवं स्थिते सति यस्त्वां पश्यति सर्वोत्कृष्टपरमार्थतया जानाति तस्य सम्यग्दृष्टिः सम्यग्ज्ञानं तथा यश्चोपास्ते स एव साधुकर्म करोति। एतदुक्तं

---

15. तत्

भवति, एतदेव सम्यग्ज्ञानं यत्त्वमेव परमिति निश्चितम्। तथा तदेव परं कर्तव्यं यत्त्वदुपासनम्। तदेव मोक्षसाधनं नान्यदीत्यर्थः। दृष्टिरत्र ज्ञानार्थः॥28॥

[16]मुक्ताः स्वशक्त्या मुनयः प्रजानां हितोपदेशैरुपकारवन्तः।
समुच्छिनत्सि त्वमचिन्त्यधामा कर्माण्युपेतस्य [17]दुरुद्धराणि॥18.29॥

स्वशक्त्या मुक्ता मुनयो हितोपदेशैः प्रजानामुपकारवन्तः। अन्ये ये महर्षयः कृष्णद्वैपायनादयः स्वसामर्थ्येनोत्तीर्णसंसारस्ते हितवचनैर्विधिनिषेधवाक्यैः प्रजानामुपकारवन्तः। त्वं पुनरुपेतस्य दुरुद्धराणि समुच्छिनत्सि। कथं दुरुच्छेदानि संसारफलानि कर्माणि उन्मूलयितुं शक्यानीत्याह अचिन्त्यधामेति धामप्रभावो महिमा चिन्तियितुमशक्यम्। अचिन्त्यं धाम यस्य सोऽचिन्त्यधामा सर्वाण्यतीत्यर्त्तित्वात्। एतेनान्योन्यकारुणिकेभ्यो भगवतोऽतिदूरं विशेष उक्तः ते हितोपदेशैः उपकारं प्रजानां कुर्वन्ति स पुनः कर्माण्येव क्षपयति। उपकार आत्यन्तिकदुःखप्रहारण्॥29॥

सन्निबंमपहर्तुमहार्यं भूरि दुर्गतिभयं भुवनानाम्।
[18]अद्भुताकृतिमयीमतिचित्रां त्वं बिभर्षि [19]करुणामतिमायः॥18.30॥

अद्भुताकृतिमयीमतिचित्रां करुणां त्वं बिभर्षि। किमर्थं भवनानां दुर्गति भयमपहर्तुम्। कीदृशं भूरि सन्निबद्धं जगतां गुरु दृढ नरकभयपातजिहीर्षतयाश्चर्यरूपां नानाप्रकारां त्वमेवकरुणां धत्से। अतिक्रान्ता माया जन्मजरामरणलक्षणा येन सोऽतिमायः॥30॥

न रागि चेतः परमा विलासिता वधूः शरीरेऽस्ति न चास्ति मन्मथः।
नमस्क्रिया चोषसि धातुरित्याहे निसर्गदुर्बेधमिदं तवेहितम्॥18.31॥

इदं तवेहितं अहो निसर्गदुर्बोधम् यतश्चेष्टितं दर्ज्ञानम्। तत्कारणमाह न चेतो रागि विलासिता च। सरसान्मत्तादिव्यसनया विलासित्वम्। एवमन्यत् शरीरे वधूश्च मन्मथश्च नास्ति धातुः स्त्रष्टुरपि सतः। उषसि सन्ध्यायां नमस्कारः अहो अतिशये॥31॥

तवोत्तरीयं करिचर्म साङ्गजं ज्वलन्मणिः सारसनं महानहिः।
[20]स्त्रगस्थिपङ्क्तिः [21]शिवभस्म चन्दनं कला हिमांशोश्च समं चकासति॥18.32॥

---

16. युक्ताः
17. दुरुत्तराणि
18. अद्भताकृतिमिमामतिमायः
19. करुणायम मायाम्
20. स्त्रगास्य
21. शव

साङ्गजं सरोमगजचर्म उत्तरीयं उत्तरामङ्गं दीप्तशिरोरत्नो महाभुजगः सारसनं प्रालस्वः। अस्थिपङ्क्तिः शिरोमाला चिताभस्मविलेपनम्। एतानि हिमांशोः कला च तव समं चकास्ति ॥32॥

अविग्रहस्याप्यतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठतः।
तवैव नान्यस्य जगत्सु [22]विद्यते विरुद्धवेशाभरणस्य कान्तता ॥18.33॥

अविग्रहस्यापि अशरीरस्यापि तव समेतभिन्नद्वयमूर्तिः संघट्टितभिन्नं द्वयमूर्तिर्यथा भवति एवं तिष्ठतः। अतुलेनासमेन हेतुना विरुद्धः पूर्वोक्तो वेश आभरणं यस्य स एवंविधस्य कान्तता रामणीयमकं तवैव लोकेऽस्ति न त्वन्यस्य विद्यते। अविग्रहस्यापि समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठतः। समेता सम्बन्धा भिन्ना विलक्षणा द्वयी स्त्रीपुंसरुपा मूर्तिर्यत्र तत्समेतभिन्नद्वयमूर्ति स्थानक्रियाविशेषणं, अविग्रहस्याप्यशरीरस्यापि पुरुषरूपत्वात्। किमित्यविग्रहेऽपि संघटितविभिन्नद्वयमूर्ति। तिष्ठतेत्याह अतुलेन हेतुना असमेन कारणेन असमत्वहेतोरत्यर्थं। विरुद्धः पूर्वोक्तवेश एवाभरणो यस्य स विरुद्धवेशाभरणः। एवंविधस्य तवैव रमणीयंकं लोकेषु ॥33॥

आत्मलाभपरिणामनिरोधैर्भूतसंघ इव न त्वमुपेतः।
तेन सर्वभुवनातिग [23]लोकैर्नोपमानमसि नाप्युपमेयः ॥18.34॥

आत्मलाभ उत्पत्तिः परिणामो जरा निरोधो विनाशः तैर्जन्मजरामरणैरुपेतोऽभिभूतः त्वं भूतसङ्घ इव न। यथा भूतसङ्घः चतुर्दशविधः कृत्स्न एष भूतसर्गस्तैरभिभूतः तथा त्वं तैर्न परिभूतः। अतो हे सर्वभुवनतातिग सर्वलोकातिशायिन् त्वया कश्चिदुपमीयते न सर्वविलक्षणत्वात्। नोपरमानमसि नाप्युपमेयः ॥34॥

त्वमन्तकः स्थावरजङ्गमानां त्वया जगत्प्राणिति देव विश्वम्।
त्वं योगिनां हेतुफले रुणत्सि त्वं कारणं कारणकारणानाम् ॥18.35॥

स्थावराणां पर्वतादीनां जङ्गमादीनां त्वमन्तकः मृत्युः। हे देव त्वया हेतुना जगत्प्राणिति जीवित। योगिनां यतीनां हेतुफले जन्मकर्मणी त्वं निवर्तयसि। हे कारणकारणानां प्रजापतिनां त्वं स्रष्टा ॥35॥

रक्षोभिः सुरमनुजैर्दितेः सुतैर्वा
यल्लोकेष्वविकलमाप्तमाधिपत्यम्।
[24]पावित्र्याः शरणगतार्तिहारिणे त -
न्नमाहात्म्यं भव भवते नमस्क्रियायाः ॥18.36॥

---

22. दृश्यते
23. लोके
24. पाविन्याः

राक्षसैर्देवैर्मनुष्यैर्दैत्यैर्वा यल्लोकेषु ऐश्वर्यं प्राप्ततश्शरणागतानामार्तिहारिणे दु:खहर्त्रे तुभ्यं नमस्क्रियाया नमस्कारस्य महत्त्वम्। पावित्र्या: पवनं विधात्र्या: भवेत्यामन्त्रणम्। रक्षोभि रावणादिभि:, सुरै: कुवेरादिभि:, दितिजै: बाणप्रभृतिभि:, मनुजैर्जरासन्धादिभि: यत् परिपूर्णं ऐश्वर्यं प्राप्तं तद्भगवतो नमस्क्रियाया माहात्म्यम् ॥36 ॥

तरसा भुवनानि यो बिभर्ति ध्वनति बह्म यत: परं पवित्रम्।
परितो दुरितानि य: पुनिते शिव तस्मै पवनात्मने नमस्ते ॥ 18.37 ॥

तरसा बलने भूवनानि प्रणाद्यात्मकतवाद्यो बिभर्ति यस्माद् ब्रह्म ध्वनति तथोक्तं तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं य: परितो दुरितानि पापानि पुनिते हरति। दुरितानीति परित: शब्दयोगे द्वितीया। एवंविधा यत्तुभ्यमनिलात्मने नम:। पवनाद्यात्मक त्वं च शिवस्याष्टमूर्तित्वात् ॥37 ॥

भवत: स्मरतां सदासने जयिनि ब्रह्ममये निषेदुषाम्।
दहते भवबीजसन्ततीं शिखिनेऽनेकशिखाय ते नम: ॥ 18.38 ॥

ब्रह्ममये ब्रह्मणि सदासने निषेदुषां भवत: स्मरतां, भवन्तं चिन्तयतां ब्रह्मासनस्थिरमुखानां योगिनामित्यर्थ:। संसारकारणसन्ततिं दहते तुभ्यं अनेकज्वालाय शिखिने ज्वलनाय नम: ॥38 ॥

आबाधामरणभयार्चिषा चिराय
प्लुष्टेभ्य: [25]शिव महता भवानलेन।
निर्वाणं [26]समुपगमेऽभियच्छते
ते बीजानां प्रभव नमोऽस्तु जीवनाय ॥ 18.39 ॥

हे शिव आबाध आतत्को मरणं पंचमत्वमाभ्यां भयमवार्चिषो भयमवार्चिषो ज्वाला यस्यैवंविधेन संसाराग्निना प्लुष्टेभ्यो दग्धेभ्य: समुपगमो निर्वाणं मुक्तिमधियच्छते ददते तुभ्यं जीवनरूपाय। अथ च जलस्वभाव नमोस्तु। जलस्य हि प्लुष्टनिर्वापकं स्वभाव: प्रभवत्यस्मादिति प्रभव: बीजानां जगत्कारणानां प्रभव: तस्यामन्त्रणं शिवेति बीजानामप: प्रभावोऽप्यमयत्वात्। संसारस्यापि एव समर्जादाविति वा मूलप्रकृतित्वात् ॥39 ॥

य: सर्वेषामावरीता वरीयान् सर्वै: [27]शश्वन्नावृतो[28] ऽनादिनष्ठ:।
मार्गातीतायेन्द्रियाणां नमस्तेऽविज्ञेयाय व्योमरूपाय तस्मै ॥ 18.40 ॥

---

25. भव
26. समुपगमेन यच्छते
27. भावै:
28. अनादिनिष्ठ:

सर्वेषां पदार्थानां य आवरीता आच्छादयिता वरीयान् महानुत्कृष्टः यः सर्वैर्महाभुतैर्नावृतो नाच्छादितः। योऽन्यैर्न व्याप्त इत्यर्थः। तेन सर्वं व्याप्तं न तु सोऽन्यैरिति अर्थः। तथा विद्यमाने आदिनष्ठे उत्पत्तिविनाशौ यस्य सः, नित्य इत्यर्थः। इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मार्गात्। यथा स्वं विषयादतीताय अमूर्तत्वाद्यदिन्द्रियविषयो न भवति तत्कथमस्तीति विज्ञायत इत्यर्थः। अविज्ञेयाय विज्ञातुमशक्याय लिङ्गात्। तच्च लिङ्गं गुणं शब्दः। न गुणा गुणिनमन्तरेण भवन्ति इति द्रव्याक्षिप्तं तच्चाकाशमित्यलमनेनैषां च सलीलादीनामपवर्गादीनामविमुक्तं पृथिव्यादीनां द्रव्याणां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति वचनात्। व्योमरूपिणे तुभ्यं नमः। व्योमव्याप्येवंविधम् ॥40॥

अणीयसे विश्व[29]विधायिने नमो नमोऽन्तिकस्थाय [30]सते दवीयसे।
अतीत्य वाचां मनसां च गोचरं स्थिताय ते तत्पतये नमो नमः॥18.41॥

अणीयसे परमसूक्ष्माय परमात्मने विश्वविधायिने जगत्कर्त्रे अन्तिकस्थायापि सते समीपवर्तिने अपि विद्यमानाय हृद्गुहाशयत्वात्। दवीयसे दूरस्थाय अनेकजन्मप्राप्यत्वात्। वाचां गिरां मनसां चित्तानां च गोचरं विषयमतीत्योल्लङ्घ्य स्थितापतत्पतये वाङ्मनसपतये। वाङ्मनसयोः परामर्षः एवंविधाय तुभ्यं नमः ॥41॥

असंविदानस्य ममेश संविदां तितिक्षितुं दुश्चरितं त्वमर्हसि।
[31]विरुध्य मोहात्पुनरभ्युपेयुषां गतिर्भवानेव दुरात्मनामपि॥18.42॥

संविदां ज्ञानानां ईश प्रभो असंविदानस्याजानतो मम दुश्चरितमपराधं तितिक्षितुमर्हसि। यतः अज्ञानाद्विरुध्य विरोधं कृत्वा पुनरभ्युपेयुषां शरणमागतानां दुरात्मनां पापिनामपि भवानेव गतिराश्रयः ॥42॥

आस्तिक्यशुद्धमवतः प्रियधर्म धर्म
धर्मात्मजस्य [32]विहितापदि शत्रुवर्गे।
संप्राप्नुयां विजयनीश यया समृद्ध्या
तां भूतनाथ विभूतां वितराहवेषु॥18.43॥

हे ईश प्रियधर्म प्रियो धर्मो यस्यैवंविधे आस्तिक्यमागमः प्रमाणमिति निश्चयः तेन शुद्धं दोषरहितं कर्मावतः संरक्षत इत्यर्थः। एवंविधस्य विहिताकृता आपद्विपद्येनैवंविधे

---

29. विधारिणे
30. नमो
31. विरोध्य
32. विहितागसि

शत्रुसमूहे यया समृद्धया विजयमहं प्राप्नुयाम्। हे भूतनाथ तां सङ्ग्रामेषु मह्यं वितर। देहि मह्यमिति शेषः ॥43॥

इति निगदितवन्तं सूनुमुच्चैर्मघोनः
प्रणतशिरसमीशः सादरं सान्त्वयित्वा।
ज्वलनलपरीतं रौद्रमस्त्र दधानं
धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश ॥18.44॥

एवमुक्तवन्तं नतमूर्धानं शक्रतनयं सादरं यथा भवति एवं सान्त्वयित्वा आश्वास्य प्रीणयित्वा ज्वलज्वलनव्याप्तं रौद्रंपाशुपतमस्त्र दधानो बिभ्रच्छिवोऽस्मार्जुनाय धनुरुपपदं वेदं दधौ। 'धनुः' शब्द उपपदं समीपपदं यस्य तं वेदं धनुर्वेदमितयर्थः। इत्यादि देशोपदिष्टवानित्यर्थः ॥44॥

स पिङ्गाक्षः श्रीमान् भुवनमहनीयेन महसा
तनुं भीमां बिभ्रत्त्रिगुणपरिवारप्रहरणः।
परीत्येशानं त्रिः स्तुतिभिरुपगीतः सुरगणैः
सुतं पाण्डोर्वीरं जलदमिव भास्वा[33]नुपययौ ॥18.45॥

स धनुर्वेदः पिङ्गाक्षः कपिनेत्रो लक्ष्मीवान् लोकपूण्येन हेतुना भीमां दुष्प्रेक्षां मूर्तिं बिभ्रत्। त्रयो गुणाः अवयवाः शिक्षा यस्य स त्रिगुणः त्रिशिखः परिवारः संस्थानमाकृतिर्यस्य स तत्त्रिगुणपरिवारं त्रिशूलं प्रहरणामायुधं यस्य त्रिशूलायुध इत्यर्थः। तथा सुरगणैः स्तुतिभिरुपगीतः। एवंविधः स ईशानं शम्भुं त्रिः त्रिन्वारान्परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य पाण्डपुत्रमश्रभ्यागमत्। जलदं मेघमिव श्यामत्वात् रविर्गच्छति। श्रीपदादयो धर्मा यथा योगमत्रापि योजनीया। पाण्डुपुत्रस्य जलदेनोपमा श्यामत्वात् ॥45॥

अथ [34]शशिधरमौलेरभ्यनुज्ञामवाप्य
त्रिदशपतिपुरोगाः पूर्णकामाय तस्मै।
अवितथफलमाशीर्वादमारोपयन्तो
विजयि विविधमस्त्र लोकपाला वितेरुः ॥18.46॥

अथ यूयमपि यथायथमस्त्रादिदध्वमित्येवं चन्द्रमौलेरनुज्ञामवाप्येन्द्रमुखा लोकपालाः कुवेरादयः तस्मै पार्थाय विजयति तच्छीलं विजयि अनेक प्रकारमस्त्र दधुः। अवितथं

---

33. अभिययौ
34. शशधर

यथार्थं सत्यमाशीर्वादमारोपयन्तः परान् पराजयस्वेति सत्यामाशिषं प्रयुञ्जानाः। पूर्णकामाय पूर्णमनोरथाय अवितथ तथाविधमेव फलं यस्य तादृशमाशीर्वादमारोपयन्तः ॥46 ॥

असंहार्योत्साहं जयिनमुदयं प्राप्य तरसा
धुरं गुर्वीं वोढुंस्थितमनवसादाय जगतः।
स्वधाम्ना लोकानां तमुपरि कृतस्थानममरा-
स्तपोलक्ष्म्यादीप्तं दिनकृतमिवोच्चैरुपजगुः ॥18.47 ॥

अमरास्तमुपजगुः। कीदृशं जयिनमुदयं असंहार्योत्साहं संहर्तुमशक्यमसंहार्य दिव्यास्त्रलाभाज्जयिनं शीलं माहात्म्यमासाद्यासंहार्य पौरुषजानमित्यर्थः। जगतोऽनवसादाय तरसा बलेन गुर्वीं धुरं वोढुं स्थितंतैरन्यस्यामुना तत्कारणार्थं महति भारे दत्तस्कन्धमित्यर्थः। स्वधाम्ना लोकानामुपरि कृतपदम्। सहजेन तेजसा स वेषा राज्ञां शिरसि विन्यस्तपादं जयित्वात्। तपसो लक्ष्मीरतिशय। तथा दीप्तं भ्राजिष्णु रोचमानं तमर्जुनं स्वरा दिनकृतं रविं यथोपगायन्ति स्तुवन्ति तथेत्यर्थः। सोऽपि भगवान्जयिनमुदयं प्राभातिकमुदयामादाय महतीं धुरं सकलभुवनरक्षाकारित्वरूपं भारं शिरसा वोढुं बद्ध कक्ष्यो भवति। अत्रोदयः पर्वतारोहः अनवसादः सुकर्म सूद्योगः। तथा लोकान्तं जनः सत्यादीनामुपरिष्टात् कृतावस्थितिः। तथा तपोलक्ष्म्या तपः परिभावुकया श्रिया दीप्तं प्रविशेदित भद्रम् ॥47 ॥

इति श्रीनोनराजसूनुपण्डितभट्टजोनराजकृतायां किरातार्जुनीय-
टीकायामष्टादशःसर्गः ॥

॥समाप्तमिदं श्रीजोनराजकृतव्याख्यया समलङ्कृतं
भारविकृतं किरातार्जुनीयं नाम महाकाव्यम्॥

किरातार्जुनीयश्लोकानुक्रमकोशः

	स.	श्लो.		स.	श्लो.
अकृत्रिप्रेमरसाभिरामं	3	37	अथ दीर्घतमं तमः	13	30
अखण्डमाखण्डल	1	29	अथ परिमलजामवाप्य	10	1
अखिलमिदममुष्य	5	21	अथ भूतव्यभवदीश	12	19
अगूढहासस्फुटदन्त	8	36	अथ भूतानि वार्त्रघ्न	15	1
अग्रसानुषु नितान्त	9	7	अथ वासवस्य वचनेन	12	1
अचकमत सपल्लवां	10	49	अथ विहितविधेयैः	16	62
अचित्ततायामपि	17	47	अथवैष कृतज्ञयेव पूर्वं	13	5
अचिरेण परस्य	2	9	अथ शशधरमौलेरभ्य	18	46
अजन्मा पुरुषस्तावत	11	70	अथ स्फुरन्मीनविधूत	8	27
अजिह्ममोजिष्ठममोघ	14	57	अथ स्वमायाकृतमन्दिरो	8	1
अणीयसे विश्वविधा	18	41	अथ हिमशुचिभस्म	18	15
अणुरप्युपहन्ति	2	51	अथाग्रे हसता साचि	15	7
अतिपातितकाल	2	42	अथापदामुद्धरणक्षमेषु	17	1
अतिशयितवनान्तर	10	8	अथाभिपश्यन्निव	3	56
अतीतसंख्या विहिता	14	10	अथामर्षान्निसर्गाच्च	11	1
अत्यर्थं दुरुपसदादुपेत्य	7	9	अथोच्चकैरासनतः	2	57
अथ कृतकविलोभनं	10	17	अतो शरस्तेन मदर्थं	14	17
अथ क्षमामेव	1	44	अथोष्णभासेवसुमेरु	3	32
अथ चेदवधिः	2	16	अदीपितं वैद्युतजातवेदसा	4	29
अथ जयाय नु मेरुमही	5	1	अद्य क्रियाः कामदुघाः	3	6
अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा	13	20	अधरीचकार च विवेक	6	21

अधिगम्य गुह्यकगणादिति	6	38
अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिखैः	6	17
अनादरोपात्तधृतैक	14	36
अनाप्तपुण्योपचयै	3	5
अनामृशन्तः क्वचिदेव	17	33
अनायुधे सत्त्वजिघांसिते	14	16
अनारतं तेन पदेषु	1	15
अनारतं यौ मणिपीठ	1	40
अनिर्जयेन द्विषतां	11	71
अनुकूलपातिनमचण्ड	6	25
अनुकूलमस्य च विचिन्त्य	12	43
अनुचरेण धनाधिपतेरथो	5	16
अनुजगुरथ दिव्यं	3	60
अनुजानुमध्यमवसक्त	12	22
अनुद्धताकारतया	3	3
अनुपालयता मुदे	2	10
अनुभववता गुरु स्थिर	13	15
अनुशासतमित्यनाकुलं	2	54
अनुसानु पुष्पितलता	6	1
अनुहेमवप्रमरुणैः	6	8
अनेकराजन्यरथाश्च	1	16
अनेन योगेन विवृद्ध	3	28
अन्तकः पर्यवस्थाता	11	13
अन्तिकान्तिकगतेन्दु	9	21
अन्यदीयविशिखे न	13	46
अन्यदोषमिव स स्वकं	13	48
अन्योन्यरक्तमनसा	9	74
अपनेयमुदेतुमिच्छता	2	36
अपयन्धनुषः शिवान्तिक	13	23
अपरागसमीरणे	2	50
अपवर्जितविप्लवे	2	26
अपवादादभीतस्य	11	56
अपश्यद्भिरिवेशानं	15	2
अपहस्येऽथवा सद्भिः	11	68
अप्राकृतस्याहव	16	24
अभितस्तं पृथासूनुः	11	8
अभिद्रोहेण भूतानां	11	21
अभिनयमनसः	10	42
अभिभवति मनः कदम्ब	10	23
अभिभवोदितमन्यु	18	7
अभिमानधनस्य	2	19
अभिमानवतो	2	13
अभिमुनि सहसा	10	45
अभियोग इमान्	2	46
अभिरश्मिमालि विमलस्य	12	2
अभिलषत उपायं	17	64
अभिवर्षति योऽनु	2	31
अभूतमासज्य विरुद्धं	14	19
अभ्यघानिमुनिचापलात्	13	63
अभ्यायतः संततधूम	16	6
अमर्षिणा कृत्यमिव	14	63
अमी पृथस्तम्बभृतः	4	26
अमी समुद्भूतसरोज	4	35
अयथार्थक्रियारम्भैः	11	52

अयमच्युतश्च वचनेन	12	35
अयमसौ भगवानुत	18	9
अयमेव मृगव्यसत्रकाम	13	9
अयं वः क्लैब्यमापन्नान्,	15	19
अलकाधिपभृत्यदर्शितं	3	59
अलंकृतानामृजुता	17	29
अलङ्घ्यं तत्तदुद्वीक्ष्य	11	60
अलङ्घ्यत्वाज्जनैः	11	40
अलमेष विलोकितः	5	17
अलसपदमनोरमं प्रकृत्या	10	60
अवचयपरिभोगवन्ति	10	5
अवद्यन् पत्रिणः शंभोः	15	37
अवधूतपङ्कजपराग	6	3
अवधूयारिभिर्नीता	11	58
अवन्ध्यकोपस्य	1	33
अवरुग्णतुङ्गसुरदारु	6	5
अवलीढसनाभिरश्वसेनः	13	11
अवहितहृदयो विधाय	2	58
अवग्रिहस्याप्यतुलेन	18	33
अविज्ञातप्रबन्धस्य	11	43
अवितृप्तया तथापि	2	29
अविभावितनिष्क्रम	13	27
अविमृष्यमेतदभिलष्यति	6	44
अविरतोज्झितवारि	5	6
अविरलफलिनीवन	10	28
अविरलमलसेषु	10	43
अविलङ्घ्य विकर्षणं	3	57
अविवेकवृथाश्रमा	13	29
असकलनयनेक्षितानि	10	59
असक्तमाराधयतो	1	11
असमापितकृत्य	2	48
असावनास्थापरया	4	34
असिः शरा वर्म धनुश्च	14	20
असृङ्नदीनामुपचीय	16	10
असंविदानस्य ममेश	18	42
असंशयं न्यस्तमुपान्त	8	38
असंशयालेचितकार्य	3	33
असंहार्योत्साहं जयिन	18	47
अस्त्रवेदमधिगम्य तत्त्वतः	13	62
अस्त्रवेदविदयं मही	13	67
अस्त्रैः समानामति	17	34
अस्मिन्नगृह्यत पिनाक	5	33
असिमन्यशः पौरुष	16	9
अंशुपाणिभिरतीव	9	3
असंस्थलैः केचिद	16	30
असांववष्टब्धनतौ	16	21
आकारमाशंसितभूरि	3	27
आकीर्णं बलरजसा	7	36
आकीर्णा मुखनलिनैः	7	18
आकुमारमुपदेष्टुं	13	43
आकुलश्चलपतत्रि	9	8
आक्षिप्तचापावरणेषु	17	59
आक्षिप्तसंपातमपेत	16	41
आक्षिप्यमाणं रिपुभिः	3	50

आघट्टयामास गता	17	38
आघ्राय क्षणमतितृष्य	7	34
आतपे धृतिमता	9	30
आतिथेयीमथासाद्य	11	9
आत्मनीनमुपतिष्ठते	13	69
आत्मलाभपरिणाम	18	34
आदृता नखपदैः	9	49
आबाधामरणभया	18	39
आमत्तभ्रमरकुला	7	10
आमोदवासितचला	9	77
आयस्तः सुरसरिदोघ	7	32
आरोढुः समवनतस्य	7	33
आशंसितापचिति	6	46
आसुकान्तमभिसारित	9	38
आसक्तभरनीकाशै	11	5
आसक्ता धूरियं	11	77
आसन्नद्विपपदवीमदा	7	24
आसादिता तत्प्रथमं	16	27
आसुरे लोकवित्रास	15	28
आसेदुषां गोत्रभिदो	18	18
आस्तिक्यशुद्धमवतः	18	43
आस्थामालम्ब्य नीतेषु	15	4
आस्थितः स्थगित	9	9
आहिते नु मधुना	9	69
इच्छतां सह वधूभिः	9	13
इतरेतरानभिभवेन	6	34
इति कथयति तत्र	4	37
इति गां विधायविरतेषु	12	32
इति चालयन्नचलसानु	12	52
इति तानुदारमनुनीय	12	40
इति तेन विचिन्त्य चाप	13	14
इति दर्शितविक्रियं	2	25
इति निगदितवन्तं	18	44
इति ब्रुवाणेन महेन्द्र	3	30
इति विविधमुदासे	16	63
इति विषमितचक्षुषा	10	56
इति शासति सेनान्यां	15	29
इतीरयित्वा गिरमात्त	1	26
इतीरिताकूतमनील	14	24
इत्थं विहृत्य वनिताभिः	8	55
इत्युक्तवन्तं परिरभ्य	11	80
इत्युक्तवन्तं व्रज साधयेति	3	24
इत्युक्तवानुक्तिविशेष	3	10
इत्युक्त्वा सपदि हितं	5	51
इदमीदृग्गुणोपेतं	11	41
इमान्यमूनील्यपवर्जिते	8	20
इमामहं वेद न तावकीं	1	37
इयमिष्टगुणाय रोचतां	2	5
इयं च दुर्वारमहारथानां	16	17
इयं शिवाया नियते	4	21
इह दुरधिगमैः किंचिदेवा	5	18
इह वीतदयां स्तापोऽनुभावा	13	4
इह सनियमयोः सुराप	5	40
ईशार्थमम्भसि चिराय	5	29

उच्यतां स वचनीय	9	39
उज्झती शुचमिवाशु	9	18
उज्झत्सु संहार इव	16	16
उत्फुल्लस्थलनलिनी	5	39
उत्सङ्गे समविषमे समं	7	21
उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटा	7	30
उदस्य धैर्यं दयितेन	8	50
उदारकीर्तेरुदय	1	18
उदाहरणमाशी:षु	11	65
उदितोपलस्खलन	6	4
उदीरितां तामिति	3	55
उदूढवक्ष:स्थगितैक	14	31
उद्गतेन्दुमविभिन्न	9	24
उन्मज्जन्मकर इवा	17	63
उपकार इवासति	13	33
उपकारमाहते	2	43
उपजापसहान्विल	2	47
उपपत्तिरुदाहता	2	28
उपलभ्य चञ्चलतरङ्गं	6	14
उपलाहतोद्धततरङ्गं	6	10
उपाधत्त सपत्नेषु	11	50
उपारता: पश्चिमरात्रि	4	10
उपेयुषीणां बृहतीरधि	8	12
उपेयुषीं बिभ्रतमन्तक	14	38
उपैति सस्यं परिणाम	4	22
उपैत्यनन्तद्युतिरप्य	16	61
उपोढकल्याणफलो	17	54
उमापतिं पाण्डुसुत	17	12
उरसि शूलभृत: प्रहिता	18	5
उरु सत्त्वमाह विपरि	6	35
ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च	16	50
ऋषिवंशज: स यदि	6	36
एकतामिव गतस्य	9	12
एवं प्रतिद्वन्द्विषु तस्य	17	18
ओजसापि खलु नून	9	33
ओष्ठपल्लवविदंश	9	57
औषसातपभयादप	9	11
ककुदे वृषस्य कृत	12	20
कच्छान्ते सुरसरितो	12	54
कतिपयसहकारपुष्प	10	30
कथमिव तव संमति	10	36
कथं वाऽऽदीयतामर्वाङ्	11	76
कथाप्रसङ्गेन जनै:	1	24
कपोलसंश्लेषि विलो	4	9
करणशृङ्खलनि:सृतयो	18	11
करिष्यसे यत्र सुदुश्च	3	29
करुणमभिहितं त्रपा	10	58
करोति योऽशेषजनाति	3	51
करौ धुनाना नवपल्लवाकृती पयस्यगाधे	8	48
करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा	8	7
कलत्रभारेण विलोल	8	17
कवचं स बिभ्रदुपवती	12	9
कषणकम्पनिरस्तमहा	5	47

कान्तदूत्य इव कुङ्कुम	9	6	को न्विमं हरितुरङ्ग	13	50
कान्तवेश्म बहु संदिशति	9	37	कोऽपवाद: स्तुतिपदे	11	25
कान्तसंगमपराजित	9	52	क्रान्तानां ग्रहचरितात्	7	12
कान्ताजनं सुरतखेद	9	76	क्रामद्भिर्घनपदवीमनेक	5	34
कान्तानां कृतपुलक:	7	5	क्रियासु युक्तैर्नृप	1	4
किं गतने न हि युक्त	9	40	क्रोधान्धकारान्तरितो	17	9
किं त्यक्तापास्तदेवत्व	15	21	क्लान्तोऽपि त्रिदशवधू	7	29
किमपेक्ष्य फलं	2	21	क्व चिराय परिग्रह:	2	39
किमसामयिकं वित	2	40	क्षत्रियस्तनय: पाण्डो:	11	45
किमुपेक्षसे कथय	12	31	क्षययुक्तमपि स्वभावजं	2	11
किरातसैन्यादुरुचाप	14	45	क्षितिनभ:सुरलोक	5	3
कुप्यताशुभवतानत	9	53	क्षिपति योऽनुवनं	5	45
कुररीगण: कृतरवस्तरव:	5	25	क्षीणयावकरसोऽप्यति	9	62
कुरु तन्मतिमेव	2	22	क्षुभिताभिनि:सृत	12	45
कुरु तात तपांस्यमार्ग	13	13	क्षोभेण तेनाथ गणा	17	22
कुसुमनगवनान्युपैतु	10	31	खण्डिताशंसया तेषा	15	3
कुसुमितमवलम्ब्य	10	53	गणाधिपानामविधाय	14	54
कृतधृतिपरिवन्दिते	18	21	गतवति नखलेखा	9	78
कृतप्रणामस्य महीं	1	2	गतान्पशूनां सहजन्म	4	13
कृतं पुरुषशब्देन	11	72	गतै: परेषामविभाव	14	52
कृतवानन्यदेहेषु	11	26	गतै: सहावै: कलहंस	8	29
कृतानतिर्व्याहृतसा	3	31	गन्धमुद्धतरज:कण	9	31
कृतान्तदुर्वृत्त इवा	16	29	गभीरगम्भ्रेषु भृशं मही	14	46
कृतारिषड्वर्गजयेन	1	9	गम्यतामुपगते नयनानां	9	4
कृतावधानं जितबर्हि	4	33	गुणसंपदा समधिगम्य	5	24
कृतोर्मिरेखं शिथिलत्व	4	6	गुणानुरक्तामनुरक्त	1	31
कृष्णद्वैपायनादेशात्	11	46	गुणापवादेन तदन्य	14	12

गुरुक्रियारम्भफलै	14	42
गुरुस्थिराण्युत्तम	16	28
गुरुन्कुर्वन्ति ते वंश्यान्	11	64
गूढोऽपि वपुषा राजन्	11	6
ग्रसमानमिवौजांसि	11	73
ग्रहविमानगणानभितो	5	14
घनपोत्रविदीर्णशाल	13	3
घनं विदार्यार्जुन	15	50
घनानि कामं कुसुमानि	8	4
चञ्चलं वसु नितान्त	13	53
चतसृष्वपि ते विवेकिनी	2	6
चमरीगणैर्गणबलस्य	12	47
चयानिवाद्रीनिव	16	52
चलनेऽवनिश्चलति	12	28
चारचुञ्चुश्चिरारेची	15	38
चिचीषतां जन्मवतां	3	11
चित्तनिर्वृतिविधायि	9	71
चित्तवानसि कल्याणी	11	14
चित्रीयमाणानति	17	31
चिरनियमकृशोऽपि	10	14
चिरमपि कलितान्य	10	48
च्युते स तस्मिन्निषुधौ	17	37
छायां विनिर्धूय तमोमयीं	16	32
जगतीशरणे युक्तो	15	45
जगत्प्रसूतिर्जगदेक	4	32
जटानां कीर्णया केशै:	11	3
जनैरुपग्राममनिन्द्य	4	19
जन्मवेषतपसां विरोधिनीं	13	64
जन्मनोऽस्य स्थितिं	11	30
जपत: सदा जपमुपांशु	12	8
जयमत्रभवान्नूनं	11	18
जयारवक्ष्वेडितनाद	14	29
जयेन कच्चिद्विरमेदयं	14	62
जरतीमपि बिभ्राण	11	7
जलदजालघनैरसिता	5	48
जलौघसंमूर्च्छनमूर्च्छित	16	59
जहातु नैनं कथमर्थ	3	14
जहार चास्मादचिरेण	17	44
जहिहि कठिनतां	10	51
जहीहि कोपं दयितो	8	8
जिह्वाशतान्युल्लस	16	37
जीयन्तां दुर्जया देहे	11	32
जेतुमेव भवता	13	54
ज्वलतस्तव जात	2	24
ज्वलतोऽनलादनु	12	7
ज्वलितं न हिरण्य	2	20
तत उदग्र इव द्विरदे	18	1
तत: किरातस्य वचो	14	1
तत: किराताधिपते	16	1
तत: प्रजहे सममेव	15	44
तत: प्रयात्यस्तमदा	17	17
तत: शरच्चन्द्रकरा	3	1
तत: सकूजत्कलहंस	4	1
तत: सदर्पं प्रतनुं	14	35

तत: स संप्रेक्ष्य शरद्रुण	4	20
तत: सुपर्णव्रजपक्ष	16	44
ततस्तपोवीर्यसमुद्धतस्य	17	35
ततोऽनुपूर्वायतवृत्त	17	50
ततोऽववादेन पताकिनी	14	27
तत्तदीयविशिखा	13	57
तत्तदीयविशिखा	13	57
तत्तितिक्षितमिदं	13	68
तत्र कार्मुकभृतं	13	35
तावदाश्रीयते लक्ष्म्या	11	61
तथा न पूर्वं कृतभूषणा	8	41
तथापि जिह्म: स	1	8
तथापि निघ्नं नृप	3	12
तदनघ तनुरस्तु	10	50
तदभूरिवासरकृतं	6	29
तदलं प्रतिपक्ष	2	15
तदा रम्याण्यरम्याणि	11	28
तदाशु कर्तुं त्वयि	1	25
तदाशु कुर्वन्वचनं	3	54
तदुपेत्य विघ्नयत	6	43
तद्रणा ददृशुर्भीमं	15	35
तनुमवजितलोक	10	15
तनुवारभसो भास्वान्	15	23
तनूरलक्तारुणपाणि	8	5
तपनमण्डलदीपितमेक	5	2
तपसा कृशं वपुरुवाह	12	6
तपसा तथा न मुदमस्य	18	14
तपसा निपीडितकृश	12	39
तपोबलेनैष विधाय	14	60
तप्तानामुपदधिरे विषाण	7	13
तमतनुवनराजिश्यामितो	4	38
तमनतिशयनीयं सर्वत:	5	52
तमनिन्द्यबन्दिन इवेन्द्र	6	2
तमाशु चक्षु:श्रवसां	16	42
तमुदीरितारुणजटांशु	12	14
तरसा भुवनानि यो	18	37
तरसैव कोऽपि भुवनैक	12	26
तवोत्तरीयं करिचर्म	18	32
तस्याहवायासविलोल	17	8
तं शंभुराक्षिप्तमहेषु	17	43
तान्भूरिघाम्नश्चतुरोऽपि	3	35
तापसोऽपि विभुता	13	39
तामैक्षन्त क्षणं सभ्या	11	51
दुरासदवनज्यायान्	11	63
तिरोहितश्चभ्रनिकुञ्ज	14	33
तिरोहितान्तानि नितान्त	8	47
तिरोहितेन्दोरथ शंभु	16	31
तिष्ठतां तपसि पुण्य	13	44
तिष्ठद्भि:कथमपि	7	4
तीरान्तरेषु मिथुनानि	8	56
तुतोष पश्यन्कमलस्य	4	4
तुल्यरूपमसितोत्पल	9	61
तुषारलेखाकुलितो	3	36
तेज: समाश्रित्य परै:	17	3

तेन व्यातेनिरे भीमा	15	42	दूनास्तेऽरिबलादूना	15	31
तेन सूरिरुपकारिता	13	60	दृश्यतामयमनोकहा	13	70
तेनानिमित्तेन तथा	17	40	दृष्टापदनाद्व्यथतेऽरि	17	16
तेनानुजसहायेन	11	48	दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि	18	28
त्रयीमृतूनामनिला	14	48	देवाकानिनि कावादे	15	25
त्रासजिह्मं यतश्चैतान्	15	6	द्यां निरुन्धदतिनील	9	20
त्रि:सप्तकृत्वो जगती	3	18	द्युतिं वहन्ती वनिता	8	39
त्वमन्तक: स्थावरजङ्गमानां	18	35	द्युवियद्रामिनी तार	15	43
त्वया साधु समारम्भि	11	10	द्यौरुन्ननामेव दिश	16	35
त्विषां तति: पाटलिता	16	33	द्रुतपदमभियातुमिच्छतीनां	10	2
दक्षिणां प्रणतदक्षिण	18	27	द्वारि चक्षुरधिपाणि	9	43
ददृशेऽथ सविस्मयं	13	17	द्विरदानिव दिग्वि	2	23
दधत इव विलासशालि	5	32	द्विषत: परासिसिषु:	12	34
दधतमाकरिभि: करिभि:	5	7	द्विषतामुदय:	2	8
दधति क्षती: परिणत	6	7	द्विषता विहितं	2	17
दनुज: स्विदयंक्षपा	13	8	द्विषन्निमित्ता यांऽयं	1	41
दरीमुखैरासवराग	16	46	द्विषां विघाताय	1	3
दिङ्नागहस्ताकृतिमुद्वहद्भि:	16	38	द्विषां क्षतीर्या: प्रथमे	14	55
दिव: पृथिव्या: ककुभां	14	53	धनु: प्रबन्धध्वनितं	16	20
दिव्यस्त्रीणां सचरण	5	23	धर्मात्मजो धर्मानिबन्धि	3	34
देश: समूहन्निव	14	50	धार्तराष्ट्रै: सह पीति:	11	55
ीपयन्नथ नभ:	9	23	धार्ष्ट्यलङ्घितयथोचित	9	72
ीपितस्त्वमनुभाव	13	38	धूतानामभिमुखपातिभि:	7	3
रक्षान्दीव्यता राज्ञा	11	47	धृतबिसवलयावलि:	10	24
रादानानरीनुग्रान्	11	23	धृतबिसवलये निधाय	10	46
र्वं तदथ मा स्म	13	49	धृतहेतिरप्यधृतजिह्म	6	24
:शासनामर्षरजो	3	47	धृतोत्पलापीड इव	16	15

धरूर्यावसादेन हृतप्रसादा	3	38	नासुरोऽयंन वा नागो	15	12
धैर्येण विश्वास्यतया	3	34	निचयिनि लवली	10	29
ध्रुवं प्रणाश: प्रहितस्य	14	9	निजघ्निरे तस्य हरेषु	17	26
ध्वनिरगविवरेषु	10	4	निजेन नीतं विजितान्य	14	39
ध्वंसेत हृदयं सद्य:	11	57	निद्राविनोदितनितान्त	9	75
न ज्ञातं तात यत्नस्य	11	42	निपतितेऽधिशिरोध	18	6
न तेन सज्यं क्वचिदु	1	21	निपीयमानस्तबका	8	6
न ददाह भूरुहवनानि	12	16	निबद्धनि:श्वासविकम्पिता	4	15
न दलति निचये	10	39	निमीलदाकेकरलोल	8	53
ननु हो मथना राघो	15	20	निरङ्कने साचिविलोकितं	8	52
न नोननुन्नो नुन्नोनो	15	14	निरत्ययं साम न दान	1	12
न पपात संनिहित	12	4	निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्व	3	9
न प्रसादमुचितं गमिता	9	25	निरीक्ष्यमाणा इव	4	3
न मृग: खलु कोऽप्यसयं	13	6	निरीक्ष्य संरम्भनिरस्त	3	21
नयनादिव शूलिन:	13	22	निर्याय विद्याथ दिनादि	3	25
न रागिचेत: परमा	18	31	निवृत्तवृत्तोरुपयोधर	8	3
नवपल्लवाञ्जलिभृत:	6	26	निशम्य सिद्धिं द्विषतां	1	27
न वर्त्म कस्मैचिदपि	14	14	निशातरौद्रेषु विकासतां	14	30
नवविनिद्रजपाकुसुम	5	8	निशितासिरतोऽभीको	15	22
नवातपालोहितमाहितं	4	8	नि:शेषं प्रशमितरेणु	7	38
न विरोधिनी रुषमियाय	12	46	नि:शेषं शकलित	17	62
न विसिस्मिये न विषसाद	12	5	नि:श्वासधूमै: स्थगितांशु	16	39
न सुखं प्रार्थये नार्थं	11	66	निषण्णमापत्प्रतिकार	14	37
न स्रजो रुरुचिरे	9	35	निषादिसंनाहमणि	16	12
नानारत्न्योतिषां	5	36	निसर्गदुर्बोधमबोध	1	6
नान्तरज्ञा:श्रियो जातु	11	24	निहतेऽवलम्बित	12	38
नाभियोक्तुंमनृतं	13	58	निहितसरसयावकै:	10	3

नीतोच्छ्रयं मुहुरशिशिर	5	31
नीरन्ध्रे गमितवति	17	6
नीलनीरजनिमे हिम	9	19
नुनोद तस्य स्थलपद्मिनी	4	5
नूनमत्रभवत: शराकृतिं	13	45
नृपतिमुनिपरिग्रहेण	10	6
नृपसुतमभित:	10	44
न्यायनिर्णीतसारत्वात्	11	39
पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य	14	49
पतन्ति नास्मिन्विशदा:	6	23
पतितैरपेतजलदान्नभस:	6	27
पतिं नगानामिव	17	5
पथश्च्युतायां समितौ	3	15
पपात पूर्वां जहतो	4	18
परमास्त्रपरिग्रहोरु तेज:	13	26
परवानर्थसंसिद्धौ	11	33
परस्य भूयान्विवरे	16	23
पराहतध्वस्तशिखे	16	56
परिकीर्णमुद्यतभुजस्य	12	11
परिक्षते वक्षसि दन्ति	16	11
परिणामसुखे गरीयसि	2	4
परिणाहिना तुहिनराशि	12	23
परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदा	4	14
परिभ्रमैल्लोहित	1	4
परिमोहयमाणेन	15	36
परिवीतमंशुभिरुदस्त	12	18
परिसरविषयेषु लीढ	5	38
परिसुरपतिसूनुधाम	10	20
परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरव:	8	45
परीतमुक्षावजये	4	11
परोऽवजानाति यदज्ञता	14	23
पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य	17	42
पाणिपल्लवविधूनन	9	50
पातितोत्तुङ्गमाहात्म्यै:	15	11
पातुमाहितरतीन्यभि	9	51
पार्थबाणा: पशुपते	15	40
पुंस: पदं मध्यममुत्त	16	19
पुर:सरा धामवतां	1	43
पुराधिरूढ: शयनं	1	38
पुरोपनीतं नृप	1	39
पृथग्विधान्यस्त्रविराम	16	34
पृथुकदम्बकदम्बकराजितं	5	9
पृथुधाम्रतत्र परिबोधि	6	45
पृथूरुपर्यस्तबृहल्लता	14	34
प्रकृतमनुससार नाभि	10	41
प्रचलने चलितं	18	10
प्रणतिप्रवणान्विहाय	2	44
प्रणतिमथ विधाय	6	47
प्रणिधाय चित्तमथ	6	39
प्रणिधाय तत्र विधिना	6	19
प्रतप्तचामीकरभासुरेण	16	40
प्रतिक्रियायै विधुर:	17	41
प्रतिनतीभि: कृत	16	43
प्रतिदिशमभिगच्छता	10	21

प्रतिदिशं प्लवगाधिप	14	64
प्रतिबोधजृम्भणविभिन्न	6	12
प्रत्यार्द्रीकृततिलकास्तुषार	7	15
प्रत्याहतौजा: कृत	17	15
प्रनृत्तशववित्रस्त	15	26
प्रपित्सो: किं च ते मुक्तिं	11	16
प्रबभूव नालमवलोकयितुं	6	6
प्रभवति न तदा परो	10	35
प्रभव: खलु कोश	2	12
प्रमार्ष्टुमयश:पङ्क	11	67
प्रयच्छतोच्चै: कुसुमानि	8	14
प्रयुज्य समाचारितं	14	7
प्रलीनभूपालमपि	1	23
प्रववृतेऽथ महाहव	18	8
प्रवालभङ्गारुणपाणि	8	21
प्रविकर्षनिनादभिन्न	13	16
प्रविततशरजालच्छन्न	14	65
प्रविवेश गामिव	12	10
प्रवृत्तनक्तदिव	16	47
प्रवृद्धसिन्धूर्मिचय	16	60
प्रशान्तधर्माभिभव:	8	28
प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि	7	35
प्रसक्तदावानल	16	26
प्रसह्य योऽस्मासु परै:	3	44
प्रसादरम्यमोजस्वि	11	38
प्रसेदिवांसं न तमाप	17	23
प्रस्थानरमजनितां	7	31
प्रसिथताभिरधिनाथ	9	36
प्रहीयते कार्यवशा	16	22
प्राज्जलावपि जने	9	10
प्राप्तेऽभिमानव्यसनात्	3	45
प्राप्यते गुणवतापि	9	58
प्राप्यते यदिह दूर	18	25
प्रियेऽपरा यच्छति	8	15
प्रियेण संग्रथ्य विपक्ष	8	37
प्रियेण सिक्ता चरमं	8	54
प्रियेषु यै: पार्थ विनोप	3	52
प्रियै:सलीलं करवारि	8	49
प्रीते पिनाकिनि मया	11	81
प्रेरित: शशधरेण करौघ:	9	28
प्लुतमालतीसितकपाल	12	24
बदरीतपोवननिवास	12	33
बद्धकोपविकृतीरपि	9	34
बभार शून्याकृति	17	39
बलवदपि बलं मिथो	10	37
बलवानपि कोपजन्मन:	2	37
बलशालितया यथा तथा	13	12
बहुधा गतां जगति	42	
बहु बर्हिचन्द्रकनिभं	6	11
(बहुभिश्च बाहुभि:)	12	क्षेपक:
बहुश: कृतसत्कृतेर्विधातुं	13	10
बाणच्छिदस्ते विशिखा:	17	20
बिभरांबभूवुपरपवृत्त	12	49
बृहदुद्वहज्जलदनादि	12	42

भयंकर: प्राणभृतां	11	17
भयादिवाश्लिष्य झषाहते	8	46
भर्तृभि: प्रणयसंभ्रम	9	54
भर्तृषूपसखि निक्षिप	9	66
भवत: स्मरतां सदा	18	38
भवद्भिरधुनाराति	15	17
भवन्तमेतर्हि मनस्वि	1	32
भवन्ति ते सभ्यतमा	14	4
भवभीतये हतबृहत्तम	6	41
भवादृशेषु प्रमदा	1	28
भव्यो भवन्नपि मुने	5	49
भित्त्वेव भाभि: सवितु	16	51
भुजगराजसितेन	5	4
भूभर्तु: समधिकमादधे	7	27
भूय: समाधानविरुद्ध	17	7
भूरिप्रभावेण रणाभि	17	2
भूरेणुना रासभधूसरेण	16	7
भृशकुसुमशरेषु	10	61
भ्रूविलाससुभगाननु	9	56
मग्नां द्विषच्छ्यनि	3	39
मणिमयूखचयांशुक	5	5
मतिभेदतमस्तिरो	2	33
मतिमान्विनयप्रमाथि	2	52
मथिताम्भसो रयविकीर्ण	12	51
मदमानसमुद्धतं	2	49
मदसिक्तमुखैर्मृगा	2	18
मदस्तुतिश्यामित	16	2
मधुरैरवशानि	2	55
मध्यमोपलनिभे लसदंशा	9	2
मनसा जपै: प्रणतिभि:	6	22
मन:शिलभङ्गनिभेन	16	45
मनोरमं प्रापितमन्तरं	4	7
मन्दमस्यन्निषुलतां	15	13
मया मृगान्हन्तुरनेन	14	25
मरुत:शिवा नवतृणा	6	33
मरुतां पति: खिस्वि	12	15
महता मयूखनिचयेन	12	13
महते फलाय तदवेक्ष्य	6	28
महत्त्वयोगाय महा	3	23
महर्षभस्कन्धमनून	14	40
महानले भिन्नसिताभ्र	16	57
महारथानां प्रतिदन्त्य	16	14
महास्त्रदुर्गे शिथिल	16	36
महिषक्षतागुरुतमाल	12	50
महीभृता पक्षवतेव	16	13
महीभृतां सच्चरितै:	1	20
महेषुजलधौ शत्रो:	15	32
महौजसो मानधना:	1	19
मा गमन्मदविमूढ	9	70
मा गाश्चिरायैकचर:	3	53
मानिनीजनविलोचन	9	26
मा भूवन्नपथहृतस्तवे	5	50
माया स्विदेषा मति	16	18
मार्गणैरथ तव	13	59

मा विहासिष्ट समरं	15	8
माहेन्द्रं नगमभितः	7	20
मित्रमिष्टमुपकारि	13	51
मुकुलितमतिशय्य	10	27
मुक्तमूललघुरुज्झित	9	5
मुक्ताः स्वशक्त्या	18	29
मुखैरसौ विद्रुमभङ्ग	4	36
मुञ्चतीशेशराञ्जिष्णौ	15	34
मुदितमधुलिहो वितानी	18	20
मुनयस्ततोऽभिमुकख	12	25
मुनिदनुतनयान्विलोभ्य	10	16
मुनिमभिमुखतां	10	40
मुनिरस्मि निरागसः	13	7
मुनियपोऽनुरूपेण	11	2
मुनीषुदहनातप्तान्	15	30
मुनेर्विचित्रैरिषुभिः	17	59
मुहुरनुपतता विधूय	10	33
मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनी	16	53
मूलं दोषस्य हिंसादेः	11	20
मृगान्विनिघ्नन्मृगयुः	14	15
मृणालिनीनामनुरञ्जितं	4	27
मृदितकिसलयः सुराङ्गना	10	9
यच्छति प्रतिमुखं	9	14
यथा निजे वर्त्मनि	17	57
यथाप्रतिज्ञं द्विषतां	11	74
यथायथं ताः सहिता	8	2
यथास्वमाशंसित	14	43
यदवोचत वीक्ष्य	2	2
यदात्थ कामं भवता	14	18
यदा विगृह्णाति हतं	14	24
यदि प्रमाणीकृतमार्य	14	11
यदि मनसि शमः किमङ्ग	10	55
यमनियमकृशीकृत	10	10
यया समासादित	3	22
यशसेव तिरोदधन्मुहुः	3	58
यशोऽधिगन्तुं सुख	3	40
यष्टुमर्च्छसि पितृन्	13	65
यस्मिन्ननैश्वर्यकृत	3	19
यः करोति वधोदर्काः	11	19
यः करोति वधोदर्काः	11	19
यः सर्वेषामावरीता	18	40
या गम्याः सत्सहायानां	11	22
यातस्य ग्रथिततरङ्ग	7	16
युक्तः प्रमाद्यसि हिता	11	29
युयुत्सुनेव कवचं	11	15
येनापविद्धसलिलः	5	30
योगं चतं योग्यतमाय	3	26
योषितः पुलकरोधि	9	41
योषिदुद्धतमनोभव	9	68
रक्षोभिः सुरमनुजैः	18	36
रजनीषु राजतनस्य	12	12
रञ्जिता नु विविधा	9	15
रणाय जैत्रः प्रदिशन्निव	14	28
रथाङ्गसंक्रीडितमश्व	16	8

रम्या नवद्युतिरपैति	5	37
रयेण सा संनिदधे	17	52
रहितरत्नचयान्न शिलो	5	10
रागकान्तनयनेषु	9	63
राजद्भिः पथि मरुता	7	6
रात्रिरागमलिनानि	9	16
रामाणामवजितमाल्य	7	7
रिक्ते सविस्रम्भमथा	17	36
रुचिकरमपि नार्थ	10	62
रुचिरपल्लवपुष्पलता	5	19
रुचिराकृतिः कनकसानु	6	1
रुजन्महेषून्बहुधा	15	51
रुन्धती नयनवाक्य	9	67
लघुवृत्तितया भिदां	2	53
लभ्यमेकसुकृतेन	13	52
लभ्या धरित्री तव	3	17
लिलिक्षतीव क्षयकाल	16	54
लेखया विमलविद्रुम	9	22
लोकं विधात्रा विहितस्य	3	41
लोचनाधरकृता	9	60
लोलदृष्टि वदनं	9	47
वदनेन पुष्पितलतान्त	12	41
वनान्तशय्याकठिनी	1	36
वनाश्रयाः कस्य मृगाः	14	13
वनेऽवने वनसदां	15	10
वपुषा परमेण भूधरा	13	1
वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणो	14	22
वरं कृतध्वस्तगुणा	15	15
वरोरुभिर्वारणहस्त	8	22
वसूनि वाञ्छन्न वशी	1	13
वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य	11	69
वंशोचितत्वादभिमान	17	4
वाजिभूमिरिभराज	13	55
वाससां शिथिलतामुप	9	65
विकचवारिरुहं दधतं	5	13
विकसितकुसुमाधरं	10	32
विकार्मुकः कर्मसु शोच	17	53
विकाशमीयुर्जगतीश	15	52
विकोशनिर्दौततनो	17	45
विंगणय्यय कारणमनेक	6	37
विचकर्ष च संहितेषु	13	18
विचित्रया चित्रयतेव	16	3
विच्छिन्नभ्रविलायं	11	79
विजहीहि रणोत्साहं	11	31
विवशदंशुसंश्लेष	15	9
विजिगीषते यदि जगन्ति	12	30
विजित्य यः प्राज्य	1	35
विततशीकरराशिभिः	5	15
वितन्वतस्तस्यशरा	17	20
विदिताः प्रविश्य विहिता	6	30
विदूरपातेन भिदामुपेयुः	8	10
विधाय रक्षान्परितः	1	14
विधाय विध्वंसमानात्म	3	16
विधिसमयनियोगा	1	46

विधुरं किमत:परं	2	7	विशङ्कमानो भवत:	1	7
विधूतकेशा: परि	8	33	विशदभ्रूयुगच्छन्न	11	4
विधूनयन्ती गहनानि	14	47	विषमोऽपि विगाह्यते	2	3
विनम्रशालिप्रसवौघ	4	2	विसारिकाश्चीमणि	8	23
विनयं गुणा इव विवेक	12	17	विस्फार्यमाणस्य ततो	17	24
विनिर्यतीनां गुरुखेद	8	26	विस्मयृ क इव वा	13	40
विपक्षचित्तोन्मथना	8	34	विस्मित: सपदि तेन	18	13
विपत्रलेखा निरलक्तका	8	40	विहस्य पाणौ विधृते	8	51
विपदेतितावदवसाद	18	23	विहाय वाञ्छामुदिते	4	25
विपदोऽभिभवन्त्य	2	14	विहाय शान्तिं नृप	1	42
विपाण्डुभिर्म्लानतया	4	24	विहारभूमेरभिघोष	4	31
विपाण्डु संव्यानमिव	4	28	विहितां प्रियया	2	1
विफलीकृतयत्नस्य	15	46	वीक्ष्यरन्तुमनस:	9	1
विबोधितस्य ध्वनिना	17	46	वीतजन्मजरसं परं	5	22
विभिन्नुपर्यन्तगमीन	8	30	वीतप्रभावतनुरप्य	16	64
विभिन्नपातिताश्चीय	15	24	वीतौजस: संनिधि	3	49
विभेदमन्त: पदवी	17	27	वीर्यावदानेषु कृता	3	43
विमुक्तमाशंसित	14	51	वेत्रशाककुजे शैले	15	18
विमुच्यमानैरपि तस्य	4	12	व्यक्तोदितस्मितमयूख	2	59
विरचय्य काननविभाग	12	44	व्यथितमपि मृशं मनो	10	22
विरोधि सिद्धेरिति	14	8	व्यथितसिन्धुमनीरशनै:	5	11
विलङ्घ्य पत्रिणां पङ्क्ति	15	44	व्यधत्त यस्मिन्पुरमुच्च	5	35
विलम्बमानाकुलकेश	8	18	व्यपोहितुं लोचनतो	8	19
विवेरऽपि नैनमानिगूढ	12	37	व्यानशे शशधरेण	9	17
शक्तिरर्थपतिषु स्वयं	13	61	व्याहृत्य मरुतां पत्या	11	37
विविक्तवर्णाभरणा	14	3	व्रज जय रिपुलोकं	18	48
विविक्तेऽस्मिन्नगे	11	36	व्रजति शुचि पदं त्वयि	18	26

व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्र	13	21
व्रजन्ति ते मूढधिय:	1	30
व्रजाजिरेष्वम्बुदनाद	4	16
व्रणमुाच्युतशोणित	18	4
व्रीडानतैराप्तजनोप	3	42
शक्तिवैकल्यनम्रस्य	11	59
शङ्किताय कृतबाष्प	9	46
शतशो विशिखानवद्यते	15	48
शम्यन्धृतेन्द्रियशमैक	6	20
शरणं भवन्तमति	18	22
शरदम्बुधरच्छया	11	12
शरवृष्टिं विधूयोर्वीं	15	41
शरानवद्यन्ननवद्य	17	56
शशधर इव लोचनाभि:	10	11
शंभोर्धनुर्मण्डलत:	15	49
शाखावसक्तकमनीय	7	40
शान्तता विनययोगि	13	37
शारतां गमितया शशि	9	29
शिरसा हरिन्मणिनिभ:	6	23
शितध्वजिन्य: प्रतियोध	14	58
शिवप्रणुन्नेन शिलीमुखेन	17	58
शिवभुजाहतिभिन्न	18	3
शिवमौपयिकं गरी	2	35
शीधुपानविधुरासु	9	42
शीधुपानविधुरेषु	9	73
शुक्लैर्मयूखनिचयै:	5	42
शुचि भूषयति श्रुतं	2	32
शुचिरप्सु विद्रुमलता	6	13
शुचिवल्कवीततनुरन्य	6	31
शुभानना: साम्बुरुहेषु	8	42
शून्यामाकीर्णतामेति	11	27
श्वयोतन्मयूखेऽपि हिम	3	8
श्रद्धेया विप्रलब्धार:	11	35
श्रिय: कुरुणामधिपस्य	1	1
श्रियं विकर्षत्यपहन्त्य	3	7
श्रिया हसद्भि: कमलानि	8	44
श्रीमाद्भिर्नियमितकन्धरा	7	37
श्रीमद्भि: सरथगजै:	7	1
श्रीमल्लताभवनमोषधय:	5	28
श्रुतमप्यधिगम्य	2	41
श्रुतिसुखमुपवीणितं	10	38
श्रेयसीवत संप्राप्ता	11	11
श्रेयसोऽप्यस्य ते तात	11	44
श्लिष्यत: प्रियवधूरूप	9	27
श्वसनचलितपल्लवा	10	34
श्वस्त्वया मुखसंवित्ति:	11	34
स किंसखा साधुन	1	5
सक्तिं जवादपनयत्य	5	46
स क्षत्रियस्त्रासह:	3	48
स खण्डनंप्राप्य पराद	17	60
सखा स युक्त: कथित:	14	21
सखि दयितमिहानयेति	10	47
सखीजनं प्रेमगुरूकृता	8	11
सखीनिव प्रीतियुजो	1	10

स गत: क्षितिमुष्ण	13	31
सचकितमिव विस्मया	10	7
स जगाम विस्मयमुदीक्ष्य	6	15
सजलजलधरं नभो	10	19
सज्जनोऽसि विजहीहि	13	66
सज्यं धनुर्वहति यो	13	71
स ततार सैकतवतोरभित:	6	16
स तदोजसा विजित	12	29
स तमालनिमे रिपौ	13	24
स तमाससाद घननील	12	53
सदृशमतनुमाकृते:	10	13
सद्मनां विरचनाहित	9	34
सद्वादितेवाभिनिविष्ट	17	11
स धनुर्महेषुधि	12	27
सध्वानं निपतितनिर्झरासु	7	22
सनाकवनितं नितम्ब	5	27
सपदि प्रियरूपपवरेख:	13	25
सपदि हरिसखैर्वधू	10	18
स पिङ्गाक्ष: श्रीमान्	18	45
स पिशङ्गजटावलि:	15	47
स पुमानर्थवज्जन्मा	11	62
स प्रध्वनय्याम्बुदनादि	17	10
स प्रयुज्य तनये	13	36
स बभार रणापेतां	15	33
स बिभर्ति भीषण	6	32
स भवस्य भवक्षयैक	13	19
स भोगिसंघ: शम:	16	48
समदशिखिरुतानि	10	25
स मन्थरावल्गित	4	17
समवृत्तिरुपैति	2	38
समस्य संपादयता	14	6
समानकान्तीनि तुषार	8	25
समुच्छ्वसत्पङ्कजकोश	8	24
समुज्झिता यावदराति	14	56
समुन्नतै: काशदुकूल	8	9
समुल्लसत्प्रासमहोर्मि	16	4
स यौवराज्ये नव	1	22
सरजसूमपहाय	10	26
सरभसमवलम्ब्य	10	54
सरोजपत्रे परिलीन	8	35
सललितचलित	10	52
सलीलमासक्तलता	8	16
सलेशमुल्लिङ्गितशात्रवे	14	2
स वंशस्यावदातस्य	11	75
सविनयमपराभिसृत्य	10	57
सवृषध्वजसायकावभिन्नं	13	28
सव्यलीकमवधीरित	9	45
सव्यासपसव्यध्वनितो	17	25
सव्रीडान्दैरिव	3	46
ससत्त्वरतिदे नित्यं	15	27
स संप्रधार्यैवमहाय	16	25
स सायकान्साध्वस	17	21
स सासि: सासुसू:	15	5

ससुरचापमनेकमणि	5	12	सितच्छदानामपदिश्य	4	30
सहशरधि निजं तथा	18	16	सितवाजिने निजगदू	6	9
सहसा विदधीत	2	30	सिन्दूरैः कृतरुचयः	7	8
सहसोपगतः स	2	56	सिषिचुरवनिमम्बुवाहाः	18	17
संक्रान्तचन्दनरसा	8	57	सुकुमारमेकमणु मर्म	6	40
संततं निशमयन्त	13	47	सुखेन लभ्या ददतः	1	17
संनिबद्धमपहर्तु	18	30	सुगेषु दुर्गेषु च तुल्य	14	32
संनिबद्धमपहर्तु	18	30	सुता न यूयं किमु	3	13
संपश्यतामिति	15	53	सुरकृत्यमेतदवगम्य	12	36
संप्रति लब्धजन्म	5	43	सुरसरिति परं तपो	10	12
संप्रीयमाणोऽनुबभूव	17	13	सुलभैः सदा नयवता	5	20
संभिन्नामविरलपातिभि	7	23	सुहृदःसहजा	2	45
संभिन्नैरिभतुरगावगाह	7	11	सुजन्तमाजाविषु	3	20
संभोगक्षमगहनामथो	7	26	सेतुत्वं दधति पयोमुतिं	7	19
संमूर्च्छतां रजतभित्ति	5	८।	सोढवान्नो दशामन्त्यां	7	19
संरम्भवेगोज्झित	17	49	सोढवान्नो दशामन्त्यां	11	53
संवाता मुहुरनिलेन	7	14	सोढवगीतप्रथमा	17	28
संविधातुमभिषेक	9	32	सोत्कण्ठैरमरगणै	7	2
संसिद्धाविधिकरणीय	7	17	स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेय	14	5
संशीलन्ते दानशीला	18	24	स्थितमुन्नते तुहिन	12	21
संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु	17	6	स्थितं विशुद्धे नभसीव	17	48
साचि लोचनयुगं	9	44	स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि	11	54
सादृश्यं दधति गभीर	7	39	स्नपितनवलतातरु	5	44
साफल्यमस्त्रे रिपु	16	49	स्पृहणीयगुणैर्महा	2	34
सामोदाः कुसुमतरु	7	28	स्फुटता न पदैरपा	2	27
साम्यं गतेनाशनिना	17	51	स्फुटपौरुषमापपात	13	32
सावलेपमुपलिप्सिते	13	56	स्फुटबद्धसटोन्नति	13	2

स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकं	15	39
स्मर्यते तनुभृतां सनातनं	13	42
स्यन्दना नो चतुरगा:	15	16
स्वगोचरे सत्यपि चित्त	8	13
स्वधर्ममनुरुन्धन्ते	11	78
स्वयं संराध्यैवं शतमख	10	63
स्वादित: स्वयमथैधित	9	55
हताहतेत्युद्धतभीम	16	5
हरपृथासुतयो	18	2
हरसैनिका: प्रतिभये	12	48
हरिन्मणिश्याममुदग्र	14	41
हंसा बृहन्त: सुरसद्म	18	19
हृता गुणैरस्य भयेन	14	61
हृत्तोत्तरीयान् प्रसभं	11	49
हृदाम्भसि व्यस्तवधू	8	43
ह्रीतया गलितनीवि	9	48
ह्रेपयन्नहिमतेजसं	13	41

National Mission for Manuscripts
New Delhi